काव्य के रूप

[संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण]

लेखक

गुलाबराय, एम. ए.
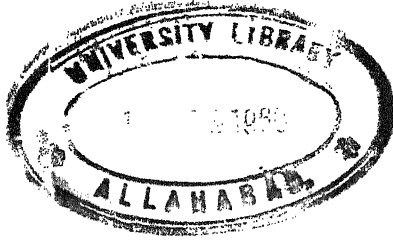
१९५८

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

लेखक की अन्य रचनाएँ

सिद्धान्त और अध्ययन	५.००
हिन्दी-काव्य-विमर्श	४.००
अध्ययन और आस्वाद	७.५०
साहित्य-समीक्षा	२.००
मन की बातें	३.५०

प्रकाशक
भगवतीदेवी गुप्ता
प्रतिभा प्रकाशन
२०६, हैदरकुली
दिल्ली

चतुर्थ संस्करण, १९५८

मुद्रक
मूवीज़ प्रेस
चावड़ी बाज़ार
दिल्ली-६

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

सहृदय पाठकों की उदारता और गुण-ग्राहकता के कारण यह पुस्तक चौथा संस्करण देख रही है। इस पुस्तक की लोकप्रियता जितनी बढ़ रही है उसी अनुपात में इसको अधिकाधिक पूर्णता देने का मेरा उत्तरदायित्व बनता जाता है। इसी उत्तरदायित्व को निभाने के लिए इसमें कुछ संशोधन और परिवर्तन करना पड़ा। हिन्दी-साहित्य के नित्य वर्द्धमान रूप के साथ आलोचना को कदम मिलाये चलना एक कठिन कार्य हो जाता है, फिर भी यथासम्भव विभिन्न विधाओं के विकास-क्रम के विवरण को अद्यतन बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। विकास-क्रम देने में नामों की अपेक्षा प्रवृत्तियों का ध्यान रखा गया है। इस पुस्तक में जो उद्धरण बिला अते-पते के थे उनका यथासम्भव अता-पता दे दिया है जिससे कि पाठक मूल पुस्तकों को पढ़कर अपनी जानकारी बढ़ा सकें। पाठकों ने जिस उदारता से पिछले संस्करणों को अपनाया है। उसी उदारता से वे इस संस्करण को अपनायेंगे। यदि विद्यार्थीगण अपने पाठ्य-साहित्य का इस पुस्तक में बतलाये हुए सिद्धान्तों के आलोक में अध्ययन करेंगे तो मैं अपने परिश्रम को धन्य समझूँगा।

चैत्र शुक्ला १५, संवत् २०१४। विनीत

गुलाबराय

प्रथम संस्करण की भूमिका

निज कवित्त किहि लाग न नीका
सरस होउ अथवा अति फीका

अपनी साठवीं वर्ष-गाँठ के अवसर पर अपने प्रिय पाठकों के समक्ष 'काव्य के रूप' नाम से 'सिद्धान्त और अध्ययन' के द्वितीय भाग को एक 'अमूल्य' नहीं वरन् समूल्य भेंट के रूप में उपस्थित करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है, स्यात उतनी ही जितनी कि एक दुस्साहसी मनुष्य को अपने साहस के विषय की अनायास पूर्ति में हो सकती है। अपनी 'अल्पविषया मतिः' और उससे अधिक स्वल्पतर एवं सीमित ज्ञान और अध्ययन के उडुप के घड़े और बाँसों के सहारे पोत के सहारे आलोचना-महासागर के पार जाने की इच्छा करना दुस्साहस नहीं तो क्या ! 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' की

उक्ति को मैं कवि-कुल कालिदास की अपेक्षा कुछ अधिक सत्य और सार्थकता के साथ कह सकता हूँ। इस पुस्तक की मूल प्रेरणा देने का श्रेय श्री चिरंजीलाल 'एकाकी' को है जिनके समय-समय पर दिये हुए सुझाव इसमें पूर्णता लाने में सहायक हुए हैं।

हिन्दी में आलोचना-शास्त्र के भगीरथ होने का श्रेय डाक्टर श्यामसुन्दर दास जी को है। उनके ही वाग्द्वार से मैंने भी इस शास्त्र में प्रवेश किया है किन्तु उनके साहित्या-लोचन के बाद सहित्य-गंगा में बहुत जल प्रवाहित हो चुका है। मैंने हिन्दी-साहित्य के विभिन्न विस्तारोन्मुख अंगों की रूपरेखा और शिल्प विधान के साथ हिन्दी तथा अंग्रेजी साहित्य में विकास-क्रम के दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। अब तो काव्य की प्राचीन परिभाषाओं में भी हेर-फेर करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। नाटकों को नई रूपरेखा मिली है। आजकल के महाकाव्यों में घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विचारों और भावों का अधिक विस्तार रहता है। प्रबन्ध काव्यों में भी गीतलहरी प्रवाहित होती दिखाई देती है। काव्य-शास्त्र को भी साहित्य की गति के साथ आगे बढ़ना होगा। विद्वान् लोगों के सहयोग से यह कार्य सम्भव हो सकता है।

गोमती निवास
दिल्ली दरवाजा, आगरा
माघ शुक्ला ४, संवत् २००४।

विनीत
गुलाबराय

विषयानुक्रम

१. साहित्य का स्वरूप (पृ० १-१४)

२. काव्य की परिभाषा और विभाग (पृ० १५-२१)

३. दृश्य काव्य-विवेचन (पृ० २२-८३)

४. श्रव्य-काव्य (पृ० ८४-११२)

पद्य

५. श्रव्य-काव्य (पृ० ११३-१५५)

पद्य

६. श्रव्य-काव्य (पृ० १५६-१९९)

गद्य

७. श्रव्य-काव्य (पृ० २००-२१८)

गद्य

८. श्रव्य-काव्य—अन्य विधाएँ (पृ० २१९-२५९)

काव्य के रूप

१

साहित्य का स्वरूप

साहित्य का उदय

इस संसार में जन्म लेते ही शिशु रोने लगता है। यह उसकी संसार के प्रति पहली प्रतिक्रिया है। वह स्तन्यपान करता है और धीरे-धीरे अपनी माता को पहचानने लगता है। उसकी गोद में उसे सुख मिलता है। चारपाई पर लिटा देने से वह रोने लगता है। रोना, हाथ-पैर फेंकना या मुस्कराना उसके सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ हैं।

संसार और हम

संसार के प्रति हमारी कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया होती है। पहले हमको उसका ज्ञान होता है फिर उसके प्रति हमारा आकर्षण या विकर्षण होता है। हम विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने का यत्न करते हैं। हम किसी सुरम्य उपवन में पहुँच जाते हैं। शुभ्र हास्यमयी सद्य विकसित कलिकाओं के सौरभमय सौन्दर्य का नेत्र और नासिका द्वारा हमें ज्ञान होता है। उस ज्ञान के साथ ही हमारा मन आन्दोलित होने लगता है। हम कहने लगते हैं—'कैसा सुरम्य दृश्य है! इच्छा होती है यहीं बैठे रहें।'—और सामने पड़ी बैंच पर हम गुनगुनाने लगते हैं।

उपर्युक्त अनुभव में हमको तीन प्रकार की मनोवृत्तियों का परिचय मिलता है। हमको ज्ञान मिलता है। ज्ञान के साथ हमारे भाव लगे होते हैं, जैसे—मित्र को देखकर प्रसन्न होना, शत्रु या अत्याचारी को देखकर दुःखी होना या किसी अद्भुत बात को देखकर आश्चर्यान्वित होना। हमारे भाव हमारे मस्तिष्क की चहारदिवारी में बन्द नहीं रहते हैं। हम भावों के अनुकूल क्रिया करने लग जाते हैं। मित्र को देखकर उसके स्वागत को उठ खड़े होते हैं। शत्रु को देखकर उससे दूर भागने अथवा उसे दूर भगाने की कोशिश करते हैं। इन मनोवृत्तियों को ज्ञान, भावना और संकल्प (जो क्रिया का मूल है) कहते हैं। ये तीनों मनोवृत्तियाँ कबूतरखाने की भाँति अलग-अलग कक्षों में नहीं रहती हैं। जिसकी जिस समय प्रधानता होती है उसी के अनुकूल उसका

आधारभूत मनोवृत्तियाँ

नाम रख लिया जाता है। ये रहतीं तो हमारे मन में हैं किन्तु बाह्य संसार के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में जाग्रत होती हैं। यद्यपि हमारा ज्ञान भी अभिव्यक्ति चाहता है और उसका भी परिणाम किसी प्रकार की क्रिया में होता है तथापि भावों में शाब्दिक अभिव्यक्ति और क्रिया की जितनी प्रबल प्रेरणा रहती है उतनी और किसी में नहीं। वास्तव में हमारी भावनाएँ ज्ञान को एक प्रकार का रंगत देकर हमको क्रिया के लिए प्रेरणा देती हैं। इसलिए हमारे यहाँ के विश्लेषण में इन्हें ज्ञान, इच्छा और क्रिया नाम दिया गया है। इच्छा में भावना और क्रिया का मिश्रण रहता है। इच्छा के बाद ही संकल्प आता है, इसमें क्रिया की ओर अधिक प्रवृत्ति होती है। ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग का मार्ग ज्ञान, भावना और संकल्प की मनोवृत्तियों पर आश्रित है। अतः साहित्यिक व्याख्या के लिए हम ज्ञान, भावना और संकल्प के ही विभाजन को मुख्यता देंगे।

इन मनोवृत्तियों के साथ हमारी कुछ प्रवृत्तियाँ भी हैं, भय के समय भागने की प्रवृत्ति, क्रोध में लड़ने की प्रवृत्ति। इसी प्रकार हम में एक आत्माभिव्यक्ति की भी प्रवृत्ति है अर्थात् हम अपने भावों को प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते। हम सिनेमा देखकर आते हैं उसकी तारीफ या बुराई करने की हमारी प्रबल इच्छा होती है, यही आत्माभिव्यक्ति है। हर्ष से हम हँसने, गाने और नाचने लगते हैं। विषाद में सिर नीचा करके पड़ जाते हैं और रोने भी लगते हैं। यही अभिव्यक्ति (अभि=अच्छी तरह, व्यक्ति=प्रकट करना) है। क्रिया भी एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। यदि हम किसी को पीटते हैं तो हमारे क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इन अभिव्यक्तियों में जो शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है उसका विशेष महत्त्व है, कारण उसका अधिक स्थायित्व है और उसमें समाजिकता भी अधिक है। मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति में ही उसकी समाजिकता का मूल है। साहित्य में भी इसी अभिव्यक्ति की प्रधानता है।

आत्माभिव्यक्ति और साहित्य

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी-न-किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति भी इस परिभाषा को पुष्ट करती है। साहित्य शब्द का अर्थ है सहित होने का भाव—**'साहित्यस्य भाव : साहित्यं'**। अब प्रश्न होता है कि 'सहित' शब्द का क्या अर्थ है ? सहित शब्द के दो अर्थ हैं—(१) सह अर्थात् साथ होना और (२) **'हितेन सह सहितं'** अर्थात् हित के साथ होना अथवा जिससे हित-सम्पादन हो। सह (साथ) होने के भाव को प्रधानता देते हुए हम

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति

कहेंगे कि जहाँ शब्द और अर्थ, विचार और भाव का, परस्परानुकूलता के साथ सहभाव हो वही साहित्य है। शब्द और अर्थ का सहित होना स्वाभाविक रूप से ही माना गया है। कविकुल चूड़ामणि कालिदास ने अपने रघुवंश के मंगलाचरण में शब्द और अर्थ के संयोग को अपने इष्ट और उपास्य पार्वती-परमेश्वर के संयोग का उपमान माना है।[1] गोस्वामी जी ने भी अपनी वाणी और अर्थ का सम्बन्ध जल और उसकी तरंग की भाँति एक दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनों ही माना है—

'गिरा अर्थ, जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौ सीता राम पद, जिन्हें सदा प्रिय खिन्न॥

—रामचरितमानस (बालकाण्ड)

इस प्रकार सहभाव में ही साहित्य का भाव लगा हुआ है।

साहित्य का अर्थ 'हितेन सह सहितं' लगाते हुए हम कहेंगे कि साहित्य वही है जिससे मानव-हित का सम्पादन हो। हित उसे ही कहते हैं जिससे कुछ बने, कुछ लाभ हो—**'विदधातीति हितम्'**—आनन्द भी एक लाभ है। रुपये-आने-पाई का ही लाभ नहीं है। विधाता में भी हित का भाव है। हमारी परिभाषा में सहित होने का और हित होने का भाव है। अंग्रेजी शब्द लिट्रेचर (Literature) अक्षरों (Letters) से बना है। अक्षरों का जितना विस्तार है वह सब लिट्रेचर है। अरबी में साहित्य को 'अदब' कहते हैं। 'अदब' का अर्थ है आदर-शिष्टता। साहित्य शिष्टतापूर्ण होने के कारण ही 'अदब' कहलाता है।

साहित्य शब्द के इन अर्थों पर विचार करने से हम इस धारणा पर पहुँचे हैं कि उसके व्यापक और संकुचित दोनों ही अर्थ होते हैं। व्यापक अर्थ में साहित्य सारे

व्यापक और संकुचित अर्थ

वाङ्मय का पर्याय है। जितना शब्द-भण्डार और वाणी का विस्तार है सब इसके अन्तर्गत आ जाता है। पञ्चाङ्ग, त्रिकोणमिति, बीमा कम्पनी का प्रोस्पेक्टस और दवाइयों के विज्ञापन से लगाकर रघुवंश, मेघदूत, तुलसीकृत रामायण, साकेत, कामायनी, गोदान, चिन्तामणि आदि सभी गद्य-पद्यात्मक पुस्तकें आ जाती हैं। प्रायः लोग कहते हैं—दार्शनिक साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य। बीमा कम्पनी और दवाइयों के एजेन्ट भी कहते सुने जाते हैं—इसमें यदि आपकी अभिरुचि हो तो इसके सम्बन्ध का कुछ 'लिट्रेचर' या साहित्य हम आपकी सेवा में भेज दें।

---

१. **वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ —रघुवंश (१।१)

साहित्य अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में काव्य का पर्याय बन जाता है। साहित्य और विज्ञान में जो भेद किया जाता है वह इसी रूढ़ अर्थ के आधार पर। साहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ पर आश्रित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है। व्यापक अर्थ में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना-मात्र का वाचक है जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो और अपने रूढ़ अर्थ में काव्य वा भावना-प्रधान साहित्य का पर्याय है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में साहित्य के दो विभाग हो जाते हैं—एक काव्य और दूसरा शास्त्र। काव्य रसात्मक होता है, और शास्त्र ज्ञान-प्रधान—**'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।'** डीक्विंसी (De Quincy) ने भी ऐसा ही विभाग किया है—Literature of Knowledge (यह अपने यहाँ का शास्त्र है) और Literature of Power (यह अपने यहाँ का काव्य है)। पहले का उद्देश्य सिखाना है, दूसरे का उद्देश्य प्रभावित करना है—"The function of the first is to teach; the function of the second is to move."[1]

साहित्य मौखिक और लिखित दोनों ही रूप में हो सकता है। आरम्भकाल में साहित्य मौखिक ही रहा होगा और इसके बाद में वह लिखित रूप में आया। आदिम मनुष्य प्राकृतिक दृश्यों से भयभीत होकर अनिष्ट-निवारणार्थ ईश्वर, देवताओं या प्राकृतिक शक्तियों से प्रार्थना करता होगा और उसी ने साहित्य का रूप धारण कर लिया होगा।

प्रारम्भिक साहित्य

भाषा की उत्पत्ति भी आत्माभिव्यक्ति के रूप में हुई होगी। आदिम मनुष्य ने अपने आकर्षण और विकर्षण को वस्तुओं के सम्बन्ध में क्रियात्मक अभिव्यक्ति के साथ कुछ शाब्दिक अभिव्यक्ति भी की होगी, वह चाहे कितनी ही अस्पष्ट क्यों न हो। धीरे-धीरे वह अभिव्यक्ति निश्चित होती गई और भाषा का रूप धारण करती गई। किन्तु मनुष्य की सभी अभिव्यक्तियाँ संरक्षणीय नहीं होतीं, जो संरक्षणीय होती हैं वे ही सहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। वे ही अभिव्यक्तियाँ संरक्षणीय होती हैं जिन के द्वारा मानव-समाज का हित हो अथवा जो मनुष्य के आनन्द का कारण बन सकें। जहाँ हित और मनोहरता दोनों आ जायँ वहीं सत्साहित्य की सृष्टि हो जाती है—'हित मनोहारि च दुर्लभं वचः' (किरातार्जुनीय)—साहित्य इसी दुर्लभ को सुलभ बनाता है।

भाषा मनुष्य की समाजिकता को विशेष रूप से पुष्ट करती है। उसी के द्वारा मनुष्य-समाज में सहकारिता उत्पन्न होती है और वह मनुष्य को उन्नत बनाती है।

---

१. The Scot James की Making of Literature नाम की पुस्तक के पृष्ठ २२ के उद्धरण से उद्धृत।

साहित्य मनुष्य-जाति के सामाजिक सम्बन्धों को और भी दृढ़ बनाता है क्योंकि उसमें मनुष्य जाति का सम्मिलित हित रहता है। सम्मिलित हित और आनन्द-दायिनी शक्ति के कारण ही साहित्य संरक्षणीय बनता है। साधारण भाषा की अपेक्षा साहित्य की भाषा कुछ अधिक प्रभावशालिनी होती है और वह लेखक और कवि के भावों को समाज में प्रसारित करने में अधिक समर्थ होती है। लेखक या कवि अपने पाठक या श्रोता को अपने भावों का साझेदार बनाकर उसको भी अपने समान भाव-विभोर या विचार-मग्न करने का प्रयत्न करता है किन्तु लेखक और कवि के भाव और विचार सब उसके ही नहीं होते, वह प्रायः समाज का प्रतिनिधि होता है। उसके द्वारा सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है। हमारी जीवन-धारा की आनन्दमयी अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है।

साहित्य और समाज

कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद्य मिल जाता है वैसी ही उसकी कृति होती है। जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक-यंत्र (Receiver) आकाश-मण्डल में विचरती हुई विद्युत-तरंगों को पकड़कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि या लेखक अपने समय के वायु-मण्डल में घूमते हुए विचारों को पकड़कर मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिस को सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव-शक्ति औरों से बढ़ी-चढ़ी होती है। जहाँ उसको किसी बात की क्षीण से-क्षीण रेखा दिखाई पड़ी वह उसके आधार पर पूरा चित्र खींच लेता है। प्रायः उसका चित्र ठीक उतरता है।

समाज का साहित्य पर प्रभाव

कवि या लेखकगण अपने समाज के मस्तिष्क और मुख दोनों होते हैं। कवि की पुकार समाज की पुकार होती है, वह समाज के भावों को अपनी वाणी का बल ही नहीं देता वरन् कभी-कभी उन्हें नई दिशा भी देता है। कवि समाज के भावों को व्यक्त कर सजीव और शक्तिशाली बना देता है। कवि की बनाई हुई सामाजिक भावों की आदर्श-मूर्त्ति समाज की उन्नायिका बन जाती है। इस प्रकार कवि और लेखकगण समाज के उन्नायक और इतिहास के विधायक अवश्य होते हैं, किन्तु उनकी भाषा में हमको समाज के भावों की झलक मिलती रहती है। कवि द्वारा हम समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं। केवल इतना ही नहीं वरन् हमको उन परिस्थितियों का पता लग जाता है जो समाज को प्रभावित कर वायुमण्डल में एक नई लहर उत्पन्न कर देती हैं। समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप कवियों और लेखकों के विचार ही संगृहीत हो साहित्य

बनाते हैं ।

प्रत्येक जाति के साहित्य का एक व्यक्तित्व होता है । यद्यपि मानव-हृदय एक-सा ही है तथापि प्रत्येक जाति के साहित्य की अपनी विशेषता होती है । केवल इतना ही नहीं वरन् एक जाति के ही साहित्य में उसके विकास के अनुकूल समय-समय पर अन्तर पड़ता रहता है । जो त्याग और आत्मा का विस्तार हम उपनिषदों में पाते हैं वह हम अन्य जातियों के धार्मिक साहित्य में नहीं देखते । भारत के स्वच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल, ज्योत्स्नामय तपोवनों ने भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किये थे उनकी झलक हमको उपनिषद् साहित्य में ही मिलती है । परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, राज्यों की उलट-पुलट और विचारों के संघर्ष के कारण वे भाव दब जाते हैं किन्तु समय पाकर फिर उदय हो जाते हैं ।

मुसलमानी साहित्य में नाटकों का अभाव उनके मूर्ति-पूजा-विरोधी विचारों का ही फल है । उनके विचारों में भाग्यवाद अवश्य है किन्तु कर्मवाद नहीं (हिन्दुओं में कर्म ही भाग्य के विधायक माने जाते हैं, मुसलमानों में ईश्वर की मर्जी ही प्रधान मानी गई है) । सम्मिलित परिवार का जैसा चित्र हिन्दू साहित्य में मिलता है वैसा और कहीं नहीं । शेक्सपियर लाख कोशिश करने पर भी रामचरितमानस की कल्पना नहीं कर सकते थे । इसी प्रकार तुलसीदास जी मिल्टन (Milton) के 'पैरेडाईज़ लौस्ट' (Paradise Lost) को विचार में भी नहीं ला सकते थे क्योंकि 'पैरेडाईज़ लौस्ट' में ईश्वर के विरुद्ध शैतान की बगावत का वर्णन है । पहले तो हिन्दू साहित्य में ईश्वर की कोई प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति है ही नहीं, फिर तुलसीदास जैसे मर्यादावादी अधिकारों के मानने वाले इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे । हिन्दुओं में देवता और दानवों का विरोध रहा है किन्तु न वह शैतान की तरह स्वर्ग में रहता था और न उसका शैतान-का-सा व्यापक प्रभाव था । मिल्टन ने जिस समय यह ग्रन्थ लिखा उस समय इंगलैंड में अधिकारों के खिलाफ़ आवाज़ उठ रही थी । हमारे यहाँ राजाओं के विरोध में राजा वेणु की कथा अवश्य है किन्तु वह बड़ा अत्याचारी था । हिन्दू लोग स्वभाव से अधिकारों के माननेवाले होते हैं ।

हिन्दू जाति में त्याग और अहिंसा के भावों का प्राधान्य रहा है इसीलिए यहाँ के साहित्य में मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र, त्यागी बुद्धदेव, सत्यपरायण हरिश्चन्द्र, परोपकारी शिवि और दधीचि के वर्णनों का प्राधान्य रहता है। उर्दू-कवियों के प्रेम-वर्णन में जितना सीख और कवाब का हत्याकाण्ड है उतना हिन्दी-कवियों में नहीं। भारतवर्ष में घी-दूध का बहुत आदर रहा है । यहाँ के देहात्मवादी चार्वाक भी **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** ही कहते है **'सुरां पिबेत्'** नहीं कहते ।

पूर्वी देशों में पश्चिम की अपेक्षा अलंकारप्रियता अधिक है। जिस तरह भारतीय

नारियाँ आभूषणों को पसन्द करती आई हैं वैसे ही कविगण भी कविता को अलंकारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। अतएव जितने भाषा के अलंकार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं। प्रत्येक जाति के भाव, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, अपना व्यक्तित्व रखते हैं और वे उसके साहित्य में झलक उठते हैं।

साहित्य का समाज पर प्रभाव

जिस प्रकार साहित्य में सामाजिक भावों और विचारों की प्रतिच्छाया रहती है उसी प्रकार हमारा समाज भी साहित्य द्वारा प्रसारित भावों से प्रभावित होता है। कवि और लेखक किसी अंश में समाज के प्रतिनिधि होते हैं और किसी अंश में वे समाज को अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के आधार पर नये भाव और विचार प्रदान करते हैं। समाज कवि और लेखकों को बनाता है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-भाव चलता रहता है। यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र बनता है। आजकल का संसार विचारों का ही संसार है। जो कोई परिवर्तन या विप्लव होता है उसका मूल स्रोत किसी विचारधारा में ही रहता है। वट-बीज के समान विचारों की बड़ी संभावनाएँ हैं। वर्तमान समय के सब राजनीतिक आन्दोलन विचारों के ही फल हैं। साहित्य द्वारा ही हमारा ज्ञान विस्तृत होकर वर्तमान से असंतुष्ट बनाता है। साहित्य हमारी हीन अवस्था की दूसरों की उन्नत अवस्था से तुलना कर हमारा नेत्रोन्मीलन कर हम में शक्ति का संचार करता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों और उनकी कहानियों ने भारत के किसानों के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करने में बहुत-कुछ योग दिया है। वर्तमान निष्क्रिय प्रतिरोध बौद्धकालीन विचारों एवं टाल्स्टाय के विचारों का फल है। रूसी राजविप्लव वहाँ के साम्यवाद-सम्बन्धी विचारों का ही परिणाम है। फ्रांस की राज क्रान्ति वोलतेर और रूसो के विचारों का ही प्रतिबिम्ब है। नित्शे आदि दार्शनिकों के विचार जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किये थे, गत महासमरों के लिए उत्तरदायी हैं।

जिस प्रकार साहित्य मारकाट और क्रान्ति के लिए उत्तरदायी है उसी प्रकार साहित्य सुख, शान्ति और स्वातन्त्र्य के भावों का भी कारण है। महात्मा तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' ने कितने अन्धकारमय हृदयों को आलोकित नहीं किया, कितने घरों में सन्तोष और शान्ति का सन्देश नहीं पहुँचाया ? **'जिन खोजा तिन पाइयाँ'**—वाले कबीर के उत्साह-भरे शब्दों ने कितने हताश पुरुषों में प्राण का संचार नहीं किया हिन्दू जाति की आध्यात्मिक संस्कृति, धर्मभीरुता और अहिंसावाद में भारतीय साहित्य की ही झलक मिलती है। समर्थ रामदास और महाराष्ट्र सन्तों के उपदेश और भूषण आदि कवियों की उत्तेजनामयी रचनाएँ महाराष्ट्र के उत्थान में बहुत-कुछ सहायक हुईं।

वीरगाथाओं ने उस काल में वीर-भावों का संचार किया।

साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त कर हमको प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य के रूप में मूर्तिमान हो हमारा नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यकारिणी बना देता है। साहित्य हमारे देश के भावों को जीवित रखकर हमारे व्यक्तित्व को स्थिर रखता है। वर्तमान भारतवर्ष में जो परिवर्तन हुआ है और जो धर्म में अश्रद्धा उत्पन्न हुई है वह अधिकांश में विदेशी साहित्य का ही फल है। साहित्य द्वारा समाज में परिवर्तन होता है वह तलवार द्वारा किये हुए परिवर्तन से कहीं स्थायी होता है। आज हमारे सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार सब विदेशी साहित्य से प्रभावित हो रहे हैं। रोम ने यूनान पर राजनीतिक विजय प्राप्त की थी किन्तु यूनान ने अपने साहित्य द्वारा रोम पर मानसिक विजय प्राप्त कर सारे यूरोप पर अपने विचारों और संस्कृति की छाप डाल दी। प्राचीन यूनान का सामाजिक संस्थान वहाँ के तत्कालीन साहित्य के प्रभाव को ज्वलन्त रूप से प्रमाणित करता है। यूरोप की जितनी कला है वह प्रायः यूनानी आदर्शों पर चल रही है। इन सब बातों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे सामने हमारे जीवन को उपस्थित कर उसको सुधारता है। हम एक आदर्श पर चलना सीखते हैं। साहित्य हमारा विनोविनोद कर हमारे जीवन का भार भी हलका करता है। जहाँ साहित्य का अभाव है वहाँ जीवन इतना रम्य नहीं रहता।

साहित्य एक गुप्त रूप से सामाजिक संगठन और जातीय जीवन का भी वर्द्धक होता है। हम अपने विचारों को अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझते हैं, उन पर हम गर्व करते हैं। किसी अपनी सम्मिलित वस्तु पर गर्व करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है। अंग्रेजों को शेक्सपियर पर बड़ा गर्व है। एक अंग्रेज साहित्यिक का कथन है कि वे लोग शेक्सपियर पर अपना सारा साम्राज्य न्यौछावर कर सकते हैं।

हमारा साहित्य हमको एक संस्कृति और एकजातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं और हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है, इसलिए हमारा साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं वह उसका नियामक और उन्नायक भी है।

साहित्य और आत्मभाव

काव्य में आत्म-स्वातन्त्र्य

श्री मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश के आरम्भ में कवि की भारती की प्रशंसा करते हुए काव्य को स्वतन्त्र और आनन्दमय बतलाया है—

'नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥'

अर्थात् नियति (भाग्य) के नियमों के बन्धन से रहित, केवल आनन्द से ही भरपूर, दूसरे की वश्यता से रहित नवरसों से सुशोभित कवि की वाणी की जय हो।

इस पद्य में कवि की रचना को ब्रह्मा की रचना से प्रधानता दी गई है। ब्रह्मा की रचना भाग्य के नियमों पर निर्भर रहती है किन्तु कवि की रचना ऐसे बन्धनों से मुक्त है। वास्तव में कविता अनन्य परतन्त्रता होने के कारण सब बन्धनों से मुक्त है। काव्य में आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है, बाह्य सामग्री का आश्रय और बन्धन नहीं रहता। केवल स्वातन्त्र्य और आनन्द का प्रसार होता है। आत्मा नियति के बन्धनों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होती है किन्तु कठिनता के साथ। जब तक उन बन्धनों का प्रभाव रहता है तब तक गति कुण्ठित-सी रहती है। कवि जहाँ संसार में विरोध, वैषम्य और प्रतिकूलता देखता है वहाँ वह उसको अपनी कल्पना में अपने आदर्शों के अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है। इसीलिए कहा गया है कि कवि प्रजापति है, संसार को ढालता है। कवि की रुचि के अनुकूल उसकी सृष्टि बन जाती है—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥'

—अग्नि पुराण (३३९।१०)

काव्य के संसार में आत्मा की गति अकुण्ठित हो जाती है। नियम के बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ उच्छृंखलता नहीं, उसमें शृंखला रहती है। किन्तु वह लोहे की जड़ शृंखला नहीं वरन् भावों का चेतन सम्बन्ध-सूत्र है जिसको प्राकृतिक नियमों का भार नहीं तोड़ सकता। यह शृंखला देश और काल के बन्धनों से संकुचित नहीं होती वरन् उसका प्रसार आकाश से पाताल तक व्याप्त हो जाता है।

इस स्वतन्त्रता में नियम-विरुद्धता नहीं वरन् आत्मा का उल्लास और विकास भरा हुआ है। काव्य उसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के प्रभाव का फल है जो जड़ नियमों के प्रस्तर-खण्डों को तोड़कर स्वच्छन्द रूप से होने की सामर्थ्य रखता है। यदि वह नियमबद्ध है तो वह दूसरों के आश्रित नहीं। इसका अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिए कि काव्य प्राकृतिक नियमों की नितान्त अवहेलना करता है। वह प्राकृतिक नियमों का आदर करते हुए भी उनसे ऊपर जाने का प्रयत्न करता है। कवि अपनी कल्पना में वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ता किन्तु वह उसका आश्रय लेकर ही भावी समाज के स्वप्न देखता है, इसी प्रकार वह समाज का नियामक बनता है।

काव्य छन्द के नियमों से बँधा हुआ बतलाया जाता है किन्तु छन्द के ये नियम बाहरी नहीं हैं। काव्य उन नियमों का अनुकरण नहीं करता वरन् ये नियम काव्य की

गति के वर्णन-स्वरूप हैं। छन्द के नियम आत्मा की स्वतन्त्र स्पन्दन-गति के क्रम को बतलाते हैं। वह क्रम जीवन के प्रवाह से निकलता है और उसके काले अक्षरों में प्रस्तरीभूत हो जाने पर ही वह नियम के शासन में आता है, ऐसी ही स्वतन्त्रता सौन्दर्य के आनन्द से भरपूर रहकर स्थायित्व धारण करती है। जहाँ पर गति कुण्ठित होती है, अभिलाषा की अपूर्णता रहती है और महात्वाकांक्षाएँ संकुचित हो जाती हैं वहीं पर आनन्द का ह्रास होता है। किन्तु जहाँ पर जीवन-रस का प्रवाह अकुण्ठित रूप से बहता रहता है, सारी चराचर सृष्टि आत्ममय हो जाती है वहाँ पर आनन्द का ही साम्राज्य है। काव्य उसी आनन्द-रस से सिञ्चित जीवन-विटप का एक उत्तम फल है।

काव्य में आनन्द का प्राधान्य रहता है। वही आनन्द काव्य के स्रष्टा और पाठक के व्यक्तित्वों का सम्बंध-सूत्र होता है। यह आनन्द जड़ पदार्थों का विषय नहीं है यह चेतन और आत्म-प्रधान व्यक्तियों में ही पाया जाता है। साहित्य और काव्य मनुष्यों के आत्म-प्रधान भावों की अभिव्यक्ति है यही आत्मभाव काव्य को विज्ञान से अलग करता है।

सहित्य और विज्ञान

विज्ञान अपने बाह्य साधनों से जिस वस्तु का जैसा निरीक्षण करता है उसका वैसा ही वर्णन भी करता है। उसका वर्णन इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) होता है। उसमें असुन्दर को सुन्दर तथा अशिव को शिव बनाने की वह स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती जो काव्य को 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' से आगे ले जाकर **'मा ब्रूयात् सत्यम्प्रियम्'** का पक्षपाती बना देती है। विज्ञान का झुकाव यथार्थ की ओर होता है और काव्य वस्तु की भित्ति पर खड़ा होकर आदर्श की ओर भी देखता है।

विज्ञान का क्षेत्र चेतना से रहित निर्जीव एवं निरीह प्रकृति है वह मानव को भी प्रकृति का एक अंग—भौतिक और प्राणी-शास्त्र के नियमों से बँधा हुआ अस्थि-मज्जा आदि से सुसज्जित माँस का एक पिण्डमात्र—मानता है, किन्तु काव्य का क्षेत्र मानव हृदय है। उसकी दृष्टि में प्रकृति का भी एक भावनामय स्वरूप है—उसके भी अपना सा या उससे कम स्पन्दनशील हृदय है; वह अपने हर्ष एवं विषाद को सहृदय के सम्मुख व्यक्त करने में तनिक भी संकोच नहीं करती। उसके सम्पूर्ण क्रिया कलापों में एक गुप्त रहस्य है जो सहृदय के हृदयङ्गम करने का विषय है। कवि-कल्पना में नवयौवना गुलाब की कली चटककर मानो भ्रमर को आमन्त्रित करती दिखाई देती है। शिथिल पत्राङ्क में सोती हुई 'जुही की कली' का सौन्दर्य किसी भी विलासी के लिए उद्दीपक हो सकता है। अस्तु वैज्ञानिक के लिए तो कुसुम केवल कार्बन, हाईड्रोजन, लोहा आदि कुछ तत्वों का संघातमात्र है, वह उसका विश्लेषण करके उसके स्वभाविक सौन्दर्य को छिन्न-भिन्न भले ही कर सकता है किन्तु उसका वह अपूर्व मनोमोहक स्वरूप

जो लोकोत्तर आनन्द का प्रतिपादक है, उसकी पहुँच से अगम है । वह गुण को भी परिमाण का ही रूपान्तर समझता है । वैज्ञानिक के लिए जाति प्रधान है व्यक्ति नहीं । साहित्य में व्यक्तित्व का ही विशेष महत्व है । सूर की गोपियाँ कृष्ण को छोड़कर ब्रह्म को नहीं चाहतीं—'ता भीतर क्यों निर्गुन आवत जा उर श्याम सुजान ।' वे उद्धव से स्पष्ट कह देती हैं—

'ऊधौ तुम अति चतुर सुजान ।
जा पहले रँग रँगी श्याम रँग तिन्हैं न चढ़े रँग आन ।
द्वै लोचन जो बिरद किए स्रुति गावत एक समान ।
भेद चकोर कियो तिनहूँ में बिधु प्रीतम, रिपु भान ॥'

—भ्रमरगीत सार (पृष्ठ ४७)

जब चकोर भी सूर्य और चन्द्र के व्यक्तित्व में अन्तर कर सकता है तब मनुष्य व्यक्तित्व में क्यों न अन्तर करेगा । पार्वती की प्रतिज्ञा—'**बरहुँ शंभु नतु रहौं कुँआँरी**' आदि वचन इसी व्यक्तित्व के प्राधान्य के उदाहरण हैं ।

नल और दमयन्ती का उपाख्यान साहित्य में व्यक्तित्व के प्राधान्य का एक अच्छा उदाहरण है । दमयन्ती नल को ही वरण करना चाहती थी । देवताओं में नल की अपेक्षा धन, वैभव और शक्ति का बाहुल्य था किन्तु दमयन्ती नल के व्यक्तित्व पर न्यौछावर हो चुकी थी । देवताओं ने नल का रूप भी धारण किया किन्तु उस रूपसाम्य में भी नल का व्यक्तित्व विलीन न हो सका । दमयन्ती ने अपना मनोनीत व्यक्ति उसके व्यक्तित्व के आकर्षण से खोज निकाला ।

काव्य में यद्यपि साधारणीकरण रहता है तथापि वह व्यक्ति के ही दृष्टिकोण से लिखा जाता है और वह समान धर्म और समान-भाव वाले व्यक्तियों के ही लिये अभिप्रेत होता है । कवि के कवित्व का रसिकजन ही आस्वाद करते हैं इसीलिए कवि विधाता को चुनौती

लेखक और पाठक का भावसाम्य

देते हुए यह कहता है कि मेरे भाग्य में चाहे जो कुछ आपत्तियाँ और यातनाएँ वह लिख दे किन्तु '**अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख**' । महाकवि भवभूति अपने समान-धर्मा पाठक के लिए अनंतकाल तक प्रतीक्षा करने को तैयार थे '**कालोह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी**' काल की अवधि नहीं और पृथ्वी भी अनन्त है कहीं और कभी उसका समानधर्मा पाठक मिल ही जायगा । कवि लिखता अपने ही दृष्टिकोण से है लेकिन वह सब समानधर्मा पाठकों व श्रोताओं के आनन्द और उपभोग का विषय बन जाता है, इसीलिए साहित्य में व्यक्तित्व का महत्त्व देते हुए भी साधारणीकरण की आवश्यकता हो जाती है । कालिदास का 'मेघदूत' सभी विरही हृदयों के तोष का विषय बन जाता है और तुलसी का 'रामचरितमानस' सभी भक्त-हृदयों को भाव-प्रवण

कर देता है । संस्कार और रसिकता-शून्य पाठकों के लिए 'मेघदूत और रामचरितमानस' दोनों ही शब्द-जाल-मात्र हो जाते हैं ।

कवि का काव्य उसके आत्मभाव का प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक कवि और कलाकार की एक शैली विशेष होती है जो उसको दूसरों से अलग खड़ा कर देती है। बिहारी के दोहे 'फानूस' से अलग चमकते दिखाई देते हैं। कबीर के दोहे छिपाये नहीं छिपते। शैली में कलाकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। तभी तो कहते हैं—'Style is the man'। कवि की कृति में हम उसकी आत्मा के दर्शन करते हैं। आज तीन सौ वर्ष बाद भी कवि-कुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी के हम उनके 'रामचरितमानस' में दर्शन पा सकते हैं। महर्षि वाल्मीकि और होमर अपनी अमर कृतियों में आज भी जीवित हैं। वे स्वयं ही जीवित नहीं हैं वरन् हमारे जीवन को भी सरस और सम्पन्न बना रहे हैं। हम उनके भावों से प्रभावित हो उनकी ही भाँति सुख-दुःख के सागर में गोते खाने लगते हैं। कवि और पाठक का यही भाव-तादात्म्य साहित्य को समाज की मूल प्रेरक शक्ति बनाता है।

काव्य का अध्ययन

कवि और पाठक के भाव-साम्य में ही काव्य की पूर्णता है। कविता चाहे जितनी स्वान्तःसुखाय लिखी जाय, कवि का परिश्रम तभी सार्थक होता है जब कि उसकी कविता का कोई रसास्वाद करे। गोस्वामी तुलसीदास जी बुधजनों के आदर की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। जैसा रस कवि के हृदय में होता है वैसे ही रस की जागृति पाठक के हृदय में भी अपेक्षित है। कविता के रसास्वाद के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। उन साधनों में सबसे पहले कवि के प्रति सहानुभूति चाहिए। हमारे निजी विश्वास चाहे जो कुछ हों, हमको कवि के दृष्टिकोण से ही उसकी कृति का अध्ययन करना चाहिए तभी हम कविता का आनन्द ले सकेंगे। सूर और तुलसी के अध्ययन के लिए हमको भक्त का ही मानसिक बाना धारण करना पड़ेगा। जो लोग प्राचीन कवियों की कृतियों को आजकल के आदर्शों से नापते हैं वे भूल करते हैं। कवि तो अपने ही समय के भावों और विचारों को व्यक्त कर सकता है वह दिव्य द्रष्टा अवश्य होता है किन्तु उसकी दिव्य दृष्टि किसी अंश में सीमित होती है। इसीलिए कृति को अध्ययन करने से पूर्व कवि के समय के वातावरण का अध्ययन भी अपेक्षित रहता है। कवि के साथ सहानुभूति रखने में यह आवश्यक नहीं कि हम उसकी प्रत्येक बात का समर्थन करें। सामाजिक आदर्श बदलते रहते हैं। कवि का सामाजिक आदर्श हमारे युग का सामाजिक आदर्श हो सकता है फिर भी कवि को पूर्णतया समझने और उसकी

कवि के प्रति सहानुभूति

आलोचना करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके ही दृष्टिकोण से उसको समझने का प्रयत्न करें। यह आवश्यक नहीं कि हम सभी कवियों के दृष्टिकोण से अपना तादात्म्य कर सकें। पाठक के रुचि-वैचित्र्य को हम भुला नहीं सकते हैं किन्तु यदि पाठक किसी कवि का पूर्णतया रसास्वाद करना चाहता है तो उसको कम-से कम अध्ययन के समय अपनी रुचि पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। अपनी रुचि को चाहे न बदल सके किन्तु अपने मान-दण्डों से कवि की आलोचना करने से पूर्व उनको अपने मन में यह समझ लेना चाहिए कि कवि अपने समय के वातावरण का प्रतिफलन होता है। कुछ कवि अपने समय के आगे जा सकते हैं और कुछ नहीं। जाति-पाँति के सम्बन्ध में समय से आगे जाने वाले कबीर भी नारी के सम्बन्ध में अनुदार रहे, फिर बेचारे तुलसीदासजी को ही क्यों दोषी ठहराया जाय? उन्होंने या कबीर ने भी जहाँ स्त्री की बुराई की है वहाँ उस जाति-मात्र की इतनी नहीं जितनी कि कामवासना की बुराई व्यञ्जित है।

कवि के साथ सहानुभूति के लिए पाठक को उसके निजी जीवन तथा उसके समय के वातावरण से परिचित होना नितान्त आवश्यक है। निजी जीवन के अध्ययन से हम उसकी मानसिक परिस्थितियों को जान सकेंगे जिनके वश वह अपने

जीवन का परिचय

काव्य की रचना में प्रेरित हुआ है। कविवर सत्यनारायणजी के निजी जीवन से जो लोग परिचित हैं वे इस भाँति समझ सकते हैं कि वे उत्तररामचरित के अनुवाद में क्यों सफल हुए? उनके दुःखमय जीवन ने करुण रस को उनकी प्रतिभा का एक अंग बना दिया था। कबीर का अक्खड़पन उनके जुलाहे परिवार में पालित-पोषित होने की ही प्रतिक्रिया मालूम होती है। वैयक्तिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त कवि पर समय का भी प्रभाव पड़ता है। भूषण की कविता में जो उग्रता है वह तत्कालीन परिस्थितियों का ही फल कही जा सकती है।

रसास्वाद के लिए कवि की प्रतिभा की विशेषताओं से जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है। प्रत्येक कवि अपने समकालीन अन्य कवियों से कुछ विशेषता रखता है। उसकी अभिव्यक्ति की शैली में भी विभिन्नता रहती है। पाठक

प्रतिभा और शैली

को यह देखने की आवश्यकता रहती है कि कवि ने हमको क्या नई चीज दी अथवा पुरानी ही चीज को उसने किस ढंग से कहा। उसको कौन से रस में विशेष सफलता मिली है और किन भावों के प्रस्फुटन में उसकी प्रतिभा की स्फूर्ति अधिक दिखाई पड़ती है। इसके लिए हमको कवि की एक ही कृति का अध्ययन पर्याप्त नहीं है, उसकी समस्त कृतियों से ही उसकी प्रतिभा का पूर्णतया अनुमान किया जा सकता है।

प्रतिभा के अध्ययन में हमको तुलनात्मक प्रणाली से भी काम लेना पड़ेगा।

कवि की प्रतिभा की माप-जोख के लिए हमको उसके समकालीन कवियों से और कभी-कभी उसी विषय के भिन्नकालीन अन्य कवियों से भी तुलना करनी पड़ती है। तुलनात्मक प्रणाली से ही कवि की देन का यथार्थ मूल्यांकन हो सकता है।

मैथ्यू आरनल्ड ने अपने (Essay on Wordsworth) शीर्षक निबन्ध में कविता को जीवन की व्याख्या या आलोचना कहा है (Poetry is at bottom a criticism of life)। यद्यपि कवि द्वारा की हुई जीवन की व्याख्या दार्शनिक और समाज-शास्त्री की व्याख्या से भिन्न है तथापि कवि जीवन की व्याख्या किये बिना नहीं रह सकता है क्योंकि काव्य जीवन-धारा का ही तो मुखरित रूप है। प्रत्येक कवि ने अपना जीवन-दर्शन देने का प्रयत्न किया है किन्तु एक निजी उल्लास के साथ, यही उल्लासमयता कवि की व्याख्या की विशेषता है। कवि बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता है किन्तु वह निरा बौद्धिक प्राणी नहीं है, वह रस का स्रष्टा है। उसकी व्याख्या भी रसमयी होती है। मैथ्यू आरनल्ड की परिभाषा में बुद्धितत्व को कुछ अधिक प्रधानता मिली है। हमारे यहाँ रसतत्व की प्रधानता है किन्तु वह रस जीवन का ही रस है जो कवि और पाठक दोनों के हृदय को आप्लावित करता है।

जीवन की व्याख्या

२

काव्य की परिभाषा और विभाग

कवि साधारण मनुष्य की अपेक्षा कुछ अधिक भावुक और विचारशील होता है किन्तु वह अपने अनुभव को अपने तक सीमित नहीं रखना चाहता है। वह अपने हृदय का रस दूसरों तक पहुँचाकर उनको भी अपनी तरह प्रभावित करने को उत्सुक रहता है। इस प्रकार काव्य के दो पक्ष हो जाते हैं, एक अनुभूति-पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति-पक्ष। इसी को भाव-पक्ष और कला-पक्ष भी कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित काव्य के चार तत्त्व (रागात्मकतत्व, कल्पनातत्त्व, बुद्धितत्त्व और शैलीतत्व) इन्हीं दो पक्षों से सम्बन्धित हैं। इन तत्वों में रागात्मकतत्व की प्रधानता है। इसका सम्बन्ध अनुभूति से है। कल्पना नये-नये चित्र उपस्थित कर दोनों को बल देती है। शैली तत्व का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। इसमें मानसिक पक्ष रहता अवश्य है किन्तु इसमें बल कलात्मक बाह्य पक्ष पर ही है। बुद्धितत्त्व अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देता। बुद्धितत्त्व का निजी स्वरूप है 'संगति'।

दो पक्ष

भारतीय समीक्षा-क्षेत्र में काव्य की परिभाषा का प्रश्न काव्य की आत्मा के विवेचन से सम्बन्धित है। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना जाता है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है। भरत मुनि और उनके बहुत पीछे आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना है। दण्डी, भामह आदि ने अलङ्कारों को काव्य की आत्मा माना है। हिन्दी में आचार्य केशवदास जी भी इसी सम्प्रदाय के थे। कुन्तक वा कुन्तल ने वक्रोक्ति को (बात को एक विदग्धता और सौन्दर्यपूर्ण घुमाव फिराव के साथ कहने को, जैसे—रामचन्द्र जी ने सुग्रीव से कहा था कि वह रास्ता सङ्कुचित नहीं है जिससे बाली गया अर्थात् हम तुमको भी मार डालेंगे) काव्य की आत्मा माना है। वामन ने रीति को (माधुर्य, ओज आदि गुणों के आधार पर रचना की शैलियों को) काव्य की आत्मा बतलाया है—'**रीतिरात्मा काव्यस्य**'। ध्वनिकार और आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया है (जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा मुख्यता रखता है उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं) '**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति**'। इन सम्प्रदायों में मुख्यता रस और ध्वनि-सम्प्रदाय की रही है किन्तु इन

काव्य की आत्मा

दोनों ने एक दूसरे का महत्त्व स्वीकार किया है। ध्वनिकारों ने रसध्वनि को श्रेष्ठता दी और रसवादियों ने रस को व्यङ्ग्य मानकर ध्वनि का महत्त्व स्वीकार किया। इन सम्प्रदायों में रस-सम्प्रदाय ने अनुभूति-पक्ष को प्रधानता दी है। अभिव्यक्ति को भी उसने रस के पोषक और सहायक रूप से स्वीकार किया है। अलङ्कार, वक्रोक्ति और रीति-सम्प्रदायों ने अभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया है। ध्वनि-सम्प्रदाय यूरोप के कल्पनावादियों के अधिक निकट आता है क्योंकि ध्वनि में कल्पना का अधिक प्रयोग होता है। इन सम्प्रदायों से प्रभावित होकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने काव्य को भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं।

मम्मटाचार्य—*काव्य प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने उस रचना को जो दोषरहित और गुण वाली हो तथा जिसमें कहीं-कहीं अलंकार न भी हो काव्य कहा है—*

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"

—काव्य-प्रकाश (१।४)

इसकी साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने बड़ी कड़ी आलोचना की है। पहली बात यह है कि 'अदोषौ' एक अभावात्मक गुण है। बहुत-सी उच्च कोटि की कविताओं में भी कुछ-न-कुछ दोष निकल आता है, फिर क्या वे काव्य नहीं कहलायेंगी। इसके अतिरिक्त जब काव्य कभी-कभी बिना अलंकारों के भी रह सकता है तो उसके उल्लेख करने की ही क्या आवश्यकता थी परिभाषा में वही चीज आनी चाहिये जो नितान्त आवश्यक हो। गुण दोष तो पीछे की वस्तुएँ हैं, ये अङ्ग हैं अङ्गी नहीं। मम्मट ने गुण और दोषों की व्याख्या रस के ही सम्बन्ध से की है और गुणों को रस के उत्कर्ष के और दोषों को अपकर्ष के कारण कहा है। इस प्रकार रस को ही प्रधानता न देते हुए प्रधानता मिल जाती है।

विश्वनाथ—इसलिये विश्वनाथ ने रस को आत्मा मानते हुए *रसयुक्त वाक्य को काव्य कहा है—*

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'

—साहित्य-दर्पण (१।३)

वाक्य में अभिव्यक्ति का पक्ष आ गया और रस में अनुभूति का। इस परिभाषा के विरुद्ध केवल यही आपत्ति उठाई जा सकती है कि रस शब्द ऐसा है कि जिसकी व्याख्या अपेक्षित है किन्तु प्रायः मोटे तौर से सभी लोग जानते हैं कि रस क्या वस्तु है। गुणों के सम्बन्ध में भी तो यही आपत्ति उठाई जा सकती है। गुणों की व्याख्या में भी तो अन्त में रस का आश्रय लेना पड़ता है।

पण्डितराज जगन्नाथ—रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा भी

इससे मिलती जुलती है। उन्होंने *रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य* मानकर इस परिभाषा को अधिक व्यापक बना दिया है—

"रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

—रसगंगाधर (काव्यमाला—सीरीज़ पृष्ठ ४)

इसमें रस और अलङ्कार दोनों के ही चमत्कार आ जाते हैं किन्तु रमणीयता में हृदय के आनन्द की ओर अधिक संकेत हैं—

पाश्चात्य आचार्य—पाश्चात्य आचार्यों ने जो काव्य की परिभाषा दी है वह काव्य के चार तत्वों (भावतत्व, कल्पनातत्व, बुद्धितत्व और शैलीतत्व) पर ही आश्रित है। किसी ने एक तत्व को प्रधानता दी है तो किसी ने दूसरे को और किन्हीं-किन्हीं ने समन्वय-बुद्धि से काम लिया है। शैक्सपियर ने कल्पना को प्रधानता दी है। वर्ड्सवर्थ ने भाव को प्रधानता देते हुए कहा है कि *काव्य शान्ति के समय में स्मरण किये हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है।* कॉलरिज ने अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए लिखा है कि *कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है।* मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता के विषय की महत्ता देते हुए कहा है कि *कविता जीवन की आलोचना है।* डॉ० जॉनसन की परिभाषा समन्वयात्मक है उनका कथन है कि *कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।*

आचार्य शुक्ल जी—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सत्य की अवहेलना न करते हुए रागात्मक तत्व को मुख्यता दें हैं। उनका मत इस प्रकार का है—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"

—चिन्तामणि (भाग १—पृष्ठ १४१)

समन्वय और सार[1] कविता के लिए सभी तत्व आवश्यक हैं। उसके लिए अनुभूति और अभिव्यक्ति का प्रायः समान महत्त्व है, फिर भी अभिव्यक्ति का महत्त्व अनुभूति पर निर्भर रहता है। अनुभूति के बिना कविता निस्सार और अभिव्यक्ति के बिना वह आकर्षणहीन हो जाती है। अनुभूति का आधार अन्तर और बाह्य जगत् है। कविता श्रेय को प्रेय रूप देती है। वह केवल स्वान्तःसुखाय ही नहीं होती वरन् उसमें पाठक और आलोचक भी अपेक्षित रहते

---

१. **इस विषय की विशेष जानकारी के लिए सिद्धान्त और अध्ययन (प्रथम भाग) का प्रथम अध्याय और काव्य की परिभाषा शीर्षक दूसरा अध्याय पढ़िये।**

हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए कविता की परिभाषा नीचे शब्दों में इस प्रकार दी जा सकती है—

काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की श्रेय को प्रेय देने वाली अभिव्यक्ति है।

काव्य के विभिन्न रूप—काव्य के विभिन्न रूपों को जानने के लिए काव्य के विभाजन को पाश्चात्य और भारतीय परम्परा जान लेना आवश्यक है।

काव्य के अनेक प्रकार के भेद किये गये हैं। इस भेद और विभाजन के कई आधार हैं। यूरोप के समीक्षकों ने व्यक्ति और संसार को पृथक् करके काव्य के दो भेद किये हैं—एक विषयीगत (Subjective) जिसमें कवि को प्रधानता मिलती है और दूसरा विषयगत (Objective) जिसमें कवि के अतिरिक्त शेष सृष्टि को मुख्यता दी जाती है।

पाश्चात्य परम्परा

पहले प्रकार के काव्य को (Lyric) कहते हैं। यूनानी बाजा 'लाइर' (Lyre) से सम्बन्ध रखने के कारण इसका शाब्दिक अर्थ तो वैणिक होता है किन्तु इसे प्रायः प्रगीत या भाव-प्रधान काव्य कहते हैं। इसमें गीततत्व की प्रधानता रहती है। दूसरे प्रकार के काव्य को अनुकृत या प्रकथनात्मक (Narrative) कहा गया है। महाकाव्य और खण्डकाव्य इसके उपविभाग हैं किन्तु पाश्चात्य देशों में प्रायः महाकाव्य (Epic) ही इस प्रकार के काव्य का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ खण्डकाव्य जैसा कोई विशेष उप-विभाग नहीं है। ये विभाग कविता (पद्य) के ही हैं। गद्य का भी ऐसा विभाजन किया जा सकता है। गद्यकाव्य भाव-प्रधान काव्य का स्थान लेगा और उपन्यास महाकाव्य का तथा कहानी खण्डकाव्य का प्रतिनिधित्व करेगी। गद्य में निबन्ध, जीवनी आदि अनेक ऐसे रूप हैं जिनको इस विभाजन में अच्छी तरह बाँध नहीं सकते हैं। गद्य काव्य के क्षेत्र से बाहर नहीं है। गद्य का उलटा पद्य है जिसको अंग्रेज़ी में (Verse) कहते हैं।

यद्यपि आपबीती और जगबीती के आधार पर विषयी-प्रधान और विषय-प्रधान कविता के ऐसे दो विभाग करने को हम मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं—[मनुष्यों में भी कुछ लोग अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (Introvert) के और कुछ लोग बाहर्मुखी प्रवृत्ति (Extravert) के होते हैं।]—तथापि यह विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं। गेय तो अनुकृत काव्य भी हो सकता है (जैसे रामायण) किन्तु मुख्यता वैयक्तिक भावना की है। इस विभाजन की बीच की रेखा निर्धारित करना बड़ा कठिन है। कोई अनुकृत काव्य ऐसा नहीं जिसमें वैयक्तिक भावनाओं को प्रधानता न मिली हो। नायक के प्रति कवि के हृदय का उल्लास जो काव्य की सफलता का प्रमुख कारण होता है उसे वैयक्तिक और भाव-प्रधान बना देता है। भाव की प्रधानता तो काव्य की जान है। गीतकाव्य भी प्रायः ऐसा नहीं जिसका वाह्य संसार से सम्बन्ध न हो और जिसमें प्रकथन का थोड़ा बहुत अंश न

हो क्योंकि कवि के निजी भावों को जाग्रत करने के लिए वाह्य संसार की घटनाएँ अपेक्षित रहती हैं। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि यह विभाजन प्रगीत या प्रकथनात्मक तत्वों की प्रधानता पर निर्भर है। नाटक को प्रायः बीच का स्थान दिया जाता है। वह विषय-प्रधान तो होता है किन्तु उसमें महाकाव्य-का सा कवि की ओर से प्रकथन नहीं होता। उसमें पात्र स्वयं कथोपकथन तथा अभिनय किये हुए कार्यों द्वारा कथानक को अग्रसर करते हैं। पात्रों के स्वयं बोलने के कारण उनको अपने भावों के उद्‌घाटन करने का अधिक अवसर रहता है। इसमें कवि प्रकट रूप से जनता के सामने नहीं आता है वरन् परमात्मा की भाँति वह अपनी सृष्टि में छिपा रहता है। उसके भक्त लोग उसके व्यक्त रूप में ही दर्शन कर लेते हैं।

भारतीय परम्परा

भारतीय परम्परा में नाटक को कुछ अधिक प्रधानता मिली है। जो काव्य अभिनीत होकर देखा जाय वह दृश्य काव्य है (इसमें नेत्र तथा श्रवण दोनों इन्द्रियों का काम रहता है) और जो कानों से सुना जाय उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। यद्यपि श्रव्य काव्य पढ़े भी जाते थे (वाल्मीकीय रामायण के लिए कहा गया है कि वह पढ़ने और गाने दोनों में मधुर है—**'पाठ्ये गेये च मधुरंप्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्'**—वा० रा० बालकाण्ड, (४।८) तथापि छापे के अभाव में उनका प्रचार गायन द्वारा ही हुआ करता था। उन दिनों काव्य में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक थी। लोग एकान्त में बैठकर उसका उपयोग नहीं करते थे वरन् समाज में बैठकर उसका रसास्वादन करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे।

दृश्य काव्य—श्रव्य काव्य तो अधिकांश में पठित समाज के ही लिए था किन्तु दृश्य काव्य में जनसाधारण भी आनन्द ले सकते थे। इसीलिए उसे पाँचवाँ वेद कहा है जिसमें शूद्र अर्थात् अल्प बुद्धि के लोग भी भाग ले सकें—

'न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरंवेदं पञ्चमं सर्ववर्णिकम्॥'

—नाट्यशास्त्र (१।१२)

काव्य के और भी भेद हैं, वे प्रायः श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं। दृश्य काव्य को रूपक या नाटक भी कहते हैं और इनके भी कई उपभेद हैं।

गद्य और पद्य—आकार के आधार पर श्रव्य के गद्य, पद्य और मिश्रित (जिसका चम्पू एक भेद है) तीन विभाग किये गये हैं। गद्य की अपेक्षा पद्य में संगीत और आकार-सम्बन्धी भेद में अभेद की मात्रा अधिक रहती है। पद्य में आजकल नियम और नाप-तोल का उतना मान नहीं रहा जितना श्रवण-सुखदता का। छन्द लय के ढांचे मात्र हैं, वे सर्वसुलभ हैं। निराला व पन्त जैसे कुशल कवि छन्द के बिना भी लय की साधना

करते हैं। यह भेद नितान्त आकार का ही नहीं वरन् भाव का भी है। पद्य में गद्य की अपेक्षा भाव का प्राधान्य रहता है। गद्य का सम्बन्ध गद् धातु से है, वह बोलचाल की स्वाभाविक भाषा है। पद्य का सम्बन्ध पद से है, इसलिये उसमें नृत्त की-सी गति रहती है। वह भाव की गति और शक्ति के साथ बहती है।

श्रव्य काव्य के प्रमुख भेद

बंध की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये गये हैं। प्रबन्धकाव्य में तारतम्य रहता है, मुक्तक काव्य इससे मुक्त होता है। उसका प्रत्येक छन्द स्वतःपूर्ण होता है। प्रबन्ध के भी दो भेद किये गये हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य में आकार की विशालता के साथ भावों की उदात्तता और विशालता रहती है। उसमें जीवन की अनेकरूपता और शाखाबाहुल्य के साथ जातीय जीवन की झलक रहती है। वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश, कामायनी आदि इसके उदाहरण हैं। खण्डकाव्य में एक ही घटना को मुख्यता दी जाकर उसमें जीवन के किसी एक पहलू की झांकी-सी मिल जाती है। कालिदास का 'मेघदूत', गुप्त जी के 'अनघ' और 'जयद्रथ-बध', रामनरेश त्रिपाठी जी के 'स्वप्न' और 'मिलन' आदि इसी कोटि के हैं।

स्फुट कविताएँ मुक्तक में आती हैं। मुक्तकों में कुछ तो पाठ्य होते हैं और कुछ विशेष रूप से गेय। गेय को ही प्रगीत काव्य कहते हैं। बिहारी के दोहे, निराला जी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता पाठ्य कही जायगी। सूर के पद, महादेवी, पंत, प्रसाद, निराला के गीत प्रगीत काव्य कहे जायँगे।

यद्यपि प्रबन्ध और मुक्तक का विभाग प्रधानतया पद्य का है तथापि गद्य में भी यह विभाग लागू हो सकते हैं। उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न होकर और कहानी खण्डकाव्य के रूप में गद्य के प्रबन्धकाव्य कहे जा सकते हैं। गद्यकाव्य तो मुक्तक है ही, पत्र भी मुक्तक की कोटि में आयेंगे। उनकी निबन्ध और जीवनी के बीच-की-सी स्थिति है। समस्त संग्रह की दृष्टि से एक-एक निबन्ध मुक्तक कहा जा सकता है किन्तु निबन्ध के भीतर एक बन्ध रहता है (यद्यपि उनमें निजीपन और स्वच्छन्दता भी रहती है)। वैयक्तिक तत्व की दृष्टि से गद्य के विभागों को हम इस प्रकार श्रेणीबद्ध कर सकते हैं—उपन्यास, कहानी (काव्य के इस रूप में उपन्यास की अपेक्षा काव्यत्व और निजी दृष्टिकोण अधिक रहता है), जीवनी (यह इतिहास और उपन्यास के बीच की चीज हैं, इसका नायक वास्तविक होने के कारण अधिक व्यक्तित्वपूर्ण होता है), निबन्ध (इसमें विषय की वस्तुगतता (Objectivity) के साथ वर्ण की वैयक्तिकता रहती है), पत्र (इनमें दृष्टि-कोण नितान्त निजी होता है, ये व्यक्ति के होते हैं और व्यक्ति के लिए ही लिखे जाते हैं, इनको पढ़े चाहे कोई), गद्यकाव्य (इसमें विषय की अपेक्षा भावना का आधिक्य रहता है)। गद्यकाव्य तो ये सभी रूप हैं किन्तु गद्यकाव्य के नाम की विधा विशेष रूप से गद्यकाव्य है।

नीचे के चक्र से उपर्युक्त विभाजन स्पष्ट हो जायगा—

३
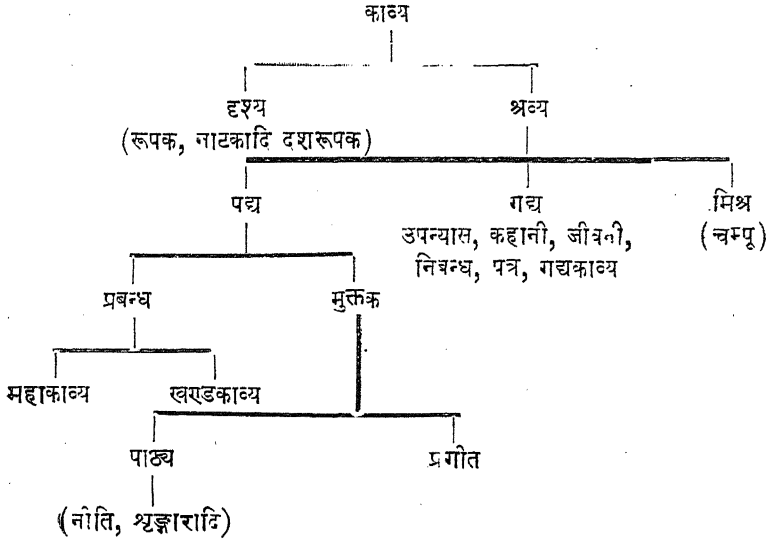
दृश्य काव्य-विवेचन

इन्द्रियों को प्रभावित करने के आधार पर काव्य के दो विभाग किये गये हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य में केवल श्रवण-पथ से जाने वाले शब्दों द्वारा ही नहीं वरन् नेत्र-पथ से मन तक पहुँचने वाले दृश्यों द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रस का संचार किया जाता है। श्रव्य काव्य उन दिनों का शब्द है जब कि छापे के अभाव में जन-समुदाय के समक्ष काव्य-ग्रन्थ सुनाये जाते थे। वाल्मीकीय रामायण पहले-पहल सुनाई ही गई थी, वैसे उसके लिए पाठ्य शब्द का भी प्रयोग हुआ है किन्तु श्री रामचन्द्र जी के दरबार में लव और कुश द्वारा वह गाई ही गई थी।

महत्त्व

श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं। दृश्य काव्य में कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता उसमें हमको यही प्रतीत होता है कि हम वास्तविकता को देख रहे हैं। अमूर्त्त से मूर्त्त का प्रभाव होता है। नाटककार की भाषा में जो कमी रहती है वह नटों या अभिनेताओं की भाव-भङ्गी से पूरी हो जाती है।

इसलिए नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति बढ़ी-चढ़ी रहती है। यदि हम अखबार में पढ़ते हैं कि कहीं पर रेलगाड़ी लड़ गई अथवा नगर में किसी नेता का जुलूस निकला तो उसमें हमारे भावों की इतनी जागृति नहीं होती जितनी कि प्रत्यक्ष देखने से होती है। थोड़े पढ़े अथवा कम समझ वाले लोगों के लिए मूर्त्त और प्रत्यक्ष जितना बुद्धिगम्य होता है उतना अमूर्त्त नहीं इसलिए नाटक जनता की वस्तु है। इसको पञ्चम वेद भी कहा है क्योंकि इसमें शूद्रों तक का भी अधिकार माना गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह निम्न कोटि के लोगों की चीज है। इससे केवल यह मतलब है कि इसमें लोकहित और लोकरञ्जन की क्षमता विपुल रूप से वर्तमान रहती है। नाटक में साधारण काव्य की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। इसका आस्वादन एकान्त में नहीं हो सकता।

शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व अधिक है। इसमें सभी

कलाओं का समावेश होता जाता है—स्थापत्य (इमारत बनाने की कला), चित्रकला, संगीत, नृत्य, काव्य, इतिहास, समाजशास्त्र, वेश-भूषा की सजावट, कपड़ों का रँगना आदि सभी शास्त्रों और कलाओं का आश्रय लिया जाता है। दर्शकों के सामूहिक सहयोग के कारण उसमें जातीय जीवन की एक छाया दिखाई देने लगती है। इसके सम्बन्ध में नाट्य-कला के आदि आचार्य भरतमुनि ने ठीक ही कहा है—योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय।[1] इसमें इन सब कलाओं का योग तो है ही किन्तु यह विशेषता है कि इसमें वास्तविकता का अनुकरण जीते-जागते साधनों द्वारा किया जाता है। इसमें घटनाओं का वर्णन नहीं रहता वरन् वे घटित होती दिखाई जाती हैं, उनका उद्घाटन काव्य की भावुकता और रँग-बिरंगे दृश्य विधान में चलते-फिरते पात्रों की क्रियाशील सजीवता के साथ होता है। तभी तो कहा गया है कि—**'काव्येषु नाटकं रम्यम्।'**

नाटक को शास्त्रीय परिभाषा में रूपक कहते हैं। रूप का आरोप के कारण उसे रूपक नाम दिया जाता है—**'तद्रूपारोपात्तु रूपकं'**। नट पर दुष्यन्त या राम का आरोप करने से रूपक बनता है। रूपक अलङ्कार भी रूपक इसलिए कहलाता है कि उसमें उपमेय के ऊपर उपमान का आरोप होता है। चरणकमल में चरण के ऊपर कमल का आरोप किया जाता है।

दृश्य काव्य में अभिनय की प्रधानता रहती है। अभिनय को ही नाटक कहते हैं। नाट्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—**'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'** (दशरूपक १।७)। अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं।[2] यह अनुकरण आङ्गिक, वाचिक, आहार्य (वेशभूषा का) और सात्विक चार प्रकार का होता है (इनकी व्याख्या आगे की गई है)। यह अवस्था शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की होती है। मानसिक अवस्था का सीधा तो अनुकरण नहीं होता है किन्तु अनुभावों और सात्विक भावों द्वारा मानसिक भावों का द्योतन हो जाता है।

नाट्य, नृत्त और नृत्य से आगे की वस्तु है। नृत्त में ताल-लय-आश्रित पद-

१. 'न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वं शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विवधानि च॥'

—नाट्यशास्त्र (१।११४)

२. सिद्धान्त कौमुदी में नाट्य को "वाक्यार्थाभि नयो नाट्यम्" कहा गया है।

सञ्चालनादि क्रियाएँ रहती हैं—**'नृत्त ताललयाश्रयम्'**—दशरूपक (१।६)। नृत्य में भाव-प्रदर्शन भी रहता है—**'भावाश्रमं नृत्यम्'** (१।६)। नृत्त में अनुकरण नहीं रहता नृत्य में रहता है। नृत्य और नाट्य में यह भेद किया गया है कि नृत्य केवल भावाश्रित है, नाट्य रसाश्रित है[1]। नाट्य में चारों प्रकार के अभिनय होने के कारण उसके द्वारा सामाजिकों में रस का सञ्चार हो जाता है। इस अभिनय की प्रधानता के कारण दृश्य काव्य श्रव्य से भिन्न हो जाता है। नाटक रूपक का एक प्रकार ही नहीं वरन् वह जाति-वाचक शब्द बन गया है। उसका व्युत्पत्ति का अर्थ भी वही है जो रूपक का है। नट अर्थात् अभिनेता से सम्बन्ध रखने के कारण नाटक नाटक कहलाता है।

विकासवाद द्वारा मान्य सिद्धान्तो में एक यह भी है कि जाति के इतिहास की

१. नृत्य, नृत्त और नाट्य के सम्बन्ध में अनेक मत हैं, यहाँ हम उन्हें संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं—

ग्रन्थ	नृत्त	नृत्य	नाट्य
प्रतापरुद्रीय	भावाश्रयं नृत्तं	ताललयाश्रयम्	रसाश्रयम्
दशरूपक	ताललयाश्रयम्	भावाश्रयम्	रसाश्रयम्
भाव प्रकाशन	रसाथयम्	,, ,,	नृत्त व नाट्य को एक माना है।
सिद्धांत कौमुदी	ताललयाश्रयम्	,, ,,	रसाश्रयम्

इस प्रकार "नाट्य" के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है किन्तु नृत्त व नृत्य के विषय में मतभेद है। प्रतापरुद्रीय में नृत्त को भाव का आश्रय माना गया है, जबकि दशरूपक इसे केवल ताल व लय का आश्रय मानता है। सिद्धान्तकौमुदी में नृत्त को 'गात्रविक्षेपमात्र' कहा है। जबकि भावप्रकाशन इसे रसाश्रय कहता है परन्तु दशरूपक ही अधिक विश्वसनीय है। अतः नृत्त सामान्यतः कोरा नृत्य (Mere dance) है जबकि नृत्य में कुछ चेष्टाएँ (Gestures) भी सम्मिलत रहती हैं परन्तु नाट्य में वाक्य, संवाद आदि भी रहते हैं अतः नाट्य में नृत्त व नृत्य का स्वतः समावेश हो जाता है। (मनकद के आधार पर)

नाटक की मूलभूत मानसिक प्रवृत्तियाँ

व्यक्ति के जीवन में पुनरावृत्ति होती है। यदि हम जानना चाहें कि किसी संस्था का प्रारम्भ कैसे हुआ तो हमको बच्चों के जीवन में उसके बीज और अंकुरों को देखना चाहिए। बच्चों के जीवन में मानव-सभ्यता का इतिहास सजीव अक्षरों में अंकित रहता है। मनुष्य की स्वाभाविक अनुकरणशीलता का पता हमको बालकों के खेल में मिलता है।

बच्चा अपनी कल्पना के बल लकड़ी के डंडे को घोड़े का आकार देकर उसको सरपट चाल चलाता है। कहीं वह स्वयं ही इंजन बनकर भक्-भक् करता हुआ अपने पीछे समवयस्क बच्चों की रेल को भगाता फिरता है। मूँछों के रेखामात्र चिह्न न होते हुए भी बालक के अनुकरण में स्याही की मूँछ बना लेता है। बालिकाएँ घरुआ-पतुआ बनाकर उसमें गुड़ियों-गुड्डों का विवाह कराकर अपने भावी गार्हस्थ्य जीवन का पेशगी आनन्द अनुभव कर लेती हैं। यही नाटक की मूल प्रवृत्ति है।

अब प्रश्न हो सकता है कि यह अनुसरण की प्रवृत्ति किसलिए, इसका आधार क्या है ? मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति इसलिए मालूम पड़ती है कि वह अपनी आत्मा का विस्तार देखना चाहता है। आत्मा सदा विस्तारोन्मुखी रहती है। आत्मा के विस्तार से मनुष्य को सुख और संकोच से दुःख होता है। बालक बड़ों का अनुकरण इसीलिए करता है कि उसको अवस्था की संकुचित सीमाएँ अखरती हैं। वह बड़ों के साथ तादात्म्य प्राप्त करना चाहता है। वह मूँछें लगाकर पिताजी होने का गौरव प्राप्त कर लेता है। किसी मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं है, वह दूसरों के जीवन से पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। नाटक में इस प्रकार की पूर्णता अभिनेता और दर्शक दोनों को ही मिलती है। मजदूर राजाओं के जीवन से परिचित हो जाता है और राजा मजदूरों के जीवन से जानकारी प्राप्त कर लेता है। साधारण-से-साधारण नट मञ्च पर राजकीय ठाट-बाट और आदर-सत्कार का अनुभव कर सकता है। अभिनेता अपने इष्टदेव का अभिनय कर उनसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। मानव-सभ्यता का तारतम्य पूरा हो जाता है। इसमें मानव-जाति की रक्षा का भी भाव लगा रहता है। हम नाटक के भिन्न-भिन्न श्रेणी और अवस्था के लोगों का अनुकरण कर एक प्रकार से वही आनन्द पा लेते हैं जो इतिहास के अध्ययन में आता है अथवा अपनी तस्वीर देखने में प्राप्त होता है।

दूसरों के अनुकरण में हमारी एक प्रकार की आत्माभिव्यक्ति भी हो जाती है। मनुष्य को सभी अवस्थाएँ सभी समय प्राप्त नहीं होती हैं। पात्रों को अनुकरण में और दर्शकों को नाटक देखने में अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार नाटक के मूल में चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं—

(१) अनुकरण

(२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार
(३) जाति की रक्षा
(४) आत्माभिव्यक्ति

इनमें अनुकरण की वृत्ति मुख्य है। अरस्तू ने कला को अनुकरण कहा है। कला का यह लक्षण नाटक के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है। दशरूपक में नाट्य को भावों की अनुकृति कहा है—'भावानुकृतिर्नाट्यम्'।

नाटक के तत्व

नाटक एक प्रकार का काव्य है किन्तु उसकी कुछ विशेषताएँ भी हैं। उन्हीं विशेषताओं के अनुकूल उसके तत्व होंगे। नाटक की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) उसमें कथानक होता है किन्तु उस कथानक में पात्रों के व्यक्तित्व की विशेषता रहती है।

(२) यह कथानक कवि द्वारा कहा नहीं जाता वरन् अभिनेताओं के कथोपकथन, भावभङ्गी और क्रिया-कलापों द्वारा रङ्गमञ्च पर घटित होता हुआ दिखाया जाता है।

(३) यह कार्य किसी उद्देश्य से किया जाता है; चाहे वह सामाजिकों में रस-संचार करना हो, चाहे सामाजिक समस्याओं को उपस्थित करना हो और चाहे दोनों।

इस प्रकार नाटक के लिए वस्तु (कथावस्तु या प्लॉट), पात्र, उनका चरित्र-चित्रण, अभिनय और उद्देश्य आवश्यक हैं। वस्तु, नायक (पात्र) और रसों के आधार पर नाटकों या रूपकों के भेद बतलाये हैं।[1] इसमें अभिनय इस कारण नहीं दिया गया कि यह तो सब में सम्मिलित रूप से वर्तमान रहता है। नाट्य-शास्त्र में अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आङ्गिक या कायिक, वाचिक, आहार्य (वेश-भूषा) और सात्विक। कथोपकथन वाचिक अभिनय में आ जाता है। रङ्गमञ्च का प्रश्न भी अभिनय से सम्बन्धित है। इसी प्रकार हिन्दू नाट्य-शास्त्र के अनुकूल चार तत्व रहते हैं—वस्तु, नेता या पात्र, रस और अभिनय। वृत्ति को भी पाँचवाँ तत्व कह सकते हैं। वृत्तियाँ एक प्रकार से क्रिया-प्रधान शैलियाँ होती हैं और अभिनय के ही अन्तर्गत आ जाती हैं। यूरोप की समीक्षा-पद्धति के अनुकूल जो तत्व गिनाये जाते हैं उनका इन तत्वों के साथ समन्वय हो सकता है। वे सब अङ्ग इन अङ्गों में समाविष्ट हो जाते हैं। यूरोपीय समीक्षकों के अनुसार जो उद्देश्य-तत्व है वह भारतीय नाटकों में रस-सञ्चार का रूप ले लेता है।

---

१ 'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः' —दशरूपक, (१।११)

नाटक और उपन्यास

यद्यपि नाटक और उपन्यास दोनों ही व्यक्ति के चरित्र का उद्घाटन करते हैं तथापि इनके दृष्टिकोण में भेद है। उपन्यास कथानक है जो प्रायः भूत का विषय होता है। नाटक में घटनायें, चाहे वह भूत की ही क्यों न हों, वर्तमान में आँखों के सामने घटती हुई दिखाई जाती हैं। उपन्यासकार के पास केवल शब्द ही होते हैं। नाटक में शब्दों की पूर्ति और पुष्टि अभिनय से भी होती है।

उपन्यास में भी कथावस्तु और पात्र होते हैं किन्तु नाटक की रूप-रचना में जो भेद होता है उसी के कारण इन तत्वों में भी भेद हो जाता है। उपन्यास कमरे में ले जाकर आराम के साथ सप्ताह-दो-सप्ताह में समाप्त किया जा सकता है। नाटक के लिए नाट्यशाला में बैठना पड़ता है परन्तु ऐसा तीन-चार घण्टे से अधिक नहीं हो सकता। इसके पात्रों के बारे में नाटककार कुछ नहीं कहता है। उनके चरित्र का उनके क्रिया-कलाप और उनके वार्तालाप से उद्घाटन होता है। उस वार्तालाप में वे चाहे स्वयं अपने बारे में किसी पात्र से कहें या वे स्वगत-कथन में अपने आन्तरिक भावों का परिचय दें या कोई दूसरा पात्र उनके चरित्र पर प्रकाश डाले। स्वयं पात्रों के कार्य भी उनके चरित्र के अनुमापक हो सकते हैं, जहाँ उपन्यासकार चरित्र-चित्रण के विश्लेषात्मक (अर्थात् चरित्र का स्वयं विश्लेषण कर) और अभिनयात्मक व नाटकीय (अर्थात् पात्रों के कथोपकथन और क्रिया-कलाप द्वारा) दोनों ही ढंगों को काम में ला सकता है वहाँ नाटककार परोक्ष या नाटकीय ढंग को ही काम में लाता है। वह साक्षात् या विश्लेषात्मक का सहारा नहीं ले सकता है। नाटककार के कथोपकथन में भी कुछ अन्तर आ जाता है। उसमें कथोपकथन की भावभंगी द्वारा पूर्ति होती रहती है। यदि इस कारण उसके भाषण कुछ अपूर्ण या संक्षिप्त हों तो भी अन्तर नहीं पड़ता। उपन्यासकार की भाँति नाटककार कुल बातों की व्याख्या करने नहीं आता। इसलिए कथोपकथन कहीं लम्बे भी हो सकते हैं। नाटक के तत्वों का नाटक की आवश्यकताओं के अनुकूल अध्ययन करना होगा। नाटक के दृष्टिकोण को अपने सामने रखते हुए इन तत्वों का विवेचन उचित होगा।

वस्तु

नाटक के कथानक को वस्तु कहते हैं। इसको अंग्रेजी में प्लॉट (Plot) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक आधिकारिक अर्थात् मुख्य, दूसरी प्रासंगिक अर्थात् प्रसंगवश आई हुई या गौण। आधिकारिक उसे कहते हैं जिसमें प्रधान पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा का मुख्य विषय हो। फल के स्वामी को अधिकारी कहते हैं—**'अधिकारः फलस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः'**, दशरूपक (१।१२)। आधिकारिक कथा का

सूत्र प्रारम्भ से फल-प्राप्ति तक रहता है। प्रासंगिक वस्तु का सम्बन्ध सीधा नायक और नायिका से न रहकर अन्य पात्रों से रहता है। वह कथा-भाग मूल कथा की गति को बढ़ाने के लिए होता है।

प्रासंगिक कथावस्तु में फल-सिद्धि नायक के अतिरिक्त किसी और को होती है। यह फल-सिद्धि नायक की अभीष्ट फल-सिद्धि से भिन्न होती है किन्तु उससे नायक का हितसाधन अवश्य होता है। रामायण में राम की कथा तो आधिकारिक कथा है, सुग्रीव की कथा प्रासंगिक है। सुग्रीव की बालि से रक्षा हुई किन्तु उसके कारण राम की कथा को गति मिली। हनुमान जी सीता जी की खोज को भेजे गये और वानरों की सेना तैयार हुई। प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—एक पताका और दूसरी प्रकरी। जब प्रासंगिक कथा का प्रसंग आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक चलता रहे तो वह 'पताका' कहलाती है—जैसे सुग्रीव की कथा। जब यह कथा-प्रसंग बीच में ही रुक जाय तो उसे 'प्रकरी' कहते हैं—जैसे शकुन्तला नाटक के छठे अंक में कंचुकी और दासियों का वार्तालाप।

कथावस्तु के आधार के सम्बन्ध से उसके तीन भेद किये गये हैं[1]—(१) जिसका आधार इतिहास, पुराण या परम्परागत जनश्रुति होती है, उसको प्रख्यात कहते हैं, (२) जिसको कवि या नाटककार अपनी कल्पना से गढ़ता है, उसको उत्पाद्य कहते हैं क्योंकि वह उत्पन्न की हुई होती है। आजकल के सामाजिक नाटक प्रायः इसी प्रकार के होते हैं, (३) जिसमें इतिहास और कल्पना दोनों का मिश्रण हो, उसे मिश्र कहते हैं। इनमें कल्पना के लिए कवि को काफी गुँजाइश रहती है, लेकिन वह एक निर्दिष्ट सीमा के बाहर नहीं जा सकता। इतिहास की मूल बातों में हेर-फेर करना इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग होगा। मूल बात को सरस या जोरदार बनाने के लिये प्रासंगिक बातों में थोड़ा-बहुत फेर-फार अवश्य किया जा सकता है। नाटककार तुलसीदास को औरङ्गजेब का समकालीन नहीं बना सकता है और न वह उनको रामोपासक के स्थान में कृष्णोपासक कह सकता है, ऐसा कहने से पाठकों के हृदय को आघात पहुँचेगा।

जहाँ नाटककार देखे कि उसके भाव की सत्यता में अन्तर पड़ता है, वहाँ भाव को ठीक करने के लिए अथवा अपने नायक को दोष से मुक्त करने के अर्थ वह थोड़ी कल्पना से काम ले सकता है। महाभारत में दुष्यन्त और शकुन्तला की जो कथा है, उसमें दुष्यन्त ने लोकापवाद के भय से शकुन्तला को स्वीकार नहीं किया है। यह बात

---

१. प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः —दशरूपक (१।१५-१६)

नायक को हमारी निगाह में नीचे गिरा देगी। नायकों को धीर और उदार वृत्ति वाला होना चाहिए। वैसे भी लोकापवाद-भय से अपनी प्रियतमा को स्वीकार न करना प्रेम के आदर्श के विरुद्ध है। कविकुलगुरु कालिदास ने इसी वैषम्य को देखकर अँगूठी और दुर्वासाशाप की कल्पना की। इसके कारण दुष्यन्त दोष से मुक्त हो जाता है।

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कथावस्तु के भाग या अंग बतलाये गये हैं। नाटकों में फल की प्राप्ति की इच्छा से किये हुए कार्य के व्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थाएँ

अवस्थाएँ

मानी गई हैं। ये प्रारम्भ से लगाकर फलागम तक की एक प्रकार की श्रेणियाँ हैं। ये अवस्थाएँ इस प्रकार हैं।

'अवस्थाः पञ्चकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्ति फलागमाः ॥'

—दशरूपक (१।१२)

(१) आरम्भ[१]—यह कथानक का प्रारम्भ है। इसमें किसी फल के लिए उत्सुकता होती है—जैसे शकुन्तला नाटक में शकुन्तला को देखने की इच्छा। (२) यत्न—जो इच्छा होती है उसकी पूर्ति का यत्न किया जाता है। दुष्यन्त का माढव्य से उसके बारे में सलाह करना यह सब प्रयत्न है। (३) प्राप्त्याशा—प्राप्ति की सम्भावना। इसमें विघ्नों का निवारण होकर फलप्राप्ति की आशा दिखाई जाती है। शकुन्तला की प्राप्ति में दुर्वासा ऋषि का शाप विघ्न बन जाता है। चौथे अङ्क के विष्कम्भक में उनके कोप के किञ्चित् शमन हो जाने से प्राप्त्याशा शुरू हो जाती है, लेकिन वह आशामात्र रहती है। उसमें शाप से मुक्त होने के रास्ते का दिग्दर्शन-मात्र कराया गया है। (४) नियताप्ति—इस चौथी श्रेणी में प्राप्ति की सम्भावना मात्र न रहकर निश्चिंतता आ जाती है। अँगूठी के मिल जाने से मिलन की आशा निश्चित-सी हो जाती है। (५) फलागम—फल की प्राप्ति। हमारे यहाँ के नाटक सुखान्त ही होते थे। इसलिए उनमें फल की प्राप्ति हो ही जाती थी। सातवें अङ्क में शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन हो जाता है।

यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) व्याख्या (Exposition)। (२) प्रारम्भिक संघर्षमय घटना (Initial Incident)—संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। (३) कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action)—द्वन्द्व, संघर्ष या समस्या स्पष्टता को पहुँच जाती है। (४) चरम सीमा (Crisis)—जहाँ

---

१. औत्सुक्यमात्रमारम्भः, फललाभाय भूयसे। —(दशरूपक)

पर संघर्ष अन्तिम सीमा को पहुँच जाता है, वहीं क्राइसिस आ जाता है। संघर्ष हमेशा नहीं चल सकता है। क्राइसिस पर उसका फल इधर या उधर होने लगता है। (५) संघर्ष में दो दल होते हैं उनमें एक पक्ष का ह्रास होने लगता है और दूसरे पक्ष की विजय की सम्भावना हो जाती है। इसको कार्य की ओर झुकाव (Falling-action) या डन्यूमाँ (Denoument) कहते हैं (६) अन्तिम अवस्था में जब कार्य हो जाता है, इसको केटेस्ट्रोफी (Catastrophe) कहते हैं, यही फल होता है। यह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। साधारण भाषा में (Catastrophe) बुरे फल को कहते हैं। मूल अर्थ में इसका अर्थ अन्तिम फल है। नाटक के उतार-चढ़ाव का इस प्रकार सांकेतिक निरूपण किया जा सकता है।
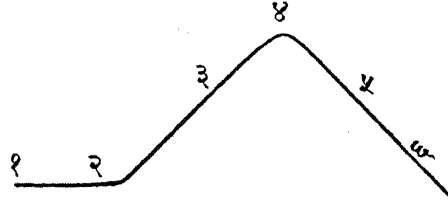
अपने यहाँ के नाटक में संघर्ष होता अवश्य था किन्तु उसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। योरोपीय नाटक-रचना में संघर्ष की मुख्यता रहती है। वहाँ संघर्ष, चाहे वह आन्तरिक हो चाहे बाह्य, नाटक की जान माना जाता है। हमारे यहाँ वह फल-सिद्धि में एक बाधा के रूप में स्वीकार किया जाता है। संस्कृत-नाटकों की कथावस्तु में संघर्ष अनुमेय रहता है, स्पष्ट नहीं होता। हमारे यहाँ फल भी निश्चित-सा ही रहता था, वह था नेता की अभीष्ट सिद्धि। नाट्यशास्त्र में मानी हुई अवस्थाओं की इनसे पूरी समानता तो नहीं हो सकती है किन्तु वे इनसे मिलती-जुलती हैं। आरम्भ नाम की अवस्था पहली अवस्था से मिलेगी, प्रयत्न दूसरी से, प्राप्त्याशा में तीसरी और चौथी की कुछ झलक आ जायगी, नियताप्ति पाँचवीं से मिलेगी और फलागम छठी से। हमारे यहाँ की अवस्थाओं का इस प्रकार सांकेतिक निरूपण किया जा सकता है—

(१) एक से प्रारम्भ होता है। (२) दूसरी में प्रयत्न शुरू होता है। वह कार्य को आगे बढ़ाता है। फिर कोई बाधा आ जाती है, गिरी हुई लकीर बाधा की द्योतक है।

(३) प्राप्त्याशा में बाधा मिटने की आशा हो जाती है। (४) नियताप्ति में इसका निश्चय हो जाता है। (५) फलागम में फल की प्राप्ति हो जाती है।

इसका अभिप्राय कथावस्तु के उन चमत्कारपूर्ण अंगों से है जो कथावस्तु को कार्य की ओर ले जाते हैं। अर्थप्रकृतियों को दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'प्रयोजनसिद्धिहेतवः' कहा है। ये भी पाँच हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य।

अर्थप्रकृतियाँ

इनमें बीज तो प्रारम्भ नाम की अवस्था से मिलता है। जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है, उसी प्रकार बीज में नाटक के फल की सम्भावना रहती है। बिन्दु में तेल की बूँद का रूपक है। यह पानी के ऊपर फैलकर विस्तार का द्योतक बन जाता है। पताका और प्रकरी में छोटी अवान्तर कथाएँ होती हैं, जो मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं और कार्य अन्तिम फल को कहते हैं। कार्य और फलागम तो मिल जाते हैं किन्तु प्राप्त्याशा और नियताप्ति, पताका और प्रकरी से मेल नहीं खाती। प्रकरी द्वारा प्राप्ति की आशा हो जाने के आधार पर ('शकुन्तला' में दुर्वासा के प्रसन्न होने पर) शायद प्रकरी और प्राप्त्याशा का तादात्म्य किया गया है।

सन्धि कहते हैं मेल या जोड़ को। इसमें अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का मेल कराया जाता है। ये सन्धियाँ एक-एक अवस्था की समाप्ति तक चलती हैं, अर्थ-प्रकृतियों से योग कराती हैं। ये संख्या में और उनके अनुकूल पाँच हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श या अवमर्श तथा (५) निर्वहण अथवा उपसंहार।

संधियाँ

प्रारम्भ नाम की अवस्था के साथ योग होने से जहाँ अनेक रसों और अर्थों के द्योतक बीज की उत्पत्ति होती है, वहाँ मुख-सन्धि होती है। प्रतिमुख में बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप से विकसित होता हुआ दिखाई देता है। उपाय के दब जाने और उसकी खोज के कारण विस्तार और भी अधिक दिखाई पड़ता है, यह गर्भ-सन्धि इसलिए कहलाती है कि इसके भीतर फल छिपा रहता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग रहता है। अवमर्श में नियताप्ति और प्रकरी का योग रहता है और नई बाधा उपस्थित होती है। गर्भ और अवमर्श सन्धियों में पताका और प्रकरी की प्राप्त्याशा और नियताप्ति से योग आवश्यक नहीं है। निर्वहण-सन्धि में कार्य, फलागम का योग होकर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है।

अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं में यही अन्तर है कि अर्थप्रकृतियाँ कार्य की सिद्धि के हेतुओं अर्थात् उपायों व साधनों से सम्बन्ध रखती है (**'अर्थप्रकृतयःकार्यसिद्धिहेतवः'** -सा० द०)। अवस्थाएँ उस सिद्धि की ओर अग्रसर होने की श्रेणियाँ हैं। सन्धियाँ

अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं के मेल से बने हुए कथानक के चमत्कारिक अंशों को कहते हैं। दशरूपक ने सन्धि का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंच संधयः॥'

—दशरूपक (१।२२-२३)

अर्थात् जहाँ पाँच अर्थप्रकृतियाँ यथाक्रम रूप से समन्वित हों वहाँ क्रमशः मुखादि पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं। साहित्यदर्पणकार ने भी प्रायः यही परिभाषा दी है, उसमें **'इतिवृत्तस्य भागाः'** और जोड़ दिया है अर्थात् वे कथानक के भाग हैं। तीनों में दृष्टिकोण का भेद है—अर्थप्रकृतियाँ कार्यसिद्धि के साधनों से, अवस्थाएँ कार्यसिद्धि की श्रेणियों से और सन्धियाँ कथानक के भाग से सम्बन्ध रखती हैं। सन्धि के पाँच उद्देश्य दशरूपककार ने बताए हैं (१) इष्टार्थ की रचना (२) छिपा लेने योग्य अंश का गोपन (३) प्रकाश करने योग्य अंश का प्रकाश (४) राग-प्रयोग (५) आश्चर्य उत्पन्न करना।

इष्टस्याऽर्थस्य रचना, गोप्य गुप्तिः प्रकाशनम्।
रागः प्रयोगस्याऽऽश्चर्यः वृत्तान्तस्यानुपक्षयः॥

—(दशरूपक)

इस प्रकार सन्धि का सम्बन्ध वृत्तान्त से अर्थात् कथानक से सम्बन्धित है। ये कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों को जोड़ने का कार्य करती हैं।

सन्धियों का सांकेतिक निरूपण नीचे दिया जाता है—
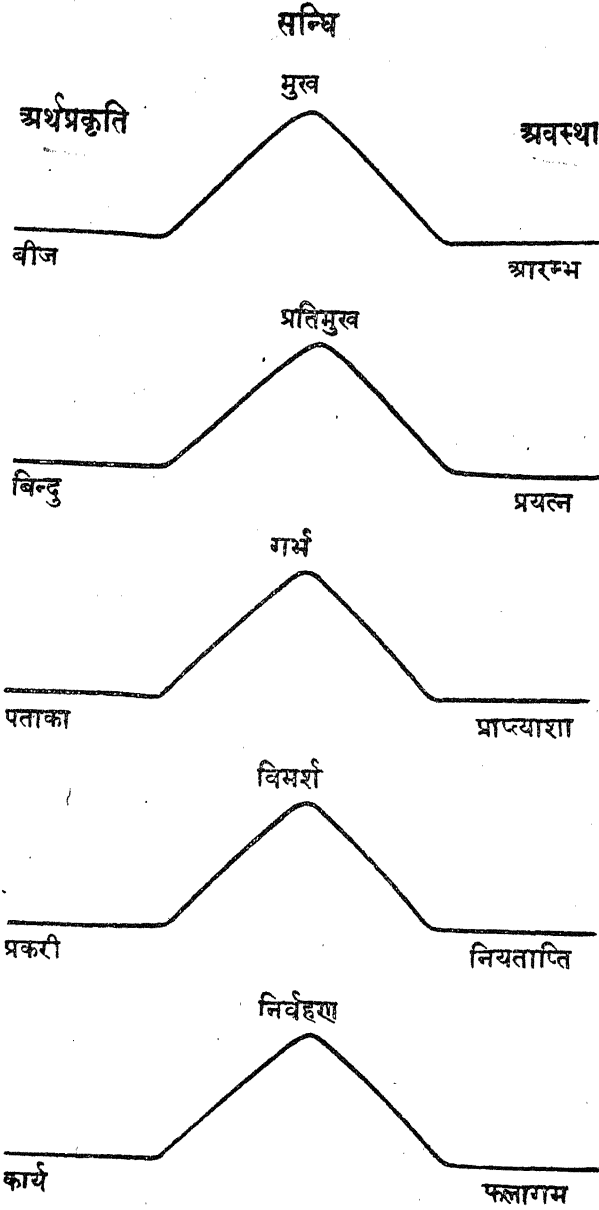
रत्नावली में मुख-सन्धि नाटक के आरम्भ से लेकर दूसरे अङ्क के उस स्थान तक जहाँ सागरिका (रत्नावली) राजा का चित्र बनाती है, चलती है। प्रतिमुख-सन्धि सागरिका के चित्र तैयार करने से आरम्भ होकर दूसरे अङ्क के उस अंश तक चलती है जहाँ महारानी वासवदत्ता महाराज उदयन को सागरिका का बनाया हुआ चित्र देखते हुए पकड़ लेती है और अपना रोष प्रकट करती है। गर्भ-सन्धि रत्नावली में तीसरे अङ्क में आती है जहाँ सागरिका वासवदत्ता का वेष धारण कर आत्महत्या का उद्योग करती देखी जाती है। राजा और विदूषक उसे इस कार्य से विरत कर देते हैं। राजा को यह जानकर प्रसन्नता होती है कि वह रानी नहीं है, सागरिका है। उससे हृदय खोलकर बात करते हैं, फिर रानी आ जाती है और क्रोध प्रकट करती है। इस प्रकार राजा का रानी और सागरिका से बार-बार मिलन और विच्छेद होता है। अवमर्श या विमर्श-सन्धि रत्नावली के चौथे अङ्क में उस स्थान तक चलती है जब कि अग्नि के कारण गड़बड़ मचती है। निर्वहण-सन्धि अवमर्श-सन्धि के अन्त से चौथे अङ्क तक चलती है।

कथावस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है। एक वह जो प्रधान रूप से मंच पर घटित होती हुई दिखाई जाती है, इसको दृश्य-श्रव्य कहते हैं। दूसरी वह जिसको घटती हुई न दिखलाकर उसकी पात्रों द्वारा सूचना दिला दी जाती है जिससे कि कथानक की पूर्ति हो सके, इसको सूच्य कहते हैं। कुछ दृश्य तो मंच पर वर्जित रहते हैं—जैसे मृत्यु, राष्ट्रविप्लव, स्नान, भोजन आदि। इन चीजों का मंच पर दिखलाना रस में बाधा डालता है, इसलिए ऐसे दृश्यों को विरोधक कहते हैं। कुछ दृश्य ऐसे होते हैं जो अभिनय के योग्य नहीं होते अथवा गौण होते हैं किन्तु कथा का सूत्र मिलाये रखने के लिए इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जो सामग्री प्रधान रूप से मंच पर दिखाई जाता है, वह अङ्कों और दृश्यों में बँट जाती है। अङ्क समाप्त होने पर सब पात्र बाहर निकल जाते हैं।

अर्थोपक्षेपक

सूच्य वस्तु की सूचना देने के जो साधन हैं, उनको अर्थोपक्षेपक कहते हैं। ये पाँच होते हैं—

(क) **विष्कम्भक**—यह वह दृश्य है जिसमें पहले हो जाने वाली या बाद में होने वाली घटना की सूचना दी जाती है। यह केवल दो पात्रों का ही कथोपकथन होता है। ये पात्र प्रधान पात्रों में से नहीं होते। यह अङ्क के पहले अर्थात् नाटक के प्रारम्भ में अथवा दो अङ्कों के बीच में आ सकता है। यह दो प्रकार का होता है, एक शुद्ध और दूसरा संकर। जिसमें पात्र उत्तम श्रेणी के होते हैं और संस्कृत बोलते हैं वह शुद्ध कहलाता है और जिसमें पात्र मध्यम और निम्न श्रेणी के होते हैं और संस्कृत के साथ प्राकृत भी बोलते हैं वह संकर कहलाता है। अब ये भेद कुछ निरर्थक से हो गये हैं

क्योंकि आजकल ऊँच-नीच का कोई अन्तर नहीं रहा है और न प्राकृत और संस्कृत बोलने वाले पात्र ही रहे हैं। इन सब का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

(ख) **चूलिका**—जिस कथा-भाग की पर्दे के पीछे से (जिसको संस्कृत नाटककार 'नेपथ्य में' ऐसा संकेत कर लिखा करते थे) सूचना दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं—जैसे महावीरचरित में चौथे अङ्क में विष्कम्भक के आदि में आये हुए नीचे के अवतरण से यह सूचित हो जाता है कि रामचन्द्र जी द्वारा परशुराम पर विजय प्राप्त कर ली गई है और आगे यही प्रसंग चलेगा—

('पर्दे के पीछे)

सुनो जी सुनो देवताओ! मंगल मनाओ, मनाओ।
जय कृशाश्व के शिष्यवर विश्वामित्र मुनीस।
जय जय दिनपतिबस के क्षत्रि अवध के ईस॥
अभय करत जो जगत को करि भृगुपतिमद मन्द।
सरन देत त्रैलोक्य कहँ जयति भानुकुलचन्द॥'

—लाला सीताराम 'भूप' द्वारा अनुवादित

(ग) **अङ्कास्य**—अङ्क के अन्त में जहाँ बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा अगले अङ्क की कथा की सूचना दिलाई जाती है उसे अङ्कास्य कहते हैं। इसके द्वारा खेले हुए अङ्क की कथा के साथ खेले जाने वाले अङ्क की संगति मिला दी जाती है।

महावीरचरित के दूसरे अङ्क के अन्त में सुमन्त्र कहते हैं—

'(सुमन्त्र आता है)

सुमन्त्र—वशिष्ठ और विश्वामित्र जी आप लोगों को परशुराम जी समेत बुला रहे हैं।

और सब—दोनों महात्मा कहाँ हैं?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के डेरे में।

राम—बड़ों की आज्ञा से मुझे जाना पड़ता है।

सब—चलो, वहीं चलें। (सब बाहर जाते हैं)'

अगले अङ्क अर्थात् तीसरे अङ्क का दृश्य दशरथ के डेरे से प्रारम्भ होता है और पूर्व अङ्क की सूचना के अनुसार ही वशिष्ठ और विश्वामित्र परशुराम से वार्तालाप करते हैं।

(घ) **अङ्कावतार**—जहाँ पर बिना पात्रों के बदले हुए पहले अङ्क की ही कथा आगे चलाई जाती है वहाँ अङ्कावतार होता है। पात्र वे ही रहते हैं। पहले अङ्क के पात्र बाहर जाकर फिर लौट आते हैं।

'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अङ्क में राजा, योगिनी आदि जो पात्र बातचीत

करते हैं वे ही दूसरे अङ्क में दिखाये जाते है।

(ङ) प्रवेशक—प्रवेशक द्वारा घटनाओं की सूचना दी जाती है। विष्कम्भक और प्रवेशक में यह भेद है कि प्रवेशक दो अङ्कों के बीच में ही आता है। इसके पात्र सब निम्न श्रेणी के होते हैं और प्राकृत बोलते हैं।

'शकुन्तला' में सिपाही और मछली बेचने वाले की बातचीत प्रवेशक का अच्छा उदाहरण है।

चूलिका, विष्कम्भक आदि से वह काम निकलता है जो उपन्यास या महाकाव्य में लेखक या कवि द्वारा दिए हुए घटनाओं के विवरण से होता है। इनमें रसोत्पादन की अपेक्षा विवरण (Narration) का नाटकीय ढंग से प्रयोग होता है।

नाटक की कथावस्तु कथोपकथन अथवा संवाद के रूप में ही रहती है। यह सामाजिकों अथवा दर्शकों के लिए तो श्राव्य रहती ही है किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनके सुनने से कुछ पात्र वर्जित कर दिये जाते हैं, इसी आधार पर कथोपकथन के तीन विभाग किये गए हैं—

कथोपकथन के प्रकार

(१) **श्राव्य या सर्वश्राव्य**—जो सबके सुनने के लिए हो, इसी को प्रकट या प्रकाशन भी कहते हैं।

(२) **अश्राव्य**—जो दूसरों के सुनने के लिए न हो। यह एक प्रकार का मुखरित रूप से विचार करना है, इसी को स्वगत या आत्मगत कहते हैं। यद्यपि आजकल इसको स्वाभाविकता के विरुद्ध समझकर इसके हटाने का उद्योग किया जाता है तथापि कहीं-कहीं इसका प्रयोग स्वाभाविकता बढ़ाने वाला होता है। भावावेष में लोग स्वगत बोलने लग जाते हैं किन्तु यह बड़ा न होना चाहिए। आजकल स्वगत की अस्वाभाविकता मिटाने के लिए एक विश्वासपात्र को मंच पर ले आते हैं जिसके आगे पात्र अपना हृदय खोलकर रख देता है। इसमें आत्मविश्लेषण अच्छा हो जाता है। उपन्यासकार जो कुछ विश्लेषणात्मक चित्रण द्वारा उपस्थित करता है वह इससे हो जाता है।

(३) **नियत श्राव्य**—जो कुछ पात्रों के सुनने के लिए हो और कुछ के लिए न हो। यह दो तरह का है—एक अपवारित और दूसरा जनान्तिक। अपवारित में जिस पात्र से बात को छिपाना हो उसकी ओर से मुँह फेरकर बात कही जाती है। जनान्तिक में अँगूठा और कन-अँगुली को छोड़कर तीन अँगुलियों की पताका-सी बनाकर उसकी ओट में एक या दो पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों से बात की जाती है।

आकाशभाषित भी कथोपकथन का एक प्रकार माना गया है। इसमें कोई पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर किसी कल्पित व्यक्ति से बात करता हुआ दिखाया जाता है। वह 'क्या कहा' आदि ऐसे वाक्य कहता जाता है जिससे मालूम पड़े कि वास्तव में

किसी दूसरे से बात कर रहा है। यह आकाशवाणी नहीं है। प्राचीन रूपकों में भाण नाम का एकांकी आकाशभाषित के ही रूप में होता है। साधारण नाटकों में भी जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में भी आकाशभाषित का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का **'विषस्य विषमौषधम्'** नाम का भाण इसका अच्छा उदाहरण है।

पात्र

नाटक और उपन्यास में पात्रों की मुख्यता रहती है। नाटक के सभी तत्त्व पात्रों के ही आश्रित रहते हैं।

नायक या नेता प्रधान पात्र को कहते हैं। नेता शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ ले चलना होता है। जो कथा को फल की ओर ले जाता है वही नेता होता है। इसी को फल-प्राप्ति होती है। कहीं-कहीं नाटकों या उपन्यासों में यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इसका नायक कौन है। नायक जानने का यही साधन है कि हम देखें कि कथा का फल किसके साथ लगा हुआ है। श्रोता, द्रष्टा या पाठक किसके उत्थान या पतन में अधिक से अधिक रुचि रखते हैं। फल हमेशा मूर्त नहीं होता। प्रतिज्ञा का पूर्ण होना एक प्रकार का फल ही होता है।

नायक के गुण

हमारे यहाँ के नाटकों में नायक को सब उच्च और उदार गुणों से सम्पन्न माना गया है। उसके लिए विनयशील, सुन्दर, त्यागी, कार्य करने में कुशल, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, शुद्ध, भाषण-पटु, उच्चवंशज, स्थिरचित्त, युवा, बुद्धियुक्त, साहसी, स्मृति वाला, प्रज्ञावान्, कलाकार, स्वाभिमानी, शूर, तेजस्वी और शास्त्रज्ञ होना आवश्यक बतलाया है।[1]

उसमें अभिजात लोगों या भद्र पुरुषों के सब गुण आ जाते हैं। आजकल समय पलट गया है। किसी मनुष्य के भद्र पुरुष होने के कारण उसका किसी उच्च कुल में जन्म होना आवश्यक नहीं है। कीचड़ से कमल, कोयले से हीरा और दीप-शिखा से काजल उत्पन्न होता है।

इसी कारण हमारे यहाँ के नाटकों पर यह आक्षेप किया जाता है कि उनमें चरित्र

---

१. 'नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी, शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥'

—दशरूपक (२।१, २)

के परिवर्तन के लिए गुंजाइश नहीं। जो चरित्र स्वयं विकसित है, उसका क्या विकास हो सकता है? पूर्ण चन्द्र की और क्या वृद्धि होगी? यह आक्षेप किसी अंश तक ठीक है किन्तु और दूसरा पहलू भी है। वह यह है कि हमारे यहाँ के नाटककार रस को अधिक महत्ता देते थे। उन रसों में भी शृंगार, करुण और वीर का ही बोलबोला रहा है। इन रसों के लिए धीर और उदार वृत्ति वाले नायकों को ही आवश्यकता रहती है। फिर वे अपने दर्शकों को शुरू से ही एक उदारचरित के सम्पर्क में लाना चाहते थे। नाटक के कार्य में नायक नये गुणों को प्राप्त नहीं करता है। वरन् उसके गुणों का क्रमशः उद्घाटन होता रहता है। हमारे यहाँ के नाटककार नायक में बुराई दिखाकर जनता के नैतिक विचारों को आघात नहीं पहुँचाना चाहते थे। नाटक में लोकप्रतिष्ठित नायक को रखने से उसके प्रति जनता सहज में आकर्षित हो जाती है। वह एक प्रकार से सब का सहज आलम्बन होता है। इस कारण साधारणीकरण में कोई कठिनाई नहीं होती।

नायक चार प्रकार के होते हैं—

	(१) धीरोदात्त
नायकों के	(२) धीरललित
प्रकार	(३) धीरप्रशान्त
	(४) धीरोद्धत्त

वे सभी धीर होते हैं क्योंकि यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि नायक का सर्व प्रकार की श्रेष्ठताओं से सम्पन्न होना वाञ्छनीय है। श्रेष्ठता के लिए धीरता आवश्यक है। जो धीर नहीं है, वह न तो वीर ही हो सकता है और न उसे प्रेमी ही कहना ठीक होगा। यद्यपि सभी नायक धीर होते हैं तथापि श्री रामचन्द्र धीरता के आदर्श माने गये हैं।[1]

धीरोदात्त नायक—इसका लक्षण दशरूपक में इस प्रकार दिया गया है—

'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ॥'

—दशरूपक (२।४, ५)

१ 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥'

—रामचरितमानस (अयोध्याकाण्ड का मंगलाचरण)

अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के मुखरूपी कमल की शोभा जो राज्याभिषेक से न प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न वनवास के दुःख से मलिन हुई, सदा मेरे लिए मंगल देने वाली हो।

अर्थात् शोक-क्रोधादि से अविचलित जिसका अन्तःकरण है (**महासत्त्वः= शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तः सत्वः**) अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान, आत्मश्लाघा न करने वाला, अहंकार-शून्य और दृढ़व्रत अर्थात् अपनी अङ्गीकृत बात का निर्वाह करने वाला धीरोदात्त नायक कहलाता है।

यह बड़ा उदारचरित्र होता है। इसमें शक्ति के साथ क्षमा तथा दृढ़ता और आत्मगौरव के साथ विनय तथा निरभिमानता रहती है। इसके सबसे अच्छे उदाहरण मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी और धर्मधुरीण युधिष्ठिर हैं। श्री रामचन्द्रजी में शील की प्रधानता है। वे अपनी उस बड़ाई को नहीं सुनना चाहते जिसमें दूसरे का अपमान हो। उत्तररामचरित में चित्रपट को दिखाते हुए जब लक्ष्मण जी परशुराम की ओर इशारा करते हैं तब वे तुरन्त ही उस दृश्य से आगे बढ़ने को कह देते हैं। 'नागानन्द' नाटक के नेता जीमूतवाहन भी धीरोदात्त नायकों में ही माने गये हैं। वे वास्तव में धीरप्रशान्त कहलाने योग्य थे लेकिन राजा होने के कारण इस गौरव को प्राप्त न कर सके। जीमूत-वाहन ने नाग को बचाने के अर्थ अपना शरीर गरुड़ के खाने के लिए प्रसन्नतापूर्वक दे दिया है। उसके सम्बन्ध में गरुड़ जी कहते हैं—

'खचि के पीवत रक्त न धीरज नेकहु या मन माँहि टरो है।
नोचत माँस अहार के काज नहीं मुख को रँगहू बिगरो है॥
गात में पीर असह्य है रोम पै एक नहीं अँग माँहि खरो है।
देखत है उपकारी बिचारि कै मोहि सों नैनन नेह भरो है॥'

अन्तिम पंक्ति में जीमूतवाहन की सज्जनता पूरे उभार में आ जाती है। उसकी नीचे की उक्ति भी देखिए—

'शिरामुखैः स्यन्दत एवं रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात् वः गिरतो गुरुत्मन्॥'

—धीरोदात्त के लक्षण पर दी हुई दशरूपक की टीका से उद्धृत।

अर्थात् मेरी शिराओं से रुधिर चू रहा है और अभी मेरे शरीर में माँस है, हे महान्! जब तक तुम्हारी पूर्ण तृप्ति नहीं होती है तब तक तुम खाने से क्यों विराम लेते हो।

धीरललित नायक—यह बड़े कोमल स्वभाव का होता है। यह सुखान्वेषी, कलाविद् और निश्चिन्त होता है—**'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः'** (दशरूपक, २।३) जैसे 'शकुन्तला' के दुष्यन्त या 'रत्नावली' के वत्सराज। शृङ्गार-प्रधान नाटकों में ऐसे ही नाटक रहते हैं। दुष्यन्त में हम ये सब गुण पाते हैं। वह कलाविद् भी हैं। उसने शकुन्तला का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा था। ऐसे नायक अपना राज-काज योग्य मंत्रियों पर छोड़ रखते थे। उनकी प्रजा भी दुःखी नहीं रहती थी। वत्सराज

महाराज उदयन के लिए कहा गया है—'सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः'—फिर भी यह आदर्श नहीं कहे जा सकते।

धीरप्रशान्त नायक—यह क्षत्रिय नहीं होता क्योंकि क्षत्रियों में सन्तोष नहीं पाया जाता। 'सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः' (दशरूपक, २।४) ऐसा नायक अधिकतर ब्राह्मण या वैश्य होता है जिसमें अन्य गुणों के साथ शान्त स्वभाव होने की मुख्यता भी होती है—जैसे 'मालती-माधव' में माधव और 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त। इस नायक में ललित के भी गुण होते हैं।

धीरोद्धत नायक—यह मायावी, आत्मप्रशंसापरायण तथा स्वभाव से प्रचण्ड, धोखेबाज और चपल होता है। यह अहंकार और दर्प से भरा रहता है—

'दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥'

—दशरूपक (२।५, ६)

भीमसेन, मेघनाद, रावण, परशुराम आदि इसके उदाहरण हैं।

जहाँ धीरोदात्त में आत्मश्लाघा का अभाव रहता है वहाँ धीरोद्धत में उसका प्राधान्य दिखाई पड़ता है। 'महावीरचरित' में परशुराम की उक्ति देखिए—

'जीति त्रिलोक जो गर्वित होय महेस समेत पहार उठावा।
सो दसकंधर को अभिमान जो खेल सों आवत सौंह नसावा॥
ऐसहुँ हैहय के बलवान नरेस को कोपि जो मारि गिरावा।
काटि के डार से बाहु हजार जो पेड़ के ठूँठ समान बनावा॥
धूमिकै भूमि पै बार इकीस जो, क्षत्रियवंस समूल संहारा।
राह बनाइ जो हंसन के हित बानन फौरिके क्रौंच पहारा॥
भृंगि हेरम्ब सहाय समेत जो तारक के रिपुहूँ को पछारा।
सो सुनिकै गुरुचाप को भंजन आवत है करि कोप अपारा॥'

—लाला सीताराम 'भूप' कृत अनुवाद से

शृंगार रस के सम्बन्ध में नायकों के चार भेद और होते हैं। ऊपर के नायकों में वे अवान्तर भेद मानना ठीक नहीं प्रतीत होता है (यद्यपि ऐसा सभी ने माना है) क्योंकि धीरोदात्त या धीरप्रशान्त, शठ या धृष्ट नहीं हो सकता, ये स्वतन्त्र भेद हैं। पत्नियों के सम्बन्ध के आधार पर दक्षिण, शठादि नायकों का विभाजन किया गया है। ये विभाग इस प्रकार हैं—

(१) अनुकूल, (२) दक्षिण, (३) धृष्ट और (४) शठ।

अनुकूल—

'जो पर बनिता तें विमुख, सानुकूल सुखदानि।'

अनुकूल नायक एकपत्नीव्रत धारण करने वाले को कहते हैं—जैसे श्री रामचन्द्र जी जिनके सम्बन्ध में 'तोषनिधि जी' कहते हैं—

'नैनन ते सीय रूप सिवाय चितौय न भूलेहुँ चित्र की बा में।'

राम जिन्होंने राजसूय यज्ञ में भी सीता की स्वर्णमयी मूर्ति से काम चलाया था—

'मैथिली समेत तौ अनेक दान मैं दियो।
राजसूय आदि दै अनेक यज्ञ मैं कियो॥
सीय-त्याग पाप ते हिये सु हौं महा डरौं।
और एक अश्वमेध जानकी बिना करौं।'

× × ×

'कारिये यत भूषण रूपरयी। मिथिलेश सुता इक स्वर्णमयी।
ऋषिराज सबै ऋषि बोलि लिये। सूचि सों सब यज्ञ विधान किये।'

—रामचन्द्रिका (३५।२,४)

शेष नायकों का बहु विवाह की प्रथा से सम्बन्ध है।

दक्षिण—

'जु बहु तियन को सुखद सम, सो दक्षिण गुनखानि।'

—जगद्विनोद चन्द संख्या २८६ (पद्माकर पंचामृत, पृष्ठ १४२)

दक्षिण नायक एक से अधिक पत्नियाँ रखता हुआ भी प्रधान महिषि का आदर करता है। यथासम्भव सबको प्रसन्न रखना उसका एक विशेष गुण है किन्तु वह इस बात का ध्यान रखता है कि उसका अन्य स्त्री-प्रेम प्रधान महिषी पर प्रकट न हो जाय। श्रीकृष्ण जी के पद्माकार का निम्नोल्लिखित दोहा इस प्रकार के नायक की मनोवृत्ति को बड़ी सुन्दर रीति से व्यक्त करता है—

'निज-निज मन के चुनि सबै, फूल लेहु इक बार।
यह कहि कान्ह कदंब की हरषि हलाई डार॥'

—जगद्विनोद छंद संख्या २६० (पद्माकर पंचामृत, पृ० १४३)

'शकुन्तला' के दुष्यन्त, 'रत्नावली' के उदयन तथा 'मालविकाग्निमित्र' के अग्निमित्र इसी प्रकार के नायक हैं। महाराज दुष्यन्त को शकुन्तला का चित्र छिपाते हुए देख कर अप्सरा सानुमति कहती है—

'सानुमति—इन्होंने दूसरे को हृदय दे डाला है सही, पर ये अपनी पहली रानी के प्रेम को भी ठेस नहीं देना चाहते। पर सच्ची बात तो यह है कि राजा के मन में रानी के लिए कुछ भी प्रेम बचा नहीं रह सकता है।'

—शकुन्तला (छठा अंक)

शठ—

'सहित काज मधुरै-मधुर, बैननि कहै बनाय।
उर अन्तर घट कपटमय, सो सठ नायक आय॥'
—जगद्विनोद छंद संख्या २६४ (पद्माकर पंचामृत, पृ० ४१३)

शठ नायक का अन्य स्त्रियों के प्रति प्रेम प्रकट-सा रहता है किन्तु वह निर्लज्ज नहीं होता—

'कछु और करै कछु और कहै कछु और धरै न पिछानि परै।
कछु और ही देखै दिखावै कछू क्यों हियान मैं साँच-सी मानी परै॥
'चिरजीवी' चखाचखी में परि के कछु रोष-सी जोति बनानी परै।
कपटीन की कौन कहै करतूत अभूत अली नहिं जानि परै।'
—लेखक के नवरस (पृष्ठ २२८) से उद्धृत

धृष्ट—

'धरै लाज उर में न कछु, करै दोष निरसंक।
टरै न टारें कैसहूँ, कह्यो धृष्ट सकलंक॥'

धृष्ट नायक खुले-खुले दुराचरण करता है और निर्लज्ज होता है। वह अपनी प्रधान महिषी का जी दुखाने में नहीं चूकता और उसकी ताड़ना की भी परवाह नहीं करता। उसकी पत्नी खण्डिता नायिका की कोटि में आयगी—

'बरज्यो न मानत हौ बार-बार बरज्यौ मैं,
कौन काम मेरे इत भौन मैं न आइए।
लाज को न लेस जग-हाँसी को न डर मन,
हँसत-हँसत आनने बात न बनाइए॥
कवि 'मतिराम' नित उठि कलिकानि करो,
नित झूँठी सौंहें करो, नित बिसराइए।
ताके पग लागो निसि जागि जाके उर लागे,
मेरे पग लागि उर आगि न लगाइए॥'
—मतिराम-ग्रन्थावली (पृष्ठ ५४)

× × ×

"उति गैलिन में धिधिकारहू जात, तऊ उत ही छवि छैयत हैं।
तुम्हें देखिके आँखिन ते अपने हम, जीवित ही मरि जैयत हैं॥
'चिरजीवी' कहा लों कहैं तुम ते, हम जाते सदा दुख पैयत हैं।
तुम झूँठ कहे नहिं लाजत हो, हम ही उलटे हो लजैयत हैं॥"
—लेखक के नवरस (पृष्ठ २२७) से उद्धृत

नायक का प्रतिद्वन्द्वी *प्रतिनायक* कहलाता है। यह सदा धीरोद्धत होता है। प्रासङ्गिक कथावस्तु का नायक जो नेता को सहायक होता है *पीठमर्द* कहलाता है जैसे—'मालती-माधव' का मकरन्द।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में जो हास्य का तत्व रहता था वह प्रायः इसी पात्र में केन्द्रस्थ कर दिया जाता था। अंग्रेजी नाटकों का 'क्लाउन' इसी की नकल बताई जाती है। विदूषक ब्राह्मण होता था और यह अधिकतर पेटू हुआ करता था—जैसे प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' नाटक में मुद्गल नाम का विदूषक आता है। मालूम पड़ता है उस समय में ब्राह्मण आजकल की भाँति भोजन-भट्ट होते थे। वह राजा का विश्वासपात्र और सलाहकार भी होता था। शायद इसीलिए वह ब्राह्मण रहता था क्योंकि उस समय मंत्रित्व (सलाह देना) ब्राह्मणों का स्वाभाविक कार्य था। वह उनके प्रेम-कार्य में मंत्री होता था। उसकी अन्तःपुर में भी गति होती थी। राजा उसको 'वयस्य' या 'मित्र' कहकर सम्बोधित करते थे।

नाटकों में और भी बहुत तरह के पात्र थे जिनका वर्णन विस्तार-भय से नहीं दिया जाता। हमारे यहाँ नायिकाओं के विभाजन का विस्तार-क्रम दोष की हद तक पहुँच गया था। यह विभाजन यद्यपि अधिकतर श्रृंगार से ही सम्बन्ध रखता था तथापि इसके द्वारा स्त्रियों की मनोवृत्ति का अच्छा अध्ययन मिलता है।

नायक को भाँति नायिकाओं के भी सामान्य गुण शास्त्रों में बतलाये गये हैं जिनके देखने से प्रतीत होता है कि साहित्य में नायिकाओं का बड़ा उच्च आदर्श था। उनमें यौवन के साथ कुल का गर्व तथा गुण, शील तथा प्रेम की आन्तरिक श्रेष्ठताएँ भी होती थीं। कुल का गर्व प्रायः स्त्रियों को दुश्चरित्र होने से बचाये रखता है, इसलिए उसका भी होना आवश्यक है। नायिका के आठ गुण या अङ्ग माने गये हैं, इन गुणों से युक्त अष्टाङ्गवती नायिका कहलाती थी। वे गुण इस प्रकार हैं—

'जा कामिन में देखिये, पूरन आठों अंग।
ताहि बखाने नायिका, त्रिभुवन मोहन रंग॥
पहले जोबन रूप गुन, सील प्रेम पहिचानि।
कुल वैभव भूषण बहुरि, आठौ अंग बखानि॥'

—देव लेखक (के नवरस, पृष्ठ १५९ से उद्धृत)

इस प्रकार संस्कृत नाटकों में पात्र प्रायः एक बँधे हुए कैंडे के होते थे, तब भी उनमें व्यक्तित्व रहता था। 'उत्तररामचरित' के राम, 'चण्ड कौशिक' के हरिश्चन्द्र आदि नायक आदर्श होते हुए भी अपना व्यक्तित्व रखते हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि नायकों के आदर्श होने के कारण उनमें विकास के लिए कम स्थान रहता है। फिर भी उनके विचारों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन दिखाई देता है जो उनको नितान्त अचल होने से

बचाये रखता है।

भाव का संघर्ष पहले नाटकों में भी रहता था। रस-विधान में इसको संघर्ष नहीं कहा गया है किन्तु भाव-संधि की संज्ञा दी गई है। पात्र अपनी स्वाभाविक मनुष्य-सुलभ कमजोरी की ओर झुकते हैं किन्तु एक साथ सम्हल जाते हैं। 'उत्तररामचरित' में शम्बूक के वध के समय राम में कुछ दया का भाव आया मालूम पड़ता है किन्तु वे तुरन्त ही उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में भी मानवी कमजोरी की एक क्षीण रेखा दिखाई पड़ती है किन्तु वह व्यापक कर्त्तव्य के प्रकाश में विलीन-सी हो जाती है।

चरित्र-चित्रण

नाटक में चरित्र-चित्रण विश्लेषात्मक या प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता है। यह तो उपन्यासकार का ही विशेषाधिकार है। वह स्वयं अपने पात्रों का पाठकों से परिचय कराये तथा उनकी प्रकृति और उनके हृदय के गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डाले। नाटक में तो चरित्र-चित्रण के परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से काम लिया जाता है। या तो नाटक के पात्र एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं या पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्‌घाटन करते हैं। एक पात्र दूसरे के चरित्र के मूल्यांकन में पक्षपात या ईर्ष्यावश गलती कर सकता है किन्तु यह प्रायः ईमानदारी का होता है। पात्र जो अपने बारे में स्वगत रूप से अथवा अपने घनिष्ट मित्र से अपने हृदय का भार हलका करने के लिए कहता है वह एक प्रकार की आत्मस्वीकृति ही होती है। उसकी सत्यता में सन्देह करने की गुँजाइश नहीं (यदि भावावेश में कुछ अत्युक्तियाँ हो जायँ तो दूसरी बात है)। स्वगत कथन अस्वाभाविक अवश्य होता है किन्तु चरित्र के उद्‌घाटन में सहायक होने के कारण निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता।

उदाहरण

प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' से तीनों प्रकार के अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण के उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं—

(क) स्वयं पात्र द्वारा अपने चरित्र का उद्‌घाटन—

स्कन्दगुप्त स्वगत कथन में अपने विषय में कहता है—

'स्कन्दगुप्त—इस साम्राज्य का बोझ किसके लिये? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से? ...केवल गुप्त-सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रखा है।'

—तृतीय अंक (पृष्ठ ६३)

स्कन्दगुप्त चक्रपालित से बात करता हुआ इन्हीं भावनाओं को प्रकाश में लाता है, देखिए—

'स्कन्दगुप्त—चक्र ! ऐसा जीवन तो विडम्बना है। जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े। आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलास हो, तब भी दाँत पर दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा करे !···चक्र ! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सका हूँ।'

—द्वितीय अङ्क (पृष्ठ ५०)

(ख) दूसरे पात्रों द्वारा चरित्र पर प्रकाश—

बन्धुवर्मा भी स्कन्दगुप्त के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही सोचता है, देखिए—

'बन्धुवर्मा—उदार-वीर-हृदय, देवोपम-सौन्दर्य, इस आर्य्यावर्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अङ्कित है ! अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है।'

—द्वितीय अङ्क (पृष्ठ ५०)

(ग) कार्य-कलाप द्वारा चरित्र-चित्रण—

स्कन्दगुप्त का कार्य-कलाप भी इस बात की पुष्टि करता है कि वह अपने लिए नहीं लड़ता है। वह कहता है—

'स्कन्दगुप्त—····· विजया ! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं।'

—पंचम अंक (पृष्ठ १५४)

इन्हीं आदर्शों की पूर्ति स्कन्दगुप्त अपने त्याग द्वारा करता है, देखिए—

'स्कन्दगुप्त—भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणभूमि में पुरुगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो (रक्त का टीका पुरुगुप्त को लगाता है)।'

—पंचम अंक (पृष्ठ १६४)

यही स्कन्दगुप्त के चरित्र की अन्विति है। यहाँ कथनी और करनी एक हो जाती है।

मनुष्य का कार्य-कलाप उसके चरित्र का सबसे सच्चा परिचायक होता है। इसलिए कथोपकथन और काव्य-व्यापार की अन्विति, चरित्र की दृढ़ता के साथ नाटककार के कौशल का परिचय देती है।

सफल कथोपकथन वही होता है जो कि या तो कथा-क्रम के अग्रसर करने में

सहायक हो या चरित्र पर प्रकाश डाले। नाटकी लाघव (Dramatic Economy) की यह माँग है कि कथोपकथन यथासम्भव छोटा ही न हो वरन् ऐसा हो कि वह चरित्र पर अधिक प्रकाश डाले। वे ही बातें और कार्य सामने आयें जिनमें चरित्र की कुँजी सन्निहित हो। स्वल्पातिस्वल्प साधनों द्वारा अधिक-से-अधिक कार्य निकालना यही कलाकार का कौशल ह। थोड़े से समय में हम नाटक और उपन्यास के पात्रों के सम्बन्ध में वास्तविक जीवन के पात्रों की अपेक्षा गहरा परिचय प्राप्त कर लेते हैं। उपन्यास और नाटक के पात्र भी अपना थोड़ा-बहुत समय दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा निरुद्देश्य वार्तालाप में बिताते होंगे किन्तु हमारे सामने उनका सजीव और सक्रिय रूप ही आता है। यदि उनकी अकर्मण्यता उनके चरित्र का अंग ही हो तो दूसरी बात है, नहीं तो नाटक और उपन्यास के पात्रों का कथोपकथन और कार्य-कलाप चुना हुआ और सोद्देश्य होता है।

रस और उद्देश्य

भारतीय परम्परानुसार नाटकों में रस को मुख्यता दी गई है और पाश्चात्य परम्परा के उद्देश्य को। हमारे देश में रस का विवेचन पहले-पहल नाटक के ही सम्बन्ध में किया गया था। रस उन तीन बातों में से एक है जो रूपकों के विभाजन-आधार बनती हैं। रस का स्वतन्त्र विवेचन लेखक के 'सिद्धान्त और अध्ययन' (प्रथम भाग; अध्याय ८) में किया गया है। प्रत्येक नाटक में कोई-न-कोई रस अंगी रूप से रहता है ('शकुन्तला' नाटक में श्रृंगार) और दूसरे रस भी अंगरूप से आ सकते हैं। 'शकुन्तला' में और भी रस, जैसे वीर, वात्सल्य, रौद्र आये हैं किन्तु वे श्रृंगार के आश्रित होकर आये हैं रसों का समावेश रस-मैत्री और रस-विरोध के नियमों के आधार पर किया जाता है।

पाश्चात्य देशों के नाटकों में कुछ-न-कुछ उद्देश्य व्यक्त या अव्यक्त रूप से रहता है। वह किसी प्रकार की जीवन-मीमांसा या विचार-सामग्री के रूप में आता है। इस उद्देश्य का सम्बन्ध आन्तरिक और वाह्य संघर्षों से होता है। यह संघर्ष पाठकों को उद्देश्य के ग्रहण करने के लिए तैयार कर देता है। नाटक की विचार-सामग्री पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन में ही उपस्थित होती है। नाटककार जो कुछ स्वयं कहना चाहता है वह किसी पात्र द्वारा ही कहलाता है अथवा वह कथानक में व्यञ्जित रहता है। आजकल के बुद्धिवादी नाटकों में, विशेषतया समस्यात्मक नाटकों में, इस उद्देश्य का प्राधान्य रहता है। मानव सहानुभूति का विस्तार तो प्रायः सभी देशी और विदेशी नाटकों का व्यापक उद्देश्य रहता है।

दुःखान्त नाटक-मीमांसा

पाश्चात्य देशों में नाटकों का विभाजन दुःखान्त और सुखान्त के रूप में किया जाता था। दुःखान्त नाटक प्रारम्भ में गम्भीर नाटक होते थे। दुःख में गाम्भीर्य अधिक रहता है। इसीलिए गम्भीर नाटकों ने दुःखान्त का रूप धारण किया। आजकल दुःखान्त-सुखान्त का ऐसा कटा-छटा विभाजन नहीं रहा जैसा पहले था। भारतवर्ष में तो सब नाटक सुखान्त ही होते थे किन्तु उनमें थोड़ा-बहुत दुःख का तत्त्व भी रहता था।

दुःखान्त नाटक के देखने में आनन्द क्यों

इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि दुःखान्त नाटकों के देखने से क्यों सुख होता है? यदि सुख नहीं मिलता है तो हम पैसा देकर क्यों आँसू बहाने जाते हैं? इस सम्बन्ध में अरस्तु (Aristotle) ने तो अपना रेचन (Catharsis) का सिद्धान्त चलाया था। उनका कथन है कि हमारे मन में जो करुणा और भय की मात्रा रहती है, यदि वह इकट्ठी होती रहे तो हानिकारक हो जायगी। जिस प्रकार वैद्य हमारे मलों को निकालकर हमारे शरीर को शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार दुःखान्त नाटक में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भीति (भय) को निकास मिल जाता है।

यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। अंग्रेज़ी के आलोचक (F. L. Lucas) का कथन है कि हम दुःखान्त नाटकों को इसलिए देखने के लिए नहीं जाते कि हम अपने को मनोवेगों से पृथक् कर लें वरन् इसलिए कि अधिक मात्रा में उनको पावें, उनका रसास्वाद करें न कि उनको निकालें। उनका कहना है कि ट्रेजिडी में उस प्राणी को भी जिसका नीरस आगामी कल आज के समान ही होता है, दूसरों के प्रतिनिधित्व में कुछ अधिक मिल सकता है।[1] कुछ लोगों का यह भी कहना है कि कथानक के दुःखात्मक होते हुए भी शैली की सरसता उसमें आनन्द की सृष्टि कर देती है।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि दुःखान्त नाटक अथवा दुःखात्मक नाटक, नाटक तो होते ही हैं तथा जिस प्रकार और कोई नाटक या काव्य हमको प्रसन्नता देते हैं, उसी प्रकार और उन्हीं कारणों से दुःखान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हमको क्यों प्रसन्नता होती है? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से

---

1. 'And so we go to tragedies not in the least to get rid of emotions but to have them more abundantly, to banquet and not to purge...but here, vicariously, even the being "whose dull morrow cometh and is as today is" can experience more.—Tragedy (page 52)

एक यह भी है कि काव्य के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार होता है । हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में आते हैं । नाटक चाहे दुःखान्त हो चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे जैसे हाड़, माँस, चाम के पुतले होते हैं और वे हमारी तरह ही इच्छा, द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दुःख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूतिशील है । वह अपने कुल और गोत की वृद्धि चाहता है।

मनुष्य सामाजिक जीव है । वर्तमान सभ्यता का जटिल जीवन अथवा संसार में जीवन के सीमित उपादान उसको प्रतिद्वंद्विताशील और असामाजिक बना देते हैं। यद्यपि ऐसे भी लोग हैं जो 'बिन काज दाहिने बाएँ' होते हैं तथापि वे विरले हैं और यदि उनका इतिहास देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी जीवन के किसी अभाव या निराशा के कारण ऐसे बने होंगे । नाटक देखने या उपन्यास पढ़ने से हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति होती है। नाटक या उपन्यासों के पात्रों से हमारा सम्बन्ध किसी प्रकार से दूषित भाव का नहीं होता। वे हमारे प्रतिद्वन्द्वी नहीं होते और न उनसे हमारा जमीन-जायदाद का कोई झगड़ा होता है । उनके प्रति हमको ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं होता और न उनकी विभूति देखकर हमको जूड़ी आती है क्योंकि ज्यादातर हमको अपने पड़ौसी को मोटर में जाते देखकर ईर्ष्या होती है, दुनिया भर से नहीं । जिनका ईर्ष्याभाव अधिक व्यापक हो जाता है, उनको नाटक या सिनेमा में भी आनन्द न मिलेगा । इस प्रकार नाटक, सिनेमा, उपन्यास, प्रबन्ध काव्य सभी हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति करते हैं। काव्य के द्वारा लौकिक जीवन की कटुता, रुखाई और दाहकता, माधुर्य, स्निग्धता और शीतलता का रूप धारण कर लेती है और काव्य के आलम्बनों से हमारा निजी सम्बन्ध न रहकर मानवता का नाता हो जाता है । हमारे लौकिक सम्बन्ध कभी-कभी मानवता से हटे रहते हैं। काव्य के सम्बन्ध मानवता के सम्बन्ध होने के कारण सत्वगुण-प्रधान होते हैं। इसी सत्वगुण की अभिवृद्धि से तथा जिज्ञासा-वृत्ति से उत्पन्न चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है । यही ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द है। हिन्दू-शास्त्रों का कुछ ऐसा ही मत है।

दुःखान्त नाटकों का दुःख क्या इस आनन्द में बाधक होता है ? इसके लिए हमको दुःख का कारण जानना चाहिए । वास्तविक जीवन में दुःख का कारण निजीपन ही तो है। इसी से ज्ञानी मुक्त होना चाहता है । काव्य द्वारा हम लौकिक जीवन के निजीपन को तो खो देते हैं। ऐसा करने में कुछ नुकसान अवश्य होता है क्योंकि सुखानुभूति की तीव्रता कुछ कम हो जाती है । (यदि दर्शक को स्वयं लॉटरी मिल जाय तो उसको नाटक के नायक को लॉटरी या सम्पत्ति मिलते देखने से कहीं अधिक प्रसन्नता होगी) लेकिन उसी के साथ अनुभूति की व्यापकता बढ़ जाती है । तीव्रता के स्थान में व्यापकता आती है।

नाटक का आनन्द सहानुभूति का आनन्द है। यह वैसा ही आनन्द है, जैसा कि एक परोपकारी जीव को दुःखित और पीड़ितों की सहायता में मिलता है। दुःखान्त नाटकों के देखने से करुण रस की उत्पत्ति होती है। हम शोक नहीं चाहते किन्तु करुण रस में (जो सहानुभूति पर आश्रित होता है) मग्न होना चाहते हैं। भाव सुख-दुःखमय होते हैं, रस आनन्दमय है।

दुःखान्त या दुःखात्मक नाटकों का दुःख आनन्द में बाधक नहीं वरन् सहायक होता है। दुःखान्त नाटक (Tragedy) का मूल अर्थ गम्भीरताप्रधान (Serious) नाटक था। दुःखान्त नाटकों में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण उनमें सुखान्त नाटकों की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार होता है। आत्मा का विस्तार ही सुख है। सुखान्त नाटकों में ईर्ष्या आदि के बुरे भाव भी जाग्रत हो सकते हैं किन्तु कभी-कभी दुःख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए हमारे यहाँ दुःखात्मक नाटक होते हैं, दुःखान्त नहीं।

दुःखान्त नाटकों में मनुष्य की सहनशीलता को देखकर हम में गर्व की भावना जाग्रत होती है और कभी-कभी हम अपने अपेक्षाकृत तुच्छ दुःखों को भूल जाते हैं। सुख में जो विलास की उन्मत्तता आती है उसका दुःख में अभाव रहता है। दुःख में तो सात्विकता का उदय होता है। इस दृष्टि से दुःखान्त नाटकों का महत्त्व अवश्य है फिर भी उनके द्वारा हमारी ईश्वरीय न्याय की भावना में ठेस लगती है। भारतीय नाटककार इस भावना को ठेस नहीं पहुँचाते।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और रह जाता है। वह यह है कि जब दुःखान्त नाटकों से सहानुभूति बढ़ती है, तब संस्कृत नाटकों में दुःखान्त नाटकों का अभाव क्यों रक्खा? संस्कृत नाटकों में केवल 'उरुभंग' नाटक ही दुःखान्त है किन्तु दुर्योधन के मारे जाने से किसी को दुःख नहीं होता।

भारत में दुःखान्त नाटकों का अभाव

हमारे यहाँ तो मृत्यु आदि के दृश्य वर्ज्य माने गये हैं क्योंकि करुण या राज-विप्लव आदि भय के दृश्यों को मंच पर दिखाने से एक प्रकार का लौकिक अनुभव-सा हो जाता है और वह उस आनन्द में बाधक होता है, जिसके लिए हम नाटक देखने जाते हैं। दूसरी बात यह है कि सहानुभूति को कृत्रिम रूप से जाग्रत करने से उसकी शक्ति और तीव्रता कम हो जाती है। लोगों को दुःख में देखते-देखते दूसरों को दुःखी देखने की आदत-सी पड़ जाती है और मन में वही मनोवृत्ति उत्पन्न हो उठती है जो कि शेर के साथ लड़ाई लड़ते हुए ग्लेडियेटर को (वह कैदी जिसको फाँसी का हुक्म होता था) मरते देखने में होती थी। इसलिए श्री रामचन्द्रजी ने हनुमानजी से कहा था कि मैं

तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं करना चाहता क्योंकि मेरी यह इच्छा नहीं है कि तुम पर कभी दुःख पड़े और मैं तुमको मुक्त करूँ । हमारे यहाँ के लोग जीवन का आदर करते थे । वे मनुष्यों का मंच पर गाजर-मूली की भाँति काटा जाना पसन्द नहीं करते थे ।

इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या यह है कि जब तक किसी बड़े आदमी को (बड़े को नहीं वरन् श्रेष्ठ पुरुष को) दुःख न हो, तब तक करुणा और सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती है । हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यवादी और दशरथ ऐसे हठव्रती को ही दुःख उठाते हुए देखकर हमारे हृदय में करुणा का संचार होता है । लेकिन ऐसे लोगों को दुःख उठाते हुए देखकर हमारी ईश्वरीय न्याय-सम्बन्धी भावना को भी ठेस पहुँचती है । राम को बनवास जाते हुए देखकर दैव को ही दोष दिया जाता है ।

यूनानी दुःखान्त नाटकों में दुःख का कारण दुर्भाग्य (Nemisis) दिखलाया जाता था । नायक प्रायः निर्दोष रहता था । शेक्सपियर के नाटकों में दुर्भाग्य किसी खलनायक या धूर्त (Villain) का, जैसे ओथेलो नाटक में आइगो, रूप धारण कर लेता था और वह (अर्थात् नायक) अपनी मूर्खता के कारण उसके फंदे में फंस जाता था । ओथेलो का शीघ्र विश्वास कर लेने वाला शङ्काशील स्वभाव उसकी निर्दोष एवं पतिपरायणा पत्नी और स्वयं उसकी मृत्यु का कारण बनता है । शेक्सपियर में ईश्वरीय न्याय केवल इतना ही रहता है कि खलनायक के कुचक्र से असली नायक का तो घात हो जाता है किन्तु वह अर्थात् खलनायक अपने कुचक्र का लाभ नहीं उठाने पाता है । 'साधुता सीदति' (साधुता दुःख उठाती है) की बात तो रहती है किन्तु 'फुलपति खलई' की बात चरितार्थ नहीं होने पाती । खलता फूलती फलती नहीं । नायक का थोड़ा दोष अवश्य रहता है । इसलिए भाग्य को पूर्णतया दोषी नहीं ठहरा सकते हैं किन्तु थोड़ी-सी भूल या बुराई का दुष्परिणाम मूल कारण की अपेक्षा कहीं अधिक होता है ।

शेक्सपियर और गाल्सवर्दी

आजकल गाल्सवर्दी आदि के नाटकों में समाज की दुर्व्यवस्था इसका कारण बनती है किन्तु फिर भी श्रेष्ठ पुरुषों को (वर्तमान समाज में श्रेष्ठता का अर्थ आवश्यक रूप से कुलीनता नहीं है) दुःखित देखकर ईश्वरीय न्याय की भावना को आघात पहुँचता है । यह हम मानते हैं कि दुःखात्मक घटनाओं के देखने से हृदय में कोमलता आती है और विचारों में सात्विकता जाग्रत होती है फिर भी एक बड़ी समस्या का हल करना पड़ता है । एक ओर दुःखान्त नाटकों द्वारा भावों की परिशुद्धि और दूसरी ईश्वरीय न्याय की रक्षा की माँग । इस उभयतोपाश—इधर कुआँ उधर खाई वाली बात—से बचने के लिए ही संस्कृत के प्राचीन नाटककारों ने दुःखान्त नाटकों के स्थान में दुःखात्मक नाटकों की रचना की थी । उत्तररामचरित में करुणा की पर्याप्त मात्रा है किन्तु उसका अन्त

वियोगान्त नहीं हुआ है। इसी प्रकार चण्डकौशिक (सत्य हरिश्चन्द्र) में भी करुणा की मात्रा पर्याप्त है किन्तु इसका अन्त सुख में हुआ है। इसमें भावों की परिशुद्धि एवं सहानुभूति की जागृति के साथ ईश्वरीय न्याय की रक्षा पूरी तौर से हो गई है। विश्वामित्र का पश्चाताप सत्य की विजय का द्योतक है।

अभिनय

अभिनय नाटक का प्रधान अङ्ग है। अभिनय से नाटक का उदय हुआ है और अभिनय तथा रङ्गमञ्च के सुभीतों की कमी-बेशी के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशों का नाट्य-कला में विकास हुआ है।

हमारे देश में नाट्य-शास्त्र के प्रधान आचार्य भरतमुनि ने नाटक के इस तत्त्व की विशद विवेचना की है। अभिनय शब्द अभिपूर्वक 'णीज' धातु से बना है 'णीज' धातु का अर्थ है पहुँचाना। इसके द्वारा नाटक की सामग्री अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर पहुँचाई जाती है।

अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक।[1] आङ्गिक के भी शरीर, मुखज और चेष्टाकृत नाम के तीन भेद किये गए हैं।

अभिनय के प्रकार

आङ्गिक अभिनय में अङ्गों के सञ्चालन के भिन्न-भिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। इस प्रकार के अभिनय का अनुभावों से तथा परिस्थिति-अनुकूल गतियों से सम्बन्ध है। इस प्रसग में भाँति-भाँति से सिर हिलाने का वर्णन आता है। रसों के अनुकूल दृष्टियाँ भी बतलाई गई हैं। वीर, भयानक आदि की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। वीर अपनी दृष्टि को सामने रक्खेगा, लज्जान्वित पुरुष अपनी निगाह नीची कर लेगा, भय वाला दृष्टि इधर-उधर फेरेगा। इसी सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्य भी बतलाये गये हैं। इसी आङ्गिक अभिनय में तैरने, घोड़े की सवारी आदि का अभिनय हो जाता था। हाथों के टटोलने आदि का नाट्य करने से अँधेरे का भी भान करा दिया जाता था। इस प्रकार आङ्गिक अभिनय में एक प्रकार से अभिनय का मुख्य भाग आ जाता था।

वाचिक—वाणी का अभिनय आङ्गिक अभिनय को स्पष्टता दे देता था। आजकल के नाटकों में भी थोड़ा-बहुत मूक अभिनय रहता है (जैसे 'वरमाला में')। भरतमुनि ने वाणी के अभिनय में स्वरशास्त्र, व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र का परिचय

---

१. **'आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्वकस्तथा।**
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः॥'

—नाट्यशास्त्र (८।९)

कराया है, जिससे कि अभिनेताओं को स्वरादि का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाय। बोलने और पाठ करने की विधियों का भी उल्लेख हुआ है, और रसों के अनुकूल छन्दों और रागों का भी निर्देश किया गया है।

वाणी के अभिनय के सम्बन्ध में आचार्य ने प्राकृत के प्रयोग का भी विधान दिया है। प्राकृत का प्रयोग स्वाभाविकता लाने के लिए ही होता था, जैसे आजकल के नाटकों में कहीं-कहीं ग्रामीण भाषा आ जाती है और कहीं शहरी भाषा का प्रयोग होता है, उसी प्रकार प्राचीन समय के नाटकों में प्राकृत और संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था और भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत बोलते थे।

प्राचीन समय में भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्बोधित किये जाते थे, जैसे—नौकर लोग राजा से 'देव' कहते थे, बौद्धों को भदन्त कहा जाता था, ऋषि लोग राजा को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करते थे, विदूषक लोग राजा से 'वयस्य' और रानी से 'भवती' कहते थे। नाट्य-शास्त्र में नाटकीय पात्रों के नामों का भी विधान है। क्षत्रियों के नाम के आगे विजयबोधक शब्द लगाना उचित बतलाया गया है। वैश्यों के नाम के आगे 'दत्त' लगाने का निर्देश है। वैश्याओं के आगे दत्ता, मित्र, सेना आदि लगाने का संकेत किया गया है, जैसे—वासवदत्ता, वसन्तसेना। इसीलिए हमारे यहाँ कथोपकथन को अलग तत्त्व नहीं माना गया है। कथोपकथन-सम्बन्धी सब निर्देश वाचिक अभिनय में आ जाते हैं।

आहार्य अभिनय के सम्बन्ध में नाना प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों के रंगों का उल्लेख किया गया है। नाट्य-शास्त्र में भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के रंग भी बतलाये गये हैं। गोरे वर्ण का आदर उस समय भी था। देवताओं तथा सम्पन्न लोगों के गौर वर्ण[1] में सजाये जाने का निर्देश है। रंगों के मिश्रण से सभी अच्छे प्रयोग बतलाये गये हैं। भिन्न-भिन्न स्थिति के लोगों के बालों और मूँछों की सजावट की भी विधि दी गई है। विदूषक गंजा दिखाया जाता था (संभवतः इसलिए कि गंजे के सिर पर चपत अच्छी जमाई जाती है)। बच्चों की तीन चोटियाँ होती थीं (जैसे कि कभी-कभी कंजरों के बालकों की देखी जाती हैं)। नौकरों की भी ऐसी ही चोटियाँ रहती थीं। कभी-कभी उनके कटे हुए बाल भी रहते थे। अवन्ती की स्त्रियों के घुँघराले बाल रहते थे। शिरोभूषा और मुकुटों का भी पूरा-पूरा वर्णन है। युवराज और सेनापतियों के लिए आधे मुकुट का विधान है। इन सब वेष-भूषाओं के अध्ययन से उस समय की सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सात्विक अभिनय के सम्बन्ध में भारतेन्दु बाबू इस प्रकार लिखते हैं—स्तम्भ,

---

१. 'ये चापि सुखिनो मर्त्याः गौराः कार्यास्तु ते बुधैः' —नाट्यशास्त्र (२३।९९)

स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विक अभिनय है। सात्विक अभिनय के विषय में लोगों को यह आपत्ति है कि कायिक अभिनय को रखकर सात्विक अभिनय को क्यों स्वतन्त्र स्थान दिया गया है ? इसका उत्तर यही है कि अनुभावों के होते हुए भी जिस प्रकार सात्विक भावों को स्थान दिया गया है, उसी प्रकार सात्विक अभिनय को भी। सात्विक अभिनय का सम्बन्ध भावों से है। सात्विक अभिनय में भावों का प्राधान्य रहता है। साधारण कायिक अभिनय में गतियों का भी अभिनय हो सकता है।

नाटक के तत्त्वों के साथ-साथ नाट्य-शास्त्र में उनकी शैलियों का भी वर्णन आता है। इनका सम्बन्ध पूरे नाटक की गति-विधि से रहता है। इनका बड़ा महत्त्व है। इनको 'नाट्यमातरः' अर्थात् नाटक की माताएँ कहा गया है।

वृत्तियाँ

इनका सम्बन्ध पात्रों के चलने-फिरने के ढंग से है। ये चार मानी गई हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती।

(१) *कौशिकी वृत्ति*—यह बड़ी मनोहर वृत्ति है। इसका सम्बन्ध शृंगार और हास्य से है। इसमें गीत-नृत्य का बाहुल्य रहता है। यह नाना प्रकार के विलासों से युक्त होती है। गायनप्रधान होने के कारण इसकी उत्पति सामवेद से मानी गई है।

(१) *सात्वति वृत्ति*—इस वृत्ति का सम्बन्ध शौर्य, दान, दया, दाक्षिण्य से है। इसमें वीरोचित कार्य रहते हैं। यह आनन्दवर्द्धिनी होती है। इसमें उत्साहवर्द्धिनी वाग्भंगी रहती है। इसका सम्बन्ध वीर रस से है और इसमें थोड़ा रौद्र और अद्भुत का भी समावेश रहता है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से बतलाई गई है।

(३) *आरभटी वृत्ति*—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, आघात-प्रतिघात और बन्धनादि से युक्त यह वृत्ति रौद्र रस के वर्णन में काम आदी है। इस वृत्ति की उत्पत्ति अथर्वेद से बतलाई गई है।

(४) *भारती वृत्ति*—इससे स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। इसका सम्बन्ध तुरुष नटों या भरतों से है। इसलिए भी यह भारती कहलाती है। इसका सम्बन्ध शब्दों से है। साहित्यदर्पणकार का मत है कि सब रसों में भारतीय वृत्ति काम आती है। भरत मुनि ने इसका सम्बन्ध करुण अद्भुत से बतलाया है। इसके विषय में भारतेन्दुजी लिखते हैं कि यह केवल वीभत्स में ही काम आती है। भारती वृत्ति का सम्बन्ध नाटक के आरम्भिक कृत्यों से भी रहता है। भरतमुनि ने इस वृत्ति की उत्पत्ति ऋग्वेद से बतलाई है।

वृत्तियों का रसों से सम्बन्ध बतलाने वाला श्लोक इस प्रकार है—

'शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च वीभत्से, वृत्ति सर्वत्र भारती ।।'—दशरूपक (२।६२)

शृङ्गार में कैशिकी वृत्ति, वीर में सात्वती और आरभटी रौद्र तथा वीभत्स में प्रयुक्त होती है। भारतीय वृत्ति का प्रयोग सब रसों में होता है।

हमारे यहां रूपकों का विस्तार बहुत बड़ा है। नाटक से रूपक व्यापक है और रूपक से भी व्यापक है नाट्य। रूपक और उपरूपक दोनों नाट्य के अन्तर्गत हैं। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में भावों, नृत्य और नृत्त की मुख्यता रहती है। नृत्त में नपा-तुला सम और ताल के साथ पद संचालन होता है। नृत्य में भाव-प्रदर्शन भी होता है। रूपकों के भेद वस्तु, नायक और रस के आधार पर किये गये हैं। रूपक दस प्रकार के माने गये हैं।[1]

रूपकों के भेद

(१) *नाटक*—यह रूपकों में मुख्य है और जातिवाचक शब्द बन गया है। इसकी वस्तु में पाँच संधियाँ, चार वृत्तियाँ, चौंसठ सन्ध्यंग माने जाते हैं। इसमें पाँच से दस तक अंक होने चाहिएँ, जिसमें कि पाँचों संधियों का पूर्ण समावेश हो सके। इसका विषय कल्पित न हो। इसका नायक धीरोदात्त, प्रतापी होना चाहिए। वह राजा, राजर्षि अथवा कोई अवतारी पुरुष होता है। इसमें शृङ्गार, वीर अथवा करुण रस की प्रधानता रहती है।

उदाहरण—**शकुन्तला**।

इस कसौटी से आजकल के बहुत से नाटक इस संज्ञा से बाहर हो जायँगे। उस समय की परिभाषा आजकल काम नहीं दे सकती है।

(२) *प्रकरण*—इसमें प्रायः नाटक की-सी ही वस्तु होती है। अन्तर केवल इतना है कि इसका विषय कल्पित होता है और इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है किन्तु हास्य और शृङ्गार वर्जित रहते हैं। इसका नायक कोई मन्त्री, धनी, वैश्य वा ब्राह्मण होता है।

उदाहरण—**मालतीमाधव, मृच्छकटिक**।

(३) *भाण*—यह एक ही अङ्क का होता है। इसमें एक ही पात्र होता है,

---

१. **'नाटकं सप्रकरणमङ्कोव्यायोग एव च। भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः। ईहामृगञ्च विज्ञेयं दशकं नाट्यलक्षणम्'** —(नाट्य शास्त्र २०।२,३)। **डी० आर० मनकद ने अपने 'टाइप्स ऑफ इण्डियन ड्रामा'** (Types of Indian Drama) **में सब का परस्पर सम्बन्ध दिखलाते हुए भाण को सबसे पहले बतलाया है।**

जो ऊपर को मुँह उठाकर आकाशभाषित के ढंग से किसी कल्पित पात्र से बातचीत करता है। इसमें धूर्तों का चरित्र रहता है और दर्शकों को खूब हँसाया जाता है।

उदाहरण—भारतेन्दुकृत—**'विषस्य विषमौषधम्।'**

(४) *व्यायोग*—इसमें एक ही अङ्क होता है और एक ही अङ्क की कथा रहती है। स्त्री पात्रों का अभाव-सा रहता है, वीर रस का प्राधान्य होता है मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियाँ रहती हैं।

उदाहरण—भारतेन्दुकृत—**'धनञ्जयविजय'।**

(५) *समवकार*—इसके बारह तक नायक हो सकते हैं। सबको अलग-अलग फल मिलता है। इसमें देव या दानवों की कथा रहती है और केवल तीन अङ्क होते हैं, विमर्श संधि और बिन्दु नाम की अर्थ-प्रकृति नहीं होती। इसमें युद्ध दिखाये जाते हैं।

उदाहरण—नाट्य शास्त्र में उल्लिखित **'अमृतमंथन'**। भास का 'पंचरात्र' इस भेद के निकट आता है। भाषा में कोई उदाहरण नहीं है।

(६) *डिम*—इसके चार अङ्क और सोलह नायक होते हैं। इसमें रौद्र रस का प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य वा अवतार होते हैं। इसमें जादू तथा मायाजाल रहता है। इसमें भी शृङ्गार और हास्य वर्जित हैं और कैशिकी वृत्ति को स्थान नहीं मिलता।

उदाहरण—संस्कृत में **'त्रिपुरदाह'**। भाषा में कोई नहीं।

(७) *ईहामृग*—इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक होता है। नायक किसी कुमारी की स्पृहा करता है। वह मृग की भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायक से छुड़ाना चाहता है। उसके लिये युद्ध भी होता है। मिलन तो नहीं होता किन्तु किसी का मरण भी नहीं होता। इसमें चार अङ्क होते हैं।

उदाहरण—नहीं है।

(८) *अङ्क*—इसमें एक ही अङ्क होता है। यह करुण-रस प्रधान होता है। इसका नायक गुणी और आख्यान-प्रसिद्ध होता है किन्तु वह प्राकृत मनुष्य होता है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ ही होती हैं।

उदाहरण—**शर्मिष्ठा-ययाति।**

(९) *वीथी*—भाण की भाँति इसमें भी एक अङ्क रहता है। इसका विषय कल्पित होता है। इसमें शृङ्गार रस का प्राधान्य रहता है और तदनुकूल कैशिकी वृत्ति भी होती है।

उदाहरण—**लीलामधुकर।**

(१०) *प्रहसन*—इसमें हास्यरस की प्रधानता रहती है। इसमें एक ही अङ्क होता है तथा मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं।

उदाहरण—'अंधेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'। प्रहसन के रूप में लिखे गये मोलियर के नाटक या और हास्य-रस-प्रधान नाटक बस एकांकी नहीं होते। प्राचीन परिभाषा में प्रहसन एकांकी ही होता था। हमारे यहाँ एकांकी नाटकों का अभाव न था। भाण, वीथी आदि एकांकी होते थे।

उपरूपकों के अठारह भेद हैं। उनके नाममात्र यहाँ पर दिये जाते हैं। उनकी व्याख्या करना पुस्तक को अनावश्यक विस्तार देना होगा। उपरूपकों के नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

आजकल हिन्दी नाटकों में इन भेदों का कोई उपयोग नहीं होता। आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रायः विषय का भेद रहता है, जैसे—ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, समस्यात्मक, राष्ट्रीय। ये विधाएँ परस्पर बहिष्कारक नहीं हैं। ऐतिहासिक और राष्ट्रीय का मेल हो जाता है, सामाजिक और समस्यात्मक का मिश्रण हो जाता है। सुखान्त, दुःखान्त का भी भेद हो जाता है। कहीं-कहीं यथार्थवाद और आदर्शवाद का भी भेद किया जाता है। वस्तु-प्रधान और भाव-प्रधान का भी भेद हो सकता है। कुछ नाटक जैसे—'ज्योत्स्ना', कल्पना-प्रधान कहे जा सकते हैं। कुछ नाटकों में जैसे प्रसाद की कामना में रूपकत्व रहता है। एकांकी, गीत-नाट्य आदि और भी प्रचलित भेद हैं।

रङ्गमञ्च

यद्यपि सब नाटक खेले जाने के ही लिए नहीं लिखे जाते क्योंकि बहुत-सी नाटक नाम की रचनाएँ रङ्गमञ्च की वस्तु न होकर कक्षस्थ मञ्चिका (कुर्सी) पर बैठे हुए पाठकों के हाथ की शोभा बढ़ाते हैं तथापि उनके अभिनय होने में ही उनकी पूर्ण सार्थकता है। हिन्दी का स्वतन्त्र रङ्गमञ्च न होने के कारण नाटककार अपनी रचनाओं के अभिनेयत्व पर ध्यान नहीं देते किन्तु यह उनकी अपूर्णता हो कही जायगी। हर्ष की बात है कि आधुनिक नाटककार इस बात का अधिक ध्यान रखते हैं।

भरतमुनि लिखते हैं कि

'मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चरितं स्वरम्।
अभिव्यक्तवर्णत्वाद् विस्वरत्वभृशं भवेत्॥

× × ×

पेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते।
यस्माद्वाद्यं च गेयं च सुख्य श्राव्यतरंभवेत्॥' ना० शा० (२।१९,२१)

अर्थात् बड़े नाट्य मण्डप में जो पढ़ा या उच्चारित होगा वह वर्णों के स्पष्ट न

होने के कारण अत्यन्त बेसुरा हो जायगा, इसलिए सब प्रकार के नाट्य-घरों में मध्यम ही श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें गाना-बजाना सब ठीक रूप से दिखाई पड़ता है।

इससे यह प्रतीत होता है कि हमारे पूर्वज नाट्य-गृह के विस्तार की अपेक्षा उसके श्रवणीय तत्वों (Accustics) पर अधिक ध्यान रखते थे।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ के लोगों ने यूनान के विस्तृत नाट्य-घरों का अनुकरण नहीं किया। हमारे लोग पात्रों की भावभंगी का अधिक ध्यान रखते थे। अपने यहाँ इसीलिए मुखौटों (Masks) का प्रयोग नहीं करते थे। यूनान की विस्तृत नाट्यशालाओं के ही कारण वहाँ मुखौटों और ऊँची एड़ी के जूतों की आवश्यकता होती थी। भावभंगी का पूरा ध्यान छोटे ही नाट्य-गृह में रखा जा सकता है।

संस्कृत नाटक प्रायः अभिनय योग्य होते थे। कुछ लोगों का विचार है कि उत्तररामचरित जैसे क्लिष्ट नाटक श्रव्य अधिक थे। किन्तु उनकी प्रस्तावना से तो यही प्रतीत होता है कि वे खेले जाने के लिए ही लिखे गये थे।

नाट्य-शालाओं के प्रकार

नाट्यशास्त्र में अभिनय और रंगमंच का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाता था। भरतमुनि ने तीन प्रकार की नाट्य शालाओं का उल्लेख किया है। चतुरस्र—जिनकी लम्बाई-चौड़ाई बराबर होती थी (१०८ हाथ का ज्येष्ठ, ६४ हाथ का मध्यम, ३२ हाथ का कनिष्ठ)। विकृष्ट—जिनकी लम्बाई चौड़ाई से दूनी होती थी, इनके भी तीन भेद होते हैं, ज्येष्ठ की लम्बाई १०८ हाथ, मध्यम की लम्बाई ६४ हाथ और कनिष्ठ की लम्बाई ३२ हाथ होती है। (एक हाथ २४ अँगुल का बतलाया गया है)। त्र्यस्र—यह त्रिकोण के आकार का होता था। विकृष्ट ही अधिक अच्छा माना जाता था। चतुरस्र देवताओं के लिए होते थे, विकृष्ट मनुष्यों के लिए और त्र्यस्र घरेलू सीमित दर्शकों के लिए। राजाओं के लिए मध्यम का विधान किया गया है क्योंकि १०८ हाथ वाले में आवाज स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ती है। मर्त्यों के लिए इससे बड़े मंडप का निषेध है क्योंकि बड़ा बनाने से नाटक का भाव दिखाई या सुनाई न पड़ेगा।

पूर्व
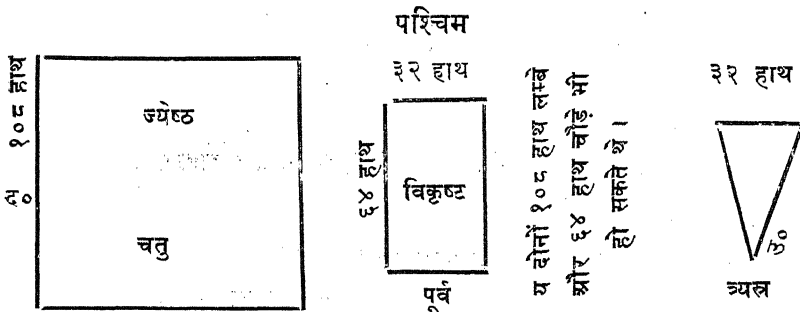
यहाँ पर हम एक विकृष्ट रंगमंच के विभाग देकर उस समय की नाट्य-शाला का दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं।

नाट्य-शाला के दो समभाग रहते थे। पीछे का 'क' भाग अभिनय के लिए और आगे का 'ख' भाग दर्शकों के लिए। पिछले भाग के दो और भाग रहते थे। सबसे पिछले भाग को नेपथ्य-गृह कहते थे। इसमें नट लोग अपनी वेश-भूषा सजाते थे और यदि कोई कोलाहल या और कोई जन-रव सुनाना होता था तो इसी में से सुनाया जाता था (पुराने नाटकों में ऐसा संकेत रहता था—'नेपथ्ये' या नेपथ्य में')। नेपथ्य-गृह के आगे के भाग के भी दो भाग रहते थे। नेपथ्य-गृह से मिले हुए भाग को रंग-शीर्ष और उसके अग्र भाग को रंगपीठ कहते थे। रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच में जवनिका रहती थी। रंगशीर्ष में नाना प्रकार की चित्रकारी दिखाई जाती थी। सम्भवतः और पर्दे भी रहते थे, उसमें जो लकड़ी के खम्बे आदि रहते थे, उन पर सुन्दर नक्कासी का काम रहता था। नीचे की भूमि चिकनी होती थी। रंगपीठ से चार हाथ दूरी पर प्रेक्षक-गण बैठते थे। रंगशीर्ष में ही प्रारम्भिक पूजा आदि होती थी। असली अभिनय रंगशीर्ष में ही दिखाया जाता था। रंगपीठ में तो ऐसे ऊपरी कृत्य होते थे, जो शायद दृश्य बदलने के समय होते हों। इसमें नाच आदि भी हुआ करता था। सूत्रधार भी अपनी प्रारम्भिक सूचनाएँ यहीं से देते थे। रंगपीठ के दोनों ओर कुछ ऊँचाई पर अम्बारी की तरह का सी रोकदार चीज रहती थी जिसे मत्तवारिणी कहते थे।

नाट्य-शाला के भाग

आगे के 'ख' भाग में जो दर्शकों के लिए होता था, सोपानाकार बैठकें (जो आजकल की गैलरियों से मिलती-जुलती होंगी) होती थीं। ये बैठकें भिन्न-भिन्न वर्ण के लोगों के लिए अलग-अलग होती थीं। इन बैठकों के बीच स्थित खम्बों के रंग से यह निश्चित हो जाता था कि वे किस वर्ण के लोगों के लिए हैं। नेपथ्य-गृह और रंगशीर्ष के बीच में जो द्वार होते थे इनमें से ही निश्चित नियमों के अनुसार अभिनेता आया-जाया करते थे। इन सब चीजों के अतिरिक्त बाँसों या कपड़े या चमड़े का और भी सामान रहता था जिससे घोड़े रथ आदि दिखाये जा सकें। अट्टालिका आदि दुमंजले रंगमञ्च द्वारा दिखाई जाती थी। इसको रंगमण्डप कहते थे। स्वर्ग के लोग भी उसी में दिखाये जाते थे। गाना-बजाना भी वहीं से होता था। इसको गुफा के आकार का सा बनाया जाता था जिससे आवाज गूँजे—

'कार्यः शैल गुहाकारो द्विभूमिनर्द्यमण्डपः'

—नाट्य-शास्त्र (२।८१)

पश्चिम
३२ हाथ
नेपथ्य-गृह
द्वार
द्वार
कक्ष
रंगशीर्ष
कक्ष
मत्तवारिणी
रंगपीठ
मत्तवारिणी खंभों पर ऊँची रहती थी
दक्षिण
६४ हाथ
उत्तर
शूद्र
वैश्य
प्रेक्षागृह
क्षत्रिय
ब्राह्मण
प्रवेश-द्वार
पूर्व
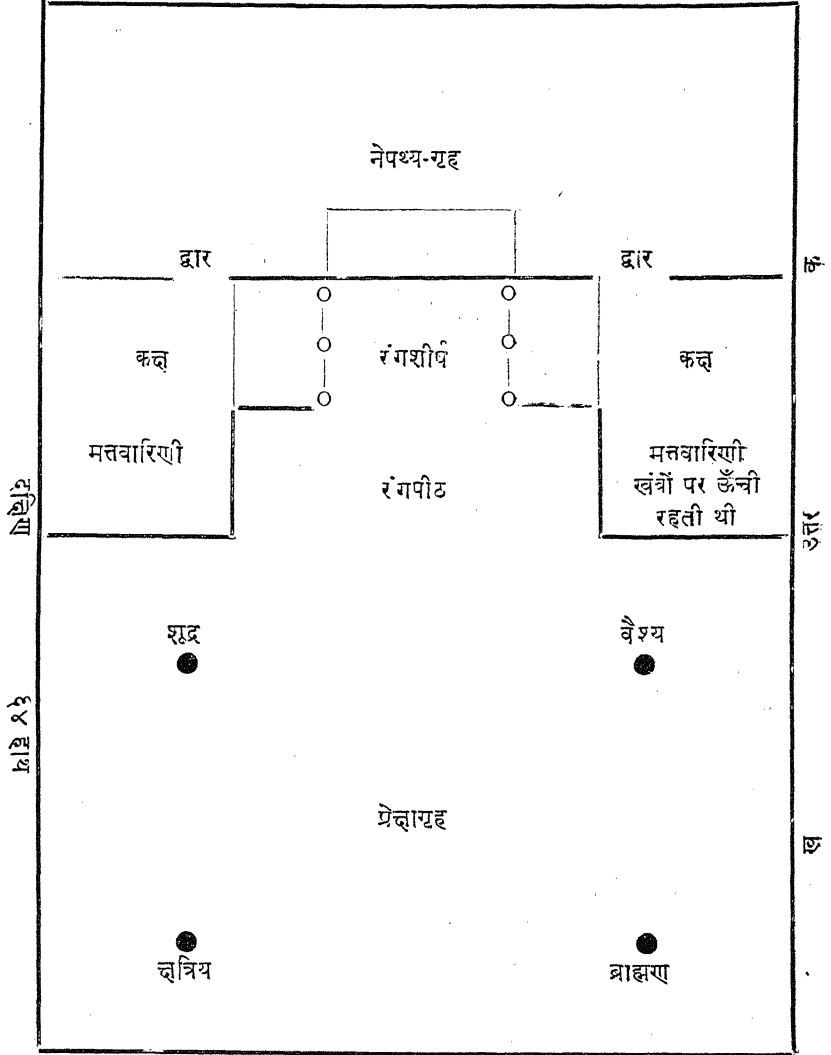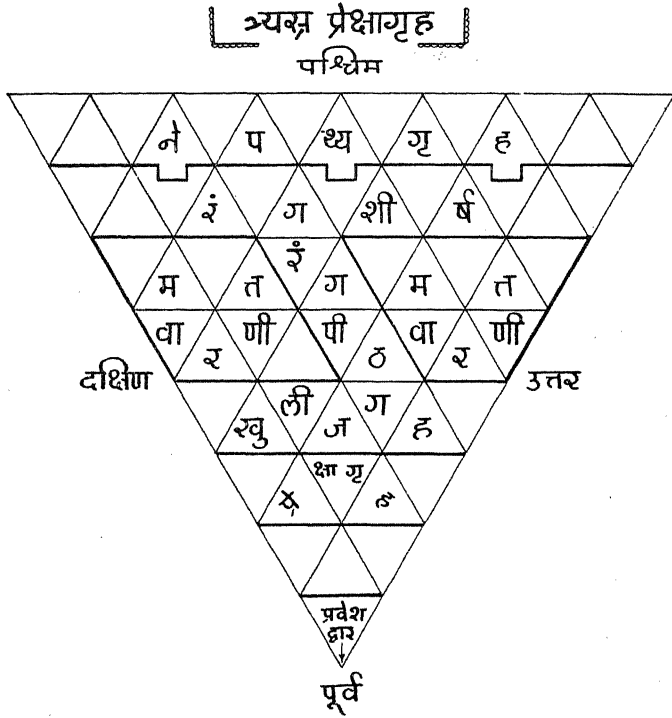
नाटकों के लिए अभिनय योग्य होना क्या आवश्यक है, यह प्रश्न कुछ विवाद-ग्रस्त होता जाता है। वैसे तो नाटक, रूपक आदि शब्द अभिनय से ही सम्बन्ध रखते हैं और इससे प्रतीत होता है कि नाटक मूलरूप से अभिनय के लिए ही लिखे जाते थे (नट या अभिनेता से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु नाटक कहलाती है) किन्तु कालान्तर में नाटक कथानक और शैली के ही लिए लिखे जाने लगे। यद्यपि नाटक की पूर्णता अभिनय में ही है और अभिनय योग्य नाटकों में रंगमञ्च की आवश्यकताओं और प्रभाव का ध्यान रक्खा जाता है तथापि अभिनेयत्व के अभाव के कारण किसी नाटक को हम हेय नहीं ठहरा सकते हैं। केवल पढ़े जाने वाले नाटकों को अंग्रेजी में (Closet Drama) अर्थात् कक्ष-नाटक कहते हैं। जो लोग इस प्रकार के नाटक लिखते हैं उनका कथन है कि कलाकार स्वान्तः सुखाय लिखता है और उसके लिए रंगमञ्च का प्रश्न इतना ही गौण है जितना कि पैसे का। इसका दूसरा पक्ष भी है—अनुकरण नाटक की जान है। यही उसको साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् करती है। अनुकरणकर्त्ताओं और दर्शकों की सुविधा के अनुकूल उसका संगठन होता है। इस सम्बन्ध

नाटक और अभिनेयत्व

में हम केवल इतना ही कहेंगे कि नाटक के मूल उद्देश्य में तो अभिनेयत्व आवश्यक है किन्तु अच्छी साहित्यिक शैली अभिनेयत्व की कमी को किसी अंश में पूरा कर देती है और गीत, शब्दावली आदि कल्पना के सहारे उचित वातावरण और दृश्य विधान को उपस्थित कर देती है। यद्यपि उसमें अभिनय-की-सी सजीवता नहीं आती है तथापि साहित्यिक नाटकों में गौरव और शालीनता बढ़ जाती है। इस प्रकार के नाटकों को हम दृश्य और श्रव्य काव्य के बीच की वस्तु कहेंगे। अभिनेयत्व भी एक सापेक्ष शब्द है। जो नाटक साधारण रङ्गमञ्च और दर्शकों के लिए अभिनय योग्य न समझा जाय वह एक विदग्ध समाज में अभिनेय हो सकता है। कुछ लोग रंगमञ्च के योग्य नाटकों और साहित्यिक नाटकों का पार्थक्य करते हैं। साहित्यिक नाटक रंगमञ्च के योग्य नहीं हो सकते और रङ्गमञ्च के योग्य नाटक साहित्यिक नहीं हो सकते, जैसे बेताब या राधेश्याम के नाटक; किन्तु यह बात सर्वथा ठीक नहीं है। दोनों गुणों का सुखद समन्वय किया जा सकता है। इसके लिए रङ्गमञ्च के उत्थान की भी आवश्यकता है।

हिन्दी नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में यहाँ दो-एक शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। जब हिन्दी नाटक लिखे जाने आरम्भ हुए तब उर्दू का बोलबाला था। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ व्यवसायिक ढंग पर चल रही थीं। जनता की रुचि परिमार्जित न थी। बदलते हुए रंग-बिरंगे पर्दे चमकीली-भड़कीली पोशाकों तथा एक खास ढंग के गानों को सुनकर वे लोग मुग्ध हो जाते थे। वे लोग अधिकतर 'इन्द्र-सभा', 'गुलबकावली' जैसे नाटक खेलते थे। वे लोग कभी हिन्दी नाटक खेलने का साहस करते तो वे न हिन्दी शब्दों का शुद्ध उच्चारण कर सकते और न उन नायकों के अनुकूल वातावरण ही जुटा सकते थे। भगवान् कृष्ण को बिरजिस (ब्रीचेज) पहनाकर खड़ा कर देते थे। पोशाकों में वे देश-काल का ख्याल नहीं करते थे। यह ऐसा ही हास्यास्पद हो जाता था, जैसा कि भगवान् रामचन्द्र की सवारी को आजकल भी 'रोल्सरोइस' मोटर में चित्रित कर हनुमानजी को ड्राइवर बना देना और फिर अपनी सूझ-बूझ पर दाद चाहना। पारसी नाटक-मण्डलियों का प्रभाव व्यापक हो चला था। जो और नाटक-मण्डलियाँ बनती थीं, वे भी उनका आदर्श लेकर चलती थीं। बंगाल भी उनके प्रभाव से न बचा किन्तु वहाँ वह प्रभाव कुछ न्यून रूप में रहा। दक्षिण में प्राचीन देशी पद्धति कायम रही। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों द्वारा खेले हुए नाटकों का बड़ा हास्य-प्रद चित्र खींचा है, देखिये—

हिन्दी रङ्गमञ्च

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त (धीरललित) नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर

थिवो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता, वे लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १ परिशिष्ठ पृष्ठ, ७५३)

भारतेन्दुजी भी अपने नाटकों का अभिनय करते थे। बलिया में उन्होंने बड़ी सफलता के साथ 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय किया था। नाटकों में साहित्यिकता का तो विकास होता रहा किन्तु रङ्गमञ्च में कोई उन्नति नहीं हुई।

हरिश्चन्द्र के युग के आस-पास हिन्दी रङ्गमञ्च के अस्तित्व में लाने के प्रयत्न हुए। सन् १८६१ में पंडित जी शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का बनाया हुआ 'जानकी-मंगल' नाटक बनारस थियेटर्स में धूम-धाम से खेला गया था। कानपुर में भी, रणधीर-प्रेम मोहनी' तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' का सफल अभिनय हुआ किन्तु ये प्रयत्न किसी स्थायी रंगशाला की स्थापना में और उसके विकास में सहायक न हो सके, फिर भी उद्योग जारी रहे। हिन्दी का रंगमञ्च कुछ शिक्षित लोगों के व्यसन के रूप में अपना मरता-गिरता अस्तित्व अवश्य रखता है किन्तु वह जनसाधारण की वस्तु न बन सका। वास्तविक रंगमञ्च पारसी नाटक कम्पनियों के हाथ में था और उसमें उर्दू का बोल-बाला रहा। वे जनता का आकर्षण अवश्य कर सकीं किन्तु एक सजीव संस्था न हो पाईं। श्री राधेश्याम जी कथा-वाचक, श्री बेताब जी आदि ने कुछ ऐसे नाटक (जैसे, वीर अभिमन्यु, महाभारत आदि) अवश्य दिये जो उस प्रकार के रंगमञ्च की अनुकूलता प्राप्त कर सके। शायद उस परम्परा में विकास होता किन्तु सिनेमा के प्रादुर्भाव के साथ रंगमञ्च का पटाक्षेप-सा हो गया।

हिन्दी नाटकों के अभिनय में व्याकुल जी की 'भारत नाटक-मण्डली' ने सराहनीय योग दिया किन्तु वह अधिक दिन जीवित न रह सकी। यह भी एक स्फुट प्रयत्न ही था। हिन्दी रंगमञ्च वैयक्तिक अथवा साहित्यिक संस्थाओं की वस्तु बना हुआ है। राजा-रईसों के मनोविनोद के लिए यत्र-तत्र निजी नाटक-मण्डलियाँ जीवित रहीं। स्कूल-कालेजों और साहित्यिक उत्सवों पर डी० एल० राय, प्रसाद, उग्र आदि के नाटकों का अभिनय हुआ। प्रसाद जी के नाटकों का थोड़ी-बहुत काट-छाँट के साथ साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन जैसे साहित्यिक समारोहों पर प्रदर्शन हुआ। श्री माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का भी सुन्दर अभिनय हो चुका है। पंडित बदरीनाथ भट्ट की 'चुङ्गी की उम्मीदवारी' ने कुछ दिनों जनता का अच्छा मनोरञ्जन किया था। मथुरा में अब फिर भारतीय रंगमञ्च के पुनरुत्थान का प्रयत्न हो रहा है।

अब एकाङ्की नाटकों के प्रचलन से अभिनय-कला को कुछ प्रोत्साहन मिला एकाङ्कियों के अभिनय में अपेक्षाकृत कम साज-सामान की आवश्यकता होती है। श्री रामकुमार वर्मा के 'अट्ठारह जुलाई की शाम', श्री जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' 'कलिङ्ग-विजय' आदि एकाङ्कियों का अभिनय कालेजों में बड़ी सफलतापूर्वक हुआ। बड़े

नाटकों का झुकाव भी संक्षिप्तता की ओर हो गया है और भाषा भी कुछ सरलता की ओर जा रही है। प्रसाद जी के नाटकों की अभिनेयता में उनका अत्याधिक विस्तार तो बाधक था ही किन्तु उनकी संस्कृतगर्भित दार्शनिकता-प्रधान भाषा ने उनको जनसाधारण की पहुँच से बाहर कर दिया। वास्तव में प्रसाद जी के नाटकों के लिए दर्शक और अभिनेता दोनों का ही सुसंस्कृत होना अपेक्षित है। उसी के अनुकूल रंगमञ्च और दर्शक चाहिएँ। भाषा की दुरूहता के सम्बन्ध में प्रसाद जी का मत है कि अच्छे अभिनेताओं के हाथ में भाषा दुरूह नहीं रह जाती। वह अभिनय की टीका के साथ सुबोध हो जाती है। अवाक् चित्रपट तो बिना शब्दों के ही सुबोध होता है। यहाँ हम स्वयं प्रसाद जी का मत उद्धृत करते हैं—

"रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रङ्गमञ्च के लिए रखें जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रङ्गमञ्च हो, जो व्यावहारिक है। हाँ, रङ्गमञ्च पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है।" —काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (पृष्ठ ११०)

प्रसाद जी ने हिन्दी रङ्गमञ्च की असफलता का कारण यह भी बतलाया है कि हिन्दी रङ्गमञ्च को स्त्रियों का सहयोग न मिल सका। प्राचीन काल में नटों के साथ नटनियाँ भी रहती थीं और नट इतना अनादर का शब्द न था। इसके कारण स्त्री पात्रों का ठीक अभिनय नहीं हो पाता। उच्च वर्ग के लोगों में विशेषकर संयुक्त प्रान्त में संगीत-शास्त्र का आदर वैसा नहीं है जैसा कि होना चाहिए, इसी कारण हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त में नाट्यकला का ह्रास हो रहा है। व्यापारिक दृष्टि से नाट्य कला में भाग लेना तो निन्द्य है ही किन्तु इसमें शौकिया भाग लेने वाले भी कम रहे। बंगाल और गुजरात में ऐसा नहीं था। वहाँ इस कला की अपेक्षाकृत उन्नति भी रही।

हिन्दी रङ्गमञ्च का तभी उद्धार हो सकता है जब पंत, निराला, उदयशङ्कर भट्ट, विष्णु प्रभाकर आदि इसके विकास में क्रियात्मक सहयोग दें और शिक्षित युवक और युवतियाँ अभिनय में भाग लें। साथ ही ऐसे नाटकों की सृष्टि की जाय जो तुकबन्दी के बिना प्रवाहमय हों और जिनमें रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए जीवन की स्वाभाविकता के साथ साहित्यिक सौष्ठव और शालीनता वर्तमान रहे।

यहाँ पर दो-एक शब्द सिनेमा के सम्बन्ध में कह देना अनुपयुक्त न होगा। जैसे ही हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ जागृति बढ़ी वैसे ही सिनेमा का उदय हुआ। उसने जनता के मनोरंजन के लिए रङ्गमञ्च का स्थान ले लिया। सिनेमा में कुछ सुभीते अवश्य हैं, जो नाटक में नहीं हैं। सिनमा में चाहे कला कम हो किन्तु वातावरण की वास्तविकता अधिक लाई जा सकती है। स्टेज पर लड़ती हुई रेल, डूबते हुए

सिनेमा और रङ्गमञ्च

जहाज़ या आधुनिक युद्ध का दृश्य दिखाना कठिन होगा। सिनेमा के लिए सब दृश्य सुलभ हैं। उसमें सब चीज हस्तामलक हो सकती हैं। इसलिए सिनेरियाँ लिखने वाला अपने कथानक में दृश्यों को अधिक रख सकता है। उसके लिए घटनाओं की सूचना देने की जरूरत नहीं रहती। उचित वातावरण उपस्थित करने के लिए नाटक-मण्डलियों को लम्बा-चौड़ा आडम्बरपूर्ण स्टेज का सामान रखना पड़ता है। सिनेमा में यह सब झंझट बच जाती है। फिल्म बनाने वाले को ही सब सामान जुटाना पड़ता है। सिनेमा-भवन वालों को कोई झंझट नहीं करनी पड़ती। सिनेमा का एक ही खेल कई स्थानों में हो सकता है। जहाँ तक प्रकाश-सम्बन्धी प्रभाव है रङ्गमञ्च भी किसी अंश में प्रभावित होते जाते हैं। पृथ्वीराज थियेटर्स आदि में प्रकाश का अच्छा प्रभाव रहता है किन्तु उनकी भाषा में भी पारसी थियेटर के प्रभाव वर्तमान हैं।

ये सब सुभीते होते हुए भी सिनेमा (अभी वर्तमान स्थिति में) रङ्गमञ्च का स्थान नहीं ले सकता। सिनेमा आखिर छाया है। वस्तु और छाया में बहुत भेद है। हम सिनेमा में यह भूल नहीं सकते कि हम छाया-चित्र देख रहे हैं। नाटक भी वास्तविकता की नकल है किन्तु सिनेमा नकल की नकल है। सिनेमा के अभिनय में दिन-प्रति-दिन उन्नति की सम्भावना नहीं रहती। जो भूल हो गई सो हो गई। वह पत्थर की लकीर बन जाती है। इन सब बातों के अतिरिक्त सिनेमा के अभिनेताओं को दर्शकों के प्रत्यक्ष साधुवाद का प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस कारण भी अभिनय में कुछ अन्तर आ जाता है। सिनेमा में रंगीन फिल्में तो बन गई हैं किन्तु अभी यहाँ चित्रों में आयाम का स्थूलत्व दृष्टिगोचर नहीं होता है। जब लम्बाई-चौड़ाई के साथ गहराई और उभार भी पूर्णरूपेण परिमार्जित हो तब वास्तविकता का कुछ भान हो सकेगा [अब त्रिआयामी (Three Diamentional) चित्र भी आने लगे हैं किन्तु उनके लिए विशेष प्रकार का चित्रपटीय प्रबन्ध चाहिए] फिर भी वे नाटक के पात्रों की भाँति हाड़-माँस-चाम के स्त्री-पुरुष न बन सकेंगे।

इंगलैण्ड, अमरीका आदि देशों में सिनेमा की चरम उन्नति होते हुए भी नाटक का मान है। थियेटरों में बैठने के लिए स्थान बहुत पहले से सुरक्षित कराना पड़ता है। इसलिए सिनेमा के अस्तित्व से नाट्यकला का ह्रास हो जाना आवश्यक नहीं है। यद्यपि गुण-ग्राहकों की कमी है तथापि सच्चे गुण का मान हुए बिना नहीं रहता।

पश्चिमी नाट्य साहित्य

पाश्चात्य देशों के विचारों का मूल स्रोत यूनान और रोम की गङ्गा-यमुनी धाराओं में है। स्वयं यूनान ने मिश्र देश से प्रेरणा ग्रहण की थी। उनके नाटकों का स्थानीय आधार अवश्य था, किन्तु जहाँ तक आदर्शों का सम्बन्ध था वे यूनान और रोम

से प्रेरणा ग्रहण करते थे। पश्चिमी नाटकों की गतिविधि को समझने के लिए हमको रोम और यूनान के नाटकों का चलता परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है।

यूनान में भी अन्य प्राचीन देशों की भाँति धर्म की प्रधानता थी। वहाँ के नाटकों का उदय धार्मिक नृत्य और गीतों से भरा हुआ था। ये गीत डाइयोनिसस (Dionysus) की प्रसन्नतार्थ वर्षारम्भ के समय गाये जाते थे। इस अवसर पर लोगों के हृदय में एक विशेष आतङ्क और आतर-भाव छाया रहता था। इस समय के गीत अधिकतर गाम्भीर्यपूर्ण होते थे। ये गीत डाइयोनिसस देवता के अनुकरण में बकरी की खाल ओढ़कर गाये जाते थे क्योंकि उस देवता का धड़ और टाँगें बकरी की खाल-सी थीं। अतः इनसे विकसित होने वाले करुणात्मक नाटक ट्रेजेडी कहलाते थे। डाइयोनिसस का जीवन भी करुणात्मक था। ट्रेजेडी (Tragedy) यूनानी ट्रैगॉस शब्द से, जिसका अर्थ बकरा है, बना है। ये नाटक यद्यपि सब दुःखान्त नहीं होते थे तथापि इसमें गाम्भीर्य-भाव स्थित रखने के लिए करुण और भय के भाव (The emotions of Terror and Pity) का प्राधान्य रहता था। गाम्भीर्य बढ़ाने के लिए ही ये नाटक प्रायः दुःखान्त होने लगे और इनमें घोर और भयानक घटनाओं का समावेश होना आरम्भ हुआ। मृत्यु से बढ़कर कौनसी चीज गाम्भीर्यवर्धक हो सकती है? इसलिए ट्रेजेडी का मृत्यु से सम्बन्ध हो गया।

जिस अवसर पर ये करुणात्मक गीत नाट्य होते थे वह यद्यपि नव वर्ष से सम्बन्ध रखता था तथापि उसमें पिछले नव वर्ष के गर्व के लिए मृत्यु-दण्ड का भाव लगा रहता था। अरस्तु ने ट्रेजेडी की परिभाषा दी थी उसमें तो गाम्भीर्य का ही भाव था किन्तु पीछे से उसके साथ मृत्यु का सम्बन्ध हो गया। यह परिभाषा कुछ अनिश्चित-सी है और इसमें भी भरत के सूत्रों की भाँति व्याख्या की विविधता की गुँजाइश है—

'Tragedy, then, is an imitation of some action that is serious, entire, of some magnitude, by language embellished and rendered pleasurable by different means is different parts, presented not through narration but in action, effecting through pity and terror the purgation of these passions.'[1]

इस परिभाषा से प्रतीत होता है कि ट्रेजेडी या करुणात्मक नाटक किसी गम्भीर, पूर्ण और बड़े कार्य के अनुकरण थे। यह अनुकरण विवरण में नहीं वरन् कार्य में होता है

१. Shipley लिखित 'The Quest for Literature' (पृष्ठ १९९) से उद्धृत।

(यही अन्तर महाकाव्य और नाटक का है; महाकाव्य में विवरण रहता है, नाटक में अनुकरण कार्य द्वारा होता है) और इसकी भाषा-विविध साधनों द्वारा अलंकृत और प्रसादपूर्ण (Pleasurable) बनाई जाती है। इसका फल भय और करुणा को जाग्रत कर इन भावों का रेचन (निकास) है। इस परिभाषा का अन्तिम अंश ही सबसे संदिग्ध है, इसमें यह स्पष्ट नहीं है कि रेचन भी भय और करुणा का ही होता है या और किन्हीं का।

यूनान के दुःखान्त नाटक-लेखकों में ईस्किलस (Aeschylus), सोफीक्लीज़ (Sophocles), युरोपिडीज (Euripides) मुख्य हैं।

गीत के उदय होने के कारण यूनानी नाटकों में सामूहिक गान की, जिसको कोरस (Chorus) कहते हैं, प्रधानता रहती थी। इनके बीच में आ जाने से दृश्य विभाजित हो जाते थे। यूनानी दुःखान्त नाटक प्रायः चेहरे या मुखौटे (Masks) लगाकर खेले जाते थे। अभिनेता लोग विशाल लगने के लिए ऊँची एड़ी के जूते पहन लेते थे। ये जूते बस्किन (Buskin) कहलाते थे।

यद्यपि चेहरे स्वाभाविकता के लिए लगाये जाते थे तथापि ये अभिनय-कला के विकास में बाधक रहे। बनावटी चेहरों में उतार-चढ़ाव कहाँ? यूनान के नाट्य-गृहों के विशाल और खुले होने के कारण उनमें अभिनय-कौशल दिखलाना ही कठिन था।

यूनानी हास्य-नाटक (Comedy) का भी उदय उत्सवों में होने वाले जन मनोरञ्जन से हुआ। होली की भाँति उन उत्सवों में भी अश्लीलता का प्राधान्य रहता था। पीछे से इसका निराकरण हो गया। ये हास्य नाटक जीवन के कुछ अधिक निकट थे क्योंकि करुणात्मक नाटकों का सम्बन्ध तो अधिकतर देवताओं और नेताओं से ही रहता था। ऐसे नाटकों के विषय में पर्याप्त वैविध्य रहता था। यद्यपि हास्य नाटकों का उदय भी डाइयोनिसस की ही पूजा से हुआ था तथापि इनके प्रचार करने वाले वे लोग थे जो कि खेल-तमाशे के लिए धार्मिक कृत्यों में शामिल होते हैं। ये लोग स्वाँग रचकर अपना मन हल्का कर लेते थे किन्तु इनमें तत्कालीन जीवन की अधिक आलोचना रहती थी और कभी-कभी तत्कालीन अधिकारियों की हँसी भी उड़ाई जाती थी। यूनानी हास्य-नाटककारों में मिनेन्डर ने बड़ी ख्याति पाई है।

पश्चिमी सभ्यता यूनान से हटकर रोम में पहुँची। यद्यपि रोमन लोग विजेता थे तथापि वे विजित यूनानियों से पूरी तौर से प्रभावित हुए थे। रोम ने राजनीतिक विजय पाई थी किन्तु सांस्कृतिक विजय यूनान की ही हुई। रोम में यूनानी हास्य-नाटकों का अनुकरण हुआ और इनके लिखने में वे लोग अधिक सफल रहे। इनकी सख्या भी अधिक रही। रोम के करुणा-प्रधान नाट्यकारों के केवल सिनेका (Seneca) का नाम मिलता है। इसके नाटक श्रव्य अधिक थे, दृश्य कम।

रोम में भी अभिनय-कला की उन्नति न हो सकी क्योंकि उनके यहाँ अभिनेता लोग अधिकतर दास होते थे। रोम में नाटकों द्वारा विलासता और क्रूरता के दृश्यों का प्रचार होने लगा इसी कारण धार्मिक समाज में उन नाटकों का विरोध हुआ और वहाँ पर नाट्यकला का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। रोमन नाटकों का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने यूरोप के नाटकों को प्रभावित किया।

मनुष्य की प्रकृति खेल तमाशे चाहती है। जिस धर्म ने नाटकों का विरोध किया था उसने नाटकों को दूसरे रूप में अपनाया।

यूरोप के प्रारम्भिक नाटक राम-लीलाओं की तरह अधिकतर धार्मिक होते थे। उनमें ईसामसीह तथा उनके शिष्यों की जीवन-घटनाओं का अभिनय रहता था। ये रहस्य और चमत्कार-सम्बन्धी नाटक (Mystry and Miracle Plays) कहलाते थे। इनके पश्चात् नीति-प्रधान नाटक (Morality Plays) आये। ये नाटक प्रायः रूपक और अन्योक्ति प्रधान होते थे। कभी-कभी इनमें अपने यहाँ के 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि नाटकों की भाँति, धैर्य, करुणा आदि अमूर्त धार्मिक भावनाओं को पात्र बना दिया जाता था।

यूरोप में आधुनिक ढंग के नाटकों का उदय पुनरुत्थान-काल (Renaissance) से हुआ है। उन दिनों प्राचीन आदर्शों की उपासना-सी होने लगी थी। यूनान और रोम के आदर्श तो वे ही रहे किन्तु विषय में परिवर्तन हो गया। नाटकीय कथावस्तु में प्रेम का अधिक समावेश होने लगा। इसी को नियो-क्लासिक (Neo-Classic) अर्थात् अभिनव प्राचीनतावादी युग कहते हैं। इसके पश्चात् स्वातन्त्र्य-युग (Romantic) आया। इसमें विषय तो प्रेम ही रहा, कथावस्तु में अभिजात वर्ग की ही प्रधानता रही किन्तु प्राचीन नियमों की अवहेलना होने लगी। यह अवहेलना स्वाभाविक ही थी क्योंकि नियम परिस्थितियों के अनुकूल बनते हैं। वे नियम बदलती हुई परिस्थिति में केवल नियम होने के कारण उपाय नहीं हो सकते। इस स्वातन्त्र्य-युग में सुखान्त नाटकों में करुणात्मक तत्वों का समावेश होने लगा था।

प्रसंगवश यहाँ पर प्राचीन यूनान के नियमों में से संकलन-त्रय के नियम का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। प्राचीन नाटकों में स्थल, काल और कार्य की एकता की ओर अधिक ध्यान जाता था। वे चाहते थे कि जो घटनाएँ नाटक में दिखाई जायँ, उनका सम्बन्ध एक ही स्थान से हो, यह नहीं कि एक दृश्य आगरे का हो तो दूसरा दृश्य कलकत्ते का। इसी को वे स्थल की एकता (Unity of Place) कहते थे। दूसरी बात यह थी कि जो घटना नाटक में दिखाई जाय वह वास्तव में उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय में लगता हो। उसको वे समय की

संकलन-त्रय
Three Unities

एकता (Unity of Time) कहते थे। ऐसा करने में वास्तविक समय का रंगमञ्च के समय से ऐक्य हो जाता था। तीसरी बात यह थी कि कथावस्तु एकरस हो। इस एकरसता को निभाने के लिए प्रासंगिक कथाओं को स्थान नहीं मिल सकता था। इस नियम को कार्य की एकता (Unity of Action) कहते थे।

ये तीनों बातें यूनानी रंगमञ्च की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप थीं। यहाँ के नाटकों में दृश्य नहीं बदले जाते थे। सामूहिक गान द्वारा, जिसको वे Chorous कहते थे दो दृश्यों में अन्तर डाल दिया जाता था। वही पर्दे का काम करता था। उनके रंगमञ्च पर वास्तव में स्थान बदलता नहीं था। इसीलिए वे स्थान की एकता पर जोर देते थे। यूनानी नाटक आजकल के नाटकों की भाँति दो या तीन घण्टे के नहीं होते थे। वे बड़ी देर तक (प्रायः दिन भर से भी अधिक) चलते थे। इसलिए वे समय की काट-छाँट में विश्वास नहीं रखते थे।

कार्य की एकता वैसे तो नाटक की प्रधान आवश्यकताओं में से है। इससे नाटक में उच्छृङ्खलता नहीं आने पाती किन्तु उन्होंने इसे एक अनुचित सीमा तक पहुँचा दिया था। यह उनके अनुकरण-प्रधान आदर्श के अनुकूल था। वे रंगमञ्च और वास्तविक घटनाओं में भेद नहीं रखना चाहते थे। किंतु कला अनुकरण-मात्र नहीं हैं, उनमें चुनाव रहता है। प्रभाव के लिए घटनाओं को व्यवस्थित रूप में रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त किसी घटना को समझने के लिए उसके पूर्व घटी हुई बातों का बतलाना भी आवश्यक होता है।

नाटकों में केवल विवरण (Narration) से काम नहीं चलता उसमें क्रिया और प्रत्यक्ष अभिनय का अधिक मूल्य होता है। पूर्व की घटनाएँ सब एक ही स्थल में घटित नहीं होतीं। आजकल का समाज पहले से अधिक पेचीदा है। हमारे सम्बन्धों का जाल बहुत दूर तक फैला रहता है। ऐसे समाज में स्थल की एकता का नियम निभाना बड़ा कठिन हो जाता है। इसके लिए पट-परिवर्तन का साधन भी अच्छा है। पर्दे के साथ-साथ ही वातावरण बदल जाता है। आजकल तो बिना पर्दा उठे ही सभी वातावरण और-का-और हो सकता है। फिर आजकल के लोग स्थलैक्य की क्यों परवाह करने लगे? संस्कृत नाटकों में भी स्थलैक्य की परवाह नहीं की गई। शेक्सपियर के 'टैम्पैस्ट' (Tempest) के सिवाय और किसी नाटक में इन नियमों का निर्वाह नहीं हुआ। मिल्टन के 'सेम्सन एगनोस्टीस' (Samson Agonistes) में यूनानी आदर्शों का पूर्णतया निर्वाह हुआ है। संस्कृत नाटककार स्थल बदलने के लिए नाटक के भीतर ही पर्याप्त व्याख्या रखते थे। उत्तररामचरित में श्री रामचन्द्र जी अनायास ही दण्डक बन नहीं पहुँच जाते। नाटकीय प्रभाव के लिए श्री रामचन्द्र जी का दण्डक बन जाना आवश्यक था। किन्तु इस नियम की अवहेलना करने का यह अभिप्राय नहीं है कि चाहे

जैसे दृश्य रख दिये जायँ। एक अंक के भीतर ही एक साथ लाहौर और न्यूयार्क के दृश्य रख देना ठीक नहीं क्योंकि वहाँ पहुँचने में भी समय लगता है। राम को दण्डक बन भेजने के लिए नाटककार को शम्बूक की कथा लानी पड़ी।

संस्कृत नाटकों में काल-संकलन का नियम किसी अंश में पाला जाता था। एक अंक में वर्णित कथा एक दिन से अधिक की होने का निषेध है और दो अंकों के बीच में एक वर्ष से अधिक का व्यवधान वर्जित था। पीछे के नाटककारों ने जिन में शेक्सपियर भी था इन नियमों का पालन नहीं किया। यद्यपि अपने यहाँ यह नियम बड़ा कड़ा था **'वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्'** (नाट्यशास्त्र—२०।२९) तथापि इस नियम की भी उत्तर-रामचरित में अवहेलना हुई। पहले और दूसरे अङ्क के बीच में ही बारह वर्ष का व्यवधान है किन्तु इस अन्तर को नाटककार ने बड़े कौशल के साथ दिखाया है। आत्रेयी द्वारा बालकों के बारह वर्ष का हो जाना बतलाया है। हाथी के बच्चे की उम्र से भी समय का भान कराया गया है। श्री रामचन्द्र जी पूर्व परिचित दृश्यों को देख कहने लग जाते हैं कि ये गिरि, पर्वत और नदियाँ तो वे ही हैं—

'बहु दिन पाछें विपरीत चिन्ह देखन सों,
यह कोऊ भिन्न बन से न जिय आवै है।
जहाँ के तहाँ पै किन्तु अचल हेरि,
सोई पंचवटी विसास ये दृढ़ावै है॥'

—सत्यनारायणकृत उत्तररामचरित के अनुवाद से।

इस उक्ति के (यह पंचवटी वही है) द्वारा समय का व्यवधान कुछ घटा हुआ सा प्रतीत होने लगता है। आचार्यों ने व्यायोग और समवकार में आने वाली घटनाओं के लिए काल निश्चित कर दिया था।

कार्य की एकता हर समय के नाटकों में एक आवश्यक तत्व रहता है किन्तु एकता का मतलब शुष्क वैविध्यहीन एकता नहीं। प्रासङ्गिक घटनाओं का बिलकुल बहिष्कार कर नाटक में एकरसता लाना उसके महत्त्व को कम करना है। वैविध्य में ही एकता का महत्त्व है। एकरसता से तो जी ऊब जाता है। अनेकता में एकता स्थापित करना वस्तु को संगठित बनाना है। बिना अवयवों के संगटन कैसा? सूखे शहतीर-की-सी निरवयव एकरसता निर्जीव हो जाती है। हरे-भरे वृक्ष-का-सा वैविध्य-पूर्ण स्कन्ध-शाखामय ऐक्य ही दर्शकों के लिए नयनाभिराम होता है।[1]

---

१ भरतमुनि ने भी बहुत से कार्यों को एक अङ्क में लाने का निषेध नहीं किया है किन्तु उनमें अविरोध रखना बतलाया है। यह कार्य की एकता ही है—

'एकाङ्के न कदाचित् बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्।
आवश्यकाविरोधेन तत्र काव्यानि कार्याणि॥'

—नाट्यशास्त्र (२०।२५)

रोमान्टिक स्कूल के लोगों ने स्थल और समय की एकता की अवहेलना की और कार्य की एकता को उन्होंने ऊपर के बतलाये हुए व्यापक अर्थ में लिया। रोमान्टिक स्कूल वालों में और अभिनव प्राचीनतावादियों में एक बात का और अन्तर था। वह यह कि अभिनय प्राचीनतावादी संस्कृत-नाटककारों की भाँति मंच पर मृत्यु आदि के घोर दृश्यों का दिखाया वर्ज्य मानते थे और उनका अभिनय नहीं करते थे। वे उस घटना के हो जाने की सूचना किसी पात्र द्वारा दिला देते थे। घोर और उग्र घटनाएँ रंगमञ्च से बाहर हुई समझी जाती थीं और उनका उल्लेख हो जाता था। रोमान्टिक लोग घटना को मंच पर घटती हुई दिखाना अधिक पसन्द करते थे।

शेक्सपियर इन्हीं रोमान्टिक विद्रोहियों में से था। वह घोर और उग्र प्रकार की घटनाओं को स्टेज पर दिखलाने में नहीं चूका, शेक्सपियर के नाटकों का विषय अधिकतर अभिजात वर्ग का जीवन रहा। शेक्सपियर ने ट्रेजेडी, कामेडी, दुःखान्त का पार्थक्य भी मिटा-सा दिया अर्थात् यह नहीं माना कि ट्रेजेडी के साथ कामेडी का योग न हो सके अथवा इसके विपरीत सुखान्त नाटकों में करुणात्मक दृश्यों का समावेश न हो। 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' में करुणात्मक दृश्यों का सुन्दर सम्मिश्रण है।

यूरोप के ड्रामों का इतिहास बड़ा पेचीदा है। शेक्सपियर के बाद नाटकीय आदर्शों में बहुत-सा घात-प्रतिघात होता रहा। आधुनिक समय के नाटकों के बारे में दो-एक शब्द कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया जायगा।

इब्सन का प्रभाव

आधुनिक नाटकों पर सबसे अधिक प्रभाव नार्वे-निवासी इब्सन (Ibson सन् १८२८-१९०६) का है। इब्सन द्वारा नाटकीय आदर्शों में कई परिवर्तन हुए। उनमें पाँच बातें मुख्य हैं। पहली यह कि नाटकों का विषय ऐतिहासिक न रहकर वर्तमान समाज और उनकी समस्याएँ हो गया। यद्यपि मानव-जीवन की समस्याएँ शाश्वत हैं तथापि वे युग के अनुकूल बदलती रहती हैं। प्राचीन युग में नवीन समस्याओं का अवतरित करना उचित नहीं है। हमको अपने निकट का जीवन अतीत की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगता है (इसमें मतभेद हो सकता है) दूसरी बात यह है कि नाटक का विषय अभिजात वर्ग में ही सीमित नहीं रहा। साधारण कोटि के लोग मानव-रुचि का विषय बन गये। बहुत-सी सामाजिक समस्याएँ साधारण कोटि के लोगों में केन्द्रित रहती हैं। तीसरी बात यह है कि नाटकों में व्यक्ति व्यक्ति के द्वेष की अपेक्षा सामाजिक संस्थाओं के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया जाने लगा। उनमें युवकों के हृदय में उठते हुए विद्रोह की छाया दिखाई देने लगी। जो सामाजिक बन्धन, शील और मर्यादा के आदर्श विक्टोरिया के युग में आदरणीय समझे जाते थे, वे उपेक्षणीय बन गये। चौथी बात यह भी हुई कि वाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता मिली। पाँचवीं बात यह थी कि स्वगत कथन आदि कम

हो गये और नाटक स्वाभाविकता की ओर अधिक बढ़ा।

इंगलैण्ड में गाल्सवर्दी (Galsworthy), बर्नार्ड शॉ (Bernard Shaw) आदि नाटककारों पर इब्सन का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। इसके कारण रंगमञ्च वास्तविक स्थिति के अधिक अनुकूल हो गया है। इसलिए रंगमञ्च के संकेतों में जरा-जरा सी बात का ब्योरा दिया जाता है। इसका प्रभाव अपने यहाँ के नाटकों पर भी पड़ा है। देखिये लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वरप्रसाद, रामकुमार वर्मा, पंतजी आदि के नाटक।

यूरोप में इब्सन से ही नाटकीय आदर्शों की इतिश्री नहीं हो जाती है। यथार्थवाद की प्रतिक्रिया भी चल रही है। क्षणिक समस्याओं को छोड़कर मानव-जाति की चिरन्तन और मौलिक समस्याओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जाता है। कवित्व और प्रतीकवाद (Poetry and Symbolism) को स्थान मिल रहा है। प्राकृतिक घटनाएँ मानवीय समस्याओं की प्रतीक बन जाती हैं। यह एक प्रकार की अन्योक्ति-पद्धति है। मेटरलिंक (Maeterlinck) आदि नाटककारों ने गम्भीर आध्यात्मिक विषयों का विवेचन ही अपना मुख्य ध्येय बना रखा है। वे आध्यात्मिक संघर्ष को नाटक के रूप में घटित दिखाते हैं। आजकल के कुछ नाटकों में कल्पना की भी उड़ान रहती है। पंतजी की 'ज्योत्स्ना' में इस प्रवृत्ति का प्रभाव है। सेठ गोविन्ददास के नाटक 'प्रकाश' में साँड चीनी के बर्तनों की दुकान में घुस जाने की बात जो प्रारम्भ में दी है, वह भी एक प्रकार का प्रतीकवाद ही है। स्वयं प्रकाश ही वह साँड है।

अन्य प्रवृत्तियाँ

एकांकी नाटक

इसी युग में एकांकी नाटकों का उदय हुआ। प्रारम्भ में ये नाटक समय की पूर्ति के लिए खेले जाते थे। नाटक देखने के लिए कुछ लोग देर में आया करते थे। उन लोगों के लिए समय पर आने वालों को खाली बिठलाना उनके साथ अन्याय था। इसलिए आगन्तुकों के मनोविनोदार्थ प्रधान नाटक के आरम्भ के पूर्व छोटे नाटकीय दृश्य दिखाये जाते थे। लोग इनको अधिक पसन्द करने लगे। आधुनिक एकांकी नाटकों का इन्हीं से उदय हुआ। ये नाटक समय की बचत करने वाली मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल हुए।

यद्यपि संस्कृत में भी रूपकों के प्रकारों में एकांकी नाटक थे (जैसे—भाण, अङ्क, व्यायोग, वीथी, प्रहसन) तथापि वर्तमान हिन्दी एकांकी नाटकों ने पश्चिमी एकांकी नाटकों से ही प्रेरणा ग्रहण की। वर्तमान एकांकियों में प्राचीन एकांकियों के-से रस, पात्र और सन्धियों आदि के नियम नहीं बरते जाते हैं वे अधिकांश में पाश्चात्य शिल्प के

अनुकूल रचे जाते हैं। जिस प्रवृत्ति ने छोटी कहानियों को जन्म दिया है उसी ने एकांकी नाटकों का प्रचलन कराया है। आजकल के पेचदार जीवन में समय का अपेक्षाकृत अभाव रहता है इसलिए इनका आविर्भाव समय की आवश्यकता के अनुकूल ही हुआ है। यूरोप में भी इनका आविर्भाव समय के सदुपयोग के लिए हुआ था। अभी आदमी नाटक देखने प्रायः कुछ देर से आते थे। उस समय तक अन्य आये हुए दर्शकों के मनोरञ्जन के लिए कुछ छोटे नाटकों की रचना की गई थी, जिससे उन लोगों का समय नष्ट न हो। इनको Curtain Raisers अर्थात् पर्दा उठाने वाले कहते थे। उनके समाप्त होने पर ही प्रधान नाटक का ही आरम्भ होता था। इनमें कहानी-की-सी एक तथ्यता रहती है, पात्र भी अपेक्षाकृत कम रहते हैं और संकलनत्रय का भी कुछ अधिक सुविधा के साथ पालन होता है। भारतेन्दुकाल के एकांकी तो प्राचीन आदर्शों पर ही रचे गये किन्तु वर्तमान एकांकियों ने पाश्चात्य देशों के एकांकियों से प्रेरणा ग्रहण की। हिन्दी नाटक-साहित्य पर बहुत कुछ पश्चिमी प्रभाव है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारे यहाँ के नाटककार अन्धानुकरण कर रहे हैं वरन् यह कि जो प्रवृत्तियाँ यूरोपीय नाटककारों के मन में काम कर रही हैं। वे हमारे यहाँ के नाटककारों के मानस को भी प्रेरित कर रही हैं। स्वाभाविकता की पुकार हमेशा से चली आई है, उसके रूप बदलते रहे हैं। यूरोप से हमारे नाटककारों को उदाहरण मिल जाने के कारण उनका कार्य सरल अवश्य हो जाता है किन्तु उनको सब बातें देशी रंग में रँगनी पड़ती हैं।

सिनेमा और रेडियो-नाटक

अभिनयात्मक मनोरंजन के क्षेत्र में सिनेमा और रेडियो-नाटक दोनों ही नवीन युग की देन हैं और इन्होंने जनता में लोकप्रियता भी प्राप्त कर ली है। नाटक में जहाँ सजीव स्त्री-पुरुषों द्वारा वास्तविकता की अनुकृति की जाती है

सिनेमा

वहाँ सिनेमा में उनके छाया-लोकमय चलचित्र दिखाये जाते हैं जिनके द्वारा मौखिक अभिनय (वाचिक) भी होता है। सिनेमा में दृश्य-विधान की प्रधानता रहती है और जहाँ तक वातावरण का प्रश्न है, सिनेमा नाटक की बहुत-सी न्यूनताओं को पूरा कर देता है। सिनेमा फोटोग्राफी और हाथ के बनाये हुए चित्रों द्वारा जो स्टेज पर असम्भव होता है उसको भी सम्भव कर दिखाता है किन्तु सिनेमा और नाटक में अन्तर है। नाटक पढ़े और देखे दोनों ही जाते हैं। सिनेमा के लिए जो सिनेरियो लिखे जाते हैं वे केवल पट पर दिखाये जाने के लिए ही होते हैं। इसलिए सिनेरियो में दृश्यों को आकर्षक और मनमोहक बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। आजकल नाटकों में से संगीत का अनावश्यक समावेश कम हो जाता है किन्तु सिनेमा में उसकी आकर्षकता बढ़ाने के लिए संगीत को विशेषकर चलते हुए संगीत

को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसलिए जनता के निम्न स्तरों में उस प्रकार के संगीत की मान्यता भी अधिक हो गई है। सिनेमा के नाटक पुराने पारसी नाटकों के बहुत अंश में निकट आ जाते हैं।

श्रव्य काव्य में चाहे वह पद्यमय और चाहे वह गद्यमय हो केवल शब्दों का ही सहारा रहता है। उसमें कल्पना पर विशेष बल देना पड़ता है। शब्दों द्वारा ही सारा चित्र विधान उपस्थित किया जाता है। नाटक और सिनेमा में कल्पना पर कम बल डालना पड़ता है इसलिए वे जनसाधारण के लिए अधिक उपयोगी समझे गये हैं और उनको प्रचार का भी साधन बनाया गया है। पाण्डित्य की दृष्टि से दृश्य-काव्य श्रव्य-काव्य से नीचे उतर आता है तभी तो उसको पंचम वेद कहा गया है जिसमें शूद्रों को अर्थात् अल्प-बुद्धि वाले लोगों को भी अधिकार हो। इस दृष्टि से सिनेमा एक सीढ़ी और नीचे उतर आता है। सिनेमा में न तो भाषा की बारीकियों पर आश्रित वार्तालाप होते हैं और न चरित्र को प्रकाश में लाने वाले स्वगत कथन होते हैं। स्वगत कथन अस्वाभाविक चाहे हों किन्तु वे प्रायः पाण्डित्य-पूर्ण होते थे। सिनेमा की भाषा जनता की भाषा होती है। उसमें चरित्र की अपेक्षा चमत्कार का प्राधान्य रहता है।

रेडियो नाटक

सिनेमा नाटक की भाँति दृश्य और श्रव्य दोनों ही होता है किन्तु रेडियो नाटक केवल श्रव्य ही होता है। उसमें भी श्रव्य-काव्य की भाँति कल्पना का अधिक आश्रय लेना पड़ता है किन्तु उसकी ध्वनियाँ सजीव होती हैं जिनके सूक्ष्म उतार-चढ़ाव में लिखित शब्द से कुछ अधिक भावाभिव्यक्ति रहती है। आदमियों की गति आदि के भी चित्र (उतरना-चढ़ना, दरवाजा खटखटाना आदि तथा आहें, सिसकियाँ, हँसना, रोना, व्यंग्य और मुस्कराहट का बदला हुआ लहजा) ये सब बातें शब्द द्वारा प्रसारित हो जाती हैं। मुख-मुद्रा, भ्रुकुटी-संकोच, अश्रु, कम्पादि का द्योतन शब्द-संकेतों द्वारा ही होता है जिन अङ्ग-भङ्गियों का ध्वनि द्वारा चित्रण नहीं हो सकता है उनका किसी पात्र द्वारा वर्णन कर दिया जाता है (यदि उनका वर्णन आवश्यक हो)। दृश्य का बदलना, पर्दा गिरना नहीं होता है वरन् वाद्य संगीत का व्यवधान डालकर होता है। फिर भी उसमें सिनेमा-का-सा दृश्य-विधान नहीं होता है। दूरी का अन्तर समय में कठिनता से परिवर्तित हो पाता है। दूरी का भान तो सिनेमा में दृश्य-विधान को कुछ लम्बा करके नाटक से अधिक सफलता से कराया जाता है। रेडियो-नाटक सिनेमा की अपेक्षा कम समय में होते हैं। वे अधिकांश में एकांकी की भाँति होते हैं और इसलिए उनमें उतनी पेचीदगी भी नहीं होती है।

रेडियो-नाटकों में समय का भी बन्धन अधिक होता है। इसी कारण उसको

दूसरी विधा 'रूपक' में जिसको अंग्रेज़ी में Feature कहते हैं प्रकथन अर्थात् नेरेशन को अधिक स्थान मिलता है, आवश्यक कथोपकथन के बीच में उनका तारतम्य जोड़ने वाले सूत्रधार या 'नेरेटर' द्वारा प्रकथन आ जाते हैं। उनके द्वारा समय की खाई पाट दी जाती है।

रेडियो रूपक

सूत्रधार समय का संकेत जैसे पाँच वर्ष बाद बीच की आवश्यक बातें कहकर आने वाले कथोपकथन की भूमिका बाँध देता है (हिमालय नाम के रूपक में प्रागैतिहासिक काल से अब तक का हाल है)। इसलिए रेडियो के फीचर उपन्यास के अधिक निकट आ जाते हैं किन्तु उसमें उपन्यास-की-सी पात्रों की बहुलता और पेचीदगी नहीं रहती है, इसीलिए चरित्र का भी विकास नहीं दिखाया जा सकता है। प्रायः एकांकी नाटकों की भाँति बने-बनाये चरित्रों पर ही प्रकाश डाला जाता है। कहीं-कहीं विशेष आघात पड़ने पर परिवर्तन भी हो जाता है किन्तु विकास के लिए गुँजाइश नहीं रहती। यद्यपि रूपक शब्द नाटक से भी अधिक व्यापक है क्योंकि नाटक रूपक की एक विधा है, तथापि रेडियो में रूपक का व्यवहार नाटक से भिन्न इसी पारिभाषिक अर्थ में होता है, अर्थात् जिसमें कि संवाद के साथ सूत्रधार द्वारा कुछ विवरण भी रहता है। ध्वनि-प्रधान होने के कारण रूपकों में कभी-कभी अनुकार्यों अर्थात् असली पात्रों-कार्यों जैसे महात्मा गाँधी या सरदार पटेल की वास्तविक वाणी भी ग्रामोफोन-रेकार्ड द्वारा किया जाता है।

रेडियो नाटकों में केवल वाचिक अभिनय रहता है सो भी अपूर्ण किन्तु कलाकार का कौशल इस बात में रहता है कि मार्मिक स्थल सब कथोपकथन में आ जाय। सिनेमा के लिए घर से बाहर जाना पड़ता है। रेडियो-नाटक घर के कक्ष में ही सुने जा सकते हैं। यही उनकी सफलता का मूल कारण है, अन्यथा उनमें नाटक के पूर्ण गुण नहीं आने पाते। श्री विष्णु प्रभाकर, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री गिरजाकुमार माथुर, श्री प्रभाकर माचवे, श्री अज्ञेय, श्री भारतभूषण अग्रवाल, श्री रामचन्द्र तिवारी आदि ने कई सुन्दर रेडियो-नाटक लिखे हैं जो समय-समय पर रेडियो द्वारा प्रसारित भी हुए हैं। श्री उदयशंकर भट्ट के दो ध्वनि-नाटक, 'एकला चलो रे' और 'कालिदास' प्रकाशित भी हो चुके हैं।

हिन्दी का नाट्य साहित्य

यद्यपि हिन्दी को संस्कृत और प्राकृत की मूल्यवान पैतृक सम्पत्ति प्राप्त थी तथापि इसका उपभोग उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व न हो सका। इसके कई कारण थे। हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य का उदय आपस की मारकाट और मुसलमानी आक्रमणों के क्षुब्ध वातावरण में हुआ था। इस समय देश में वह शान्ति न थी जो नाटकों के अभिनय और विकास के लिए अपेक्षित थी। नाट्य साहित्य की सृष्टि के लिए जीवन के प्रति आस्था

अभाव के कारण

और जातीय उत्साह अपेक्षित होता है। बहुत दिनों की दासता, अशान्ति और उत्पीड़न ने इस उत्साह को नष्ट कर दिया था। हमारे भाग्यवाद और मायावाद ने भी हमारे जीवन के प्रति आस्था को कम कर रक्खा था। अंग्रेज़ी राज्य के आगमन से जीवन की वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ और उस काल की अपेक्षाकृत शान्ति ने अपनी समस्याओं की नाटकीय अभिव्यक्ति का अवसर दिया। मुसलमानों के यहाँ नाट्य-साहित्य का बिल्कुल अभाव था उनसे इनके सम्बन्ध में कोई उत्तेजना या प्रोत्साहन मिलना असम्भव था, नाटकों में गद्य और पद्य दोनों हो रहते हैं क्योंकि बोल-चाल की स्वाभाविक भाषा गद्य ही है। संस्कृत नाटकों में गद्य पर्याप्त मात्रा में रहती थी किन्तु हिन्दी भाषा के विकास के आरम्भ-काल में गद्य का कोई रूप प्रतिष्ठित न था। हिन्दी और संस्कृत के नाटकों की बीच की कड़ी हमको बिहार के नाटकों में मिलती है, उदाहरणस्वरूप उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' नाटक दिया जा सकता है।

पूर्व हरिश्चन्द्र युग

हिन्दी में जो प्रारम्भिक नाटक लिखे गये वे प्रायः संस्कृत के अनुवाद थे और पद्यात्मक संवाद के रूप में थे। नेवाज कवि कृत 'शकुन्तला' नाटक तुलसीदास जी के समकालीन प्रसिद्ध जैन कवि बनारसी दास जी का 'समयसार'[१] तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' का ब्रजवासीदास द्वारा किया हुआ अनुवाद ऐसे ही नाटक हैं, जो केवल संवाद-रूप में होने के कारण नाटक नाम से अविहित हुए हैं। पिछले नाटक का विषय आध्यात्मिक है और पात्र प्रायः कल्पित या चित्त-वृत्तियों के मानवीकरण हैं। इस श्रेणी के नाटकों में देव जी का 'देव माया प्रपञ्च' नाटक (यद्यपि अब इसके प्रसिद्ध कवि देवकृत होने में सन्देह किया जाता है) भी आएगा। इन प्रारम्भिक नाटकों की सूची में महाराज काशीराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' तथा श्री महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' इन दो नाटकों के नाम और गिनाये जाते हैं।

स्वनामधन्य श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम नाटक जिसमें पात्रों के प्रवेशादि के नियम का पालन हुआ है अपने पिता श्री कविवर गिरधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द जी) का बनाया हुआ 'नहुष' नाटक बतलाया है। इसमें इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगने के कारण उनके पदच्युत होने तथा नहुष के इन्द्र-पद को प्राप्त होकर कामलोलुपतावश इन्द्राणी को वरण करने की अभिलाषा से सप्तर्षियों को पालकी में जोतकर उनके यहाँ जाने की चेष्टा एवं दुर्वासा द्वारा शापित होकर उनके (नहुष के) पतन की कथा है।

---

१. यह एक आध्यात्मिक पद्य रचना है। इससे जीव पुद्गल (जैन साहित्य व भौतिक पदार्थ को कहते हैं) का नाटक सम्बन्धी रूपक बाँधा है; स्वयं यह नाटक नहीं है।

हिन्दी का दूसरा नाटक राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक है। इसकी गद्य खड़ी-बोली की है और इसका पद्य-भाग ब्रजभाषा का है। यह पहले-पहल पिन्काट साहब के सम्पादकत्व में छपा था। अनुवाद होते हुए भी इसमें मूल-का-सा आनन्द आता है। इसकी भाषा के माधुर्य की प्रशंसा भारतेन्दु जी ने भी की है। इस प्रकार पूर्व हरिश्चन्द्र काल के नाटकों का विषय प्रायः आध्यात्मिक या पौराणिक रहा। ये नाटक प्रायः संस्कृत के अनुवाद होते थे और इनकी भाषा अधिकांश में (कम-से-कम पद्य भाग अवश्य) ब्रजभाषा रही। भाषा के सम्बन्ध में इस परिपाटी का पालन भारतेन्दु जी के समय तक होता रहा।

वास्तविक अर्थ में हिन्दी नाट्य साहित्य के जन्मदाता होने का श्रेय भारतेन्दु जी को ही दिया जा सकता है। उन्होंने संवत् १९२५ में सबसे पहला अनूदित नाटक 'विद्या सुन्दर' लिखा (यह बंगला से अनुवादित था) और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का सबसे पहला मौलिक नाटक उन्होंने संवत् १९३० में रचा। इस बीच में लाला श्री निवासदास का 'तप्ता-संवरण' निकला। इसको भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी का चौथा नाटक कहा है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के बाद अलीगढ़ के बाबू तोताराम जी का 'केटो कृतान्त' निकला, यह एडीसन द्वारा लिखे हुए 'केटो' नाम के अंग्रेजी नाटक से अनुवादित था। इस प्रकार नाटकों का ढर्रा चल पड़ा।

भारतेन्दु-काल

भारतेन्दु जी ने 'विद्या सुन्दर' और 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति' के अतिरिक्त और भी नाटक लिखे—'प्रेम योगिनी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' (संस्कृत के 'चण्ड कौशिक' का कुछ हेर-फेर का रूपान्तर), 'मुद्रा राक्षस' (यह विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद है। यह राजनैतिक नाटक है और इसका कथानक बड़ा पेचीदा है, फिर भी हिन्दी में इसका बड़ा सुन्दर निर्वाह हुआ है।) 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण नामक प्राचीन ढंग का एक रूपक है जिस में एक ही पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर आकाश-भाषित के रूप में वार्तालाप करता है। इसका विषय आधुनिक है, इसमें महाराजा बड़ौदा के अत्याचार के कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा उनके पदच्युत किये जाने पर संतोष प्रकट किया गया है।) 'चन्द्रावली' (कृष्ण-भक्ति-प्रधान एक नाटिका है। इसमें काव्यत्व की मात्रा अधिक है। संचारियों और विरह-दशाओं के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। इसकी भाषा अधिकांश में ब्रजभाषा है), 'भारत दुर्दशा' (इसमें भारत की दयनीय दशा और उसके कारणों का चित्रण है), 'नीलदेवी' (इसमें एक भारतीय नारी के वीरत्व और कार्य-कौशल का वर्णन है), 'अन्धेर नगरी' न्याय की विडम्बना-सम्बन्धी एक प्रहसन) आदि चौदह नाटक हैं।

भारतेन्दु जी के समकालीन लेखकों के नाटकों में भी श्री बद्रीनारायण प्रेमघन

लिखित 'भारत सौभाग्य नाटक' प्रतापनारायण मिश्र का 'त्रिया तेल, हमीर हठ चढ़े न दूजी बार' (हमीर जिनके सम्बन्ध में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है)' श्री राधाकृष्ण दास के 'महारानी पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप', श्री केशवराम भट्ट के 'सज्जाद सम्बुल' और 'समसाद सौसन' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'तप्ताः संवरण', किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'प्रणयनी प्रणय' और 'मयङ्क-मंजरी' शालिग्राम का 'माधवानल कामकन्दला' आदि नाटक भी विशेष रूप से ख्याति पा चुके हैं। उस समय से ही दुःखान्त नाटकों की प्रवृत्ति का श्रीगणेश हो चुका था। 'रणधीर प्रेममोहिनी' दुःखान्त नाटक ही हैं। पिछले दो नाटकों की भाषा यद्यपि उर्दू थी तथापि इनमें तत्कालीन जीवन से अधिक सम्पर्क था। इनमें राजनीतिक पुट भी था। ये दोनों ही बंगला नाटकों के आधार पर लिखे गये हैं, इसमें सभी प्रकार के पात्र आये हैं। इस समय के नाटकों में प्राचीन परिपाटी का कुछ-कुछ त्याग होने लगा था (भारतेन्दु जी प्राचीन प्रथा से हटे अवश्य किन्तु अधिक नहीं। उनके बहुत से नाटकों में मंगलाचरण और भरत-वाक्य मिलते हैं) और उनका विषय धार्मिक से हटकर सामाजिक और राजनीतिक की ओर जाने लगा। ऐतिहासिक नाटकों में भी जातीय गौरव की प्रधानता होने के कारण वे राजनीतिक की कोटि में आ सकते हैं। इस समय के नाटकों में हास्य व्यंग्य का भी समावेश होने लगा और कहीं-कहीं एक ही नाटक में मनोरंजन के लिए हास्य-प्रधान कथानक को भी स्थान दिया जाता था। भाषा भी व्रजभाषा से हटकर खड़ी बोली की ओर आने लगी और उर्दू के शब्दों का भी समावेश होना आरम्भ हो गया।

संक्रांति-युग

संस्कृत और बंगला के नाटकों का अनुवाद तो हरिश्चन्द्र-युग में ही आरम्भ हो गया था किन्तु संक्रान्ति-काल में वह कुछ तेजी से बढ़ा। भारतेन्दु जी ने अपने समय के अधिकारी व्यक्तियों द्वारा किये हुए संस्कृत के नाटकों की बड़ी हँसी उड़ाई है। नाट्य करने का अर्थ होता है अभिनय करना। उन लोगों ने नाट्य का अर्थ नाचना लगाया था, इस कारण वे कहीं-कहीं हास्यास्पद बन गये। भारतेन्दु जी लिखते हैं—'एक आनन्द और सुनिये। नाटकों में कहीं-कहीं आता है **'नाट्येनोपविश्य'** अर्थात् बैठने का नाट्य (अभिनय) करता है। उसका अनुवाद हुआ—राजा नाचता हुआ बैठता है। **'नाट्येनोल्लिख्य'** की दुर्दशा हुई है। ऐसे ही 'लेखनी को लेकर नाचती हुई', 'निकट बैठकर नाचती हुई'।

इस संक्रान्ति-काल के अनुवाद इस प्रकार के न थे। संस्कृत के नाटकों में राय-बहादुर लाला सीताराम 'भूप' कृत अनुवाद बड़े सफल हुए हैं। श्री सत्यनारायण जी का भवभूति का 'उत्तररामचरित' मूल लेखक भाव के निर्वाह और भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से

उतना ही उत्कृष्ट है जितना राजा लक्ष्मण सिंह का 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद। हाल में भास के कई नाटकों के स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिमा आदि के सुन्दर अनुवाद निकले इन्हीं दिनों शेक्सपियर के नाटकों का भी हिन्दी अनुवाद हुआ। बंगला के अनूदित नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों की कुछ दिन बड़ी धूम रही। रवि बाबू के 'डाकघर', 'चित्रांगदा', 'राजा रानी', 'चिरकुमार-सभा' आदि के भी सुन्दर अनुवाद निकल चुके हैं। इन अनुवादों का श्रेय पण्डित रूपनारायण पाण्डेय को है। इन नाटकों द्वारा हिन्दी नाटकों में गद्य का प्रचार बढ़ा।

इस काल में कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। उनमें से तो कुछ तो साहित्यिक कहे जा सकते हैं और कुछ विशेष रूप से पारसी नाटक-कम्पनियों के साथ समझौते की दृष्टि से लिखे गये थे। साहित्यिक नाटकों में मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (इसमें मुकदमे-बाजी के मार्मिक दृश्य दिखाये गये हैं), पण्डित बदरीनारायण भट्ट के 'दुर्गावती', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'वेनु-चरित्र' राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला', 'भानुकुमार', बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास', पण्डित जगन्नाथ चतुर्वेदी का 'मधुर मिलन', पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' आदि नाटक प्रमुख हैं। इन नाटकों में भी कम-से-कम कुछ में तो अवश्य पारसी नाटकों-की-सी पद्य की प्रवृत्ति है। जरा-सी बात की, जैसे—आप किस पर नाराज हैं, भट्ट जी के 'दुर्गावती' नाटक में लम्बी-चौड़ी पद्यमयी अभिव्यक्ति की गई है। देखिये—

> 'क्रुद्ध हुए हैं भला, आज यों किस अत्याचारी पर आप,
> कौन मेटने वाला है, खुद मिटकर दुनिया का सन्ताप।
> भला कौन से पापी का अब घड़ा फूटने वाला है,
> कौन शख्स है जिसका यम से पाला पड़ने वाला है॥'

श्री माखनलाल जी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध' में भी अनावश्यक पद्य प्रयोग की प्रवृत्ति है किन्तु उन पद्यांशों में साहित्यिकता कुछ अधिक होने के कारण वह क्षम्य सा हो जाता है। जहाँ थोड़ा भावावेश हो वहाँ पद्य इतना नहीं खटकता जितना कि अनावश्यक प्रसंगों में—

> 'वृन्दा ! तुझ में भरा हुआ है, मेरे बालकपन का रंग,
> लाड़ जसोदा मैया का वह भैया बलदाऊ का संग,
> ग्वाल बाल की सुखद मंडली, गौवें यमुना और निकुंज,
> राधा सह सखियों का आना, चन्द्र साथ ज्यों तारक पुञ्ज॥'

—कृष्णार्जुन-युद्ध (पृष्ट १८)

पहले छन्द की अपेक्षा इसमें अधिक मार्मिकता और प्रसंगानुकूलता है। इसमें भी प्रवृत्ति तो वही है किन्तु कुछ परिमार्जित रूप में।

रंगमंच की दृष्टि से लिखे हुए नाटकों में नारायण प्रसाद 'बेताब' जी का 'महाभारत', पं० राधेश्याम कथावाचक के पौराणिक नाटक 'वीर अभिमन्यु', 'परम भक्त प्रह्लाद' तथा हरेकृष्ण जौहर के 'पति-भक्ति' आदि नाटक जो पारसी नाटक-कम्पनियों में खेले जाने योग्य हिन्दी भाषा-प्रधान नाटक थे, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कृष्णचन्द्र जेबा का 'ज़ख्मी पंजाब', 'जख्मी हिन्दू', 'शहीद सन्यासी' ने विशेष ख्याति पाई किन्तु उनमें 'उर्दू' का प्राधान्य था।

इस समय के साहित्यक नाटकों में पद्य से छुटकारा तो नहीं मिला किन्तु गद्य की ओर प्रवृत्ति बढ़ी, उसका अपेक्षाकृत प्राधान्य हो गया। विषयों में भी परिवर्तन हुआ। धार्मिक विषयों का बाहुल्य रहा किन्तु दैवी या अति मानवी शक्तियों का हस्तक्षेप कम हो गया। धीरे-धीरे इस काल में समाज की रुचि धार्मिक विषयों से हटकर ऐतिहासिक, सामाजिक, और राजनीतिक विषयों की ओर अग्रसर होने लगी और यथार्थवाद की ओर भी कुछ-कुछ झुकाव बढ़ा।

प्रसाद जी स्वयं एक युग थे। उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उनको स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता की रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नयी सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्र लाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते है। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में भारत के शक्ति वैभव की अपेक्षा उनकी नैतिक सम्पन्नता और विशालता को अधिक उभार में लाकर देशवासियों का मस्तक गौरव से ऊँचा कर दिया है। मालव-वीरों के हाथ में आये हुए विश्वविजेता सिकन्दर को सिंहरण द्वारा अभयदान दिलाकर पर्वतेश्वर का ऋण ही नहीं चुकाया वरन् एक नैतिक प्रतिशोध भी ले लिया और भारतीय उदारता का परिचय दिया। प्रसाद जी इतिहास और पुरातत्व के पण्डित थे। उन्होंने बौद्धकालीन भारत का विशेष अध्ययन किया था और इसी कारण वे तत्कालीन वातावरण, राजकीय शिष्टता और शासन-व्यवस्था के चित्रण में विशेष रूप से समर्थ हुए हैं। महाबलाधिकृत, परम भट्टारक, अश्वमेध पराक्रम, दण्डनायक, न्यायाधिकरण, दौवारिक, महास्थविर, विषयपति, महाश्रमण, महासंधिविग्राहक, स्कन्धावार, नासीर, गरुड़ध्वज आदि शब्द इस काल में भी प्राचीन सभ्यता को सजीव बना देते हैं। प्रसाद जी ने वातावरण की ही सृष्टि नहीं की वरन् उसको सार्थकता प्रदान करने वाले सजीव और सबल तथा कोमल और संगीतमय स्त्री-पात्रों की भी सृष्टि की है

जो अपनी ममता की दृढ़ता और त्याग के तेज में सबलों की आभा को फीकी कर देते हैं। उनके स्त्री-पात्रों में अलका, कल्याणी, देवसेना आदि विस्मरणीय रहेंगी। प्रसाद जी के नाटकों में बाह्य संघर्ष के साथ अन्तर्द्वन्द्वों के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। विचार-सामग्री और जीवन-मीमांसा की दृष्टि से भी प्रसाद जी के नाटक बड़े सम्पन्न हैं। आध्यात्म में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म का बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। धातुसेन के मुख से प्रसाद जी कहलाते हैं—

'अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम न विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो उतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी ? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है।'

—स्कन्दगुप्त (पृ० १३०)

प्राचीन वातावरण के भीतर ही प्रसाद जी ने प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता के ऊपर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है, देखिए—

'मालव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।'

—चन्द्रगुप्त (अंक १, पृ० ६०)

'परन्तु यवन आक्रमणकारी ब्राह्मण, बौद्ध और ब्राह्मणों का भेद न रखेंगे।

—चन्द्रगुप्त (अंक १, पृष्ठ ८०)

प्रसाद जी के सभी नाटकों में कर्मण्यता और दार्शनिक त्याग तथा सुख-दुःख के समन्वय और मधुर मिलन की भावना सूत्रात्मा की भाँति ओत-प्रोत है। जीवन की मुस्कान में छिपी हुई अश्रुमाला से प्रसाद जी विचलित नहीं होते, **'जीवन में मृत्यु बसी है जैसे बिजली हो घन में'**। मृत्यु उनके नाटकों में आती है (जैसे अजात शत्रु में)। किन्तु सुख-शान्ति-पूर्ण आदर्शों की पूर्ति के रूप में। प्रसाद जी अपने सभी पात्रों के कण्ठ में बैठकर नियतिवाद का प्रचार भी करते हैं। उनके पात्रों में दार्शनिकता एक दोष की सीमा तक पहुँच गई है। प्रसाद जी की भाषा यद्यपि एकरस ही रही है तथापि कोमल प्रसंगों में वह गीतिमय हो गई है और अपना सौन्दर्य, सौरभ विकीर्ण करती हुई दिखाई देती है। उनके नाटकों में दार्शनिक निर्ममता के साथ कुसुम-कमनीय कोमलता के भी दर्शन होते हैं जो प्रायः गीतलहरी में प्रस्फुटित होती है। कर्मठ एवं नृशंस चाणक्य के हृदय में बाल्य-स्मृति के रूप में सुवासिनी के प्रति एक कोमल स्थान है, जो उसको मानवता के क्षेत्र से बाहर होने से बचा लेता है।

प्रसाद जी के नाटक कुछ अधिक बड़े होते थे। इसलिए उनके अभिनय में विशेष काट-छाँट की आवश्यकता रहती है। नवीन नाटकों की प्रवृत्ति छोटे नाटकों की ओर हो चली है जो सिनेमा की भाँति लगभग ढाई घंटे में समाप्त हो जाते

प्रसादोत्तर काल

हैं। आधुनिक नाटकों में तीन अङ्क की प्रवृत्ति आवश्यक रूप

से तो नहीं किन्तु पर्याप्त मात्रा में प्रचलित हो गई है । इसके अतिरिक्त इन नाटकों में भूत की अपेक्षा वर्तमान को अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि उसके लिए कल्पना पर कम बल देना पड़ता है किन्तु प्राचीन सभ्यताविषयक नाटकों में मनोवैज्ञानिक दूरी (Psychological distance) के कारण जो भव्यता आती है उसमें कुछ कमी अवश्य हो जाती है । आजकल जो पौराणिक नाटक भी लिखे जाते हैं उनको बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण ऐसा रूप दिया जाता है जो तर्क-संगत हो (डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का 'नल-दमयन्ती' नाटक इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण है, उसमें हंस को एक सौदागर का रूप दिया गया है) । वर्तमान नाटकों के लिए कुलीनता और लोक-प्रसिद्धि आवश्यक नहीं रही और उसका झुकाव वस्तुवाद की ओर हो जाता है । इसी कारण पाश्चात्य नाटकों-के-से विस्तृत रंगमंच के संकेतों का चलन हो गया है । इन नाटकों में सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं पर अधिक बल दिया जाता है । ये सब प्रवृत्तियाँ अधिकांश में इब्सन, गाल्सवर्दी, बर्नर्ड शॉ आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव का फल है । आधुनिक नाटककारों में सवश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविन्दवल्लभ पन्त, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, कैलाशनाथ भटनागर, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', पृथ्वीनाथ शर्मा आदि प्रमुख हैं । श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने भी नाटक के क्षेत्र में प्रवेश किया है ।

प्रसादोत्तर काल में समस्यात्मक नाटकों को अधिक महत्त्व मिला है । इनका सम्बन्ध वर्तमान समाज में व्यक्ति और उसके वातावरण से चलने वाले संघर्ष से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से होता है । इन समस्याओं को ऐसे प्रभावशाली रूप में रखा जाता है जिससे पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो जावे । बर्नर्ड शॉ का कथन है कि नाटक प्रकृति का छाया-चित्रण-मात्र नहीं है । उसका कार्य है एक समस्या का उपस्थित करना । शॉ के निम्नोद्धृत वाक्य इस सम्बन्ध में पठनीय हैं ।

"It will be seen that only in the problem play is there any real Drama, because drama is no mere setting up of camera to nature. It is the presentation in parable of the conflict between Man's will and his environment in a word of Problem."

—श्री विश्वनाथ की 'हिन्दी नाटकों का विकास'
नाम की पुस्तक (पृष्ठ ६८) से उद्धृत ।

पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र पर इब्सन और बर्नर्ड शॉ का अधिक प्रभाव है । उनके नाटक समस्यात्मक होते हैं और उन में बुद्धिवाद के साथ पर्याप्त रोमांस भी रहता है । 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' और 'मुक्ति के रहस्य' में उन्मुक्त प्रेम की ओर

झुकाव है। वास्तविक प्रेम को नैराश्य का सामना करना पड़ता है 'संन्यासी' में तो यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है। इन नाटकों के विपरीत 'सिन्दूर की होली' में मानसिक वरण चिरकाल के लिए नायिका को वैवाहिक बन्धन में बाँध देता है और नायक का मरण नायिका को वैधव्य के शोक-सागर में निमग्न कर देता है। मिश्र जी ने 'गरुड़ध्वज' नामक एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखा है।

पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त के 'वरमाला' नामक नाटक का कथानक मार्कण्डेय पुराण से लिया गया है, उसमें मूक अभिनय को भी स्थान दिया गया है। 'राजमुकुट' उनका ऐतिहासिक नाटक है। उनके नाटकों में सुपाठ्य होने के साथ, अभिनय योग्य होने का भी गुण है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'रक्षा-बन्धन' और मिलिन्दजी के 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। ये नाटक भी ऐतिहासिक हैं किन्तु इनका इतिवृत्त मुग़लकालीन भारत है। ये रचनाएँ जनता की रुचि के अधिक अनुकूल हैं किन्तु इनमें प्रसाद-का-सा गाम्भीर्य और उनकी-सी दार्शनिकता नहीं है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए 'रक्षा-बन्धन' पठनीय है। 'स्वप्न-भंग' भी इन्हीं नाटकों की कोटि में आता है। उसका भी इतिवृत्त मुग़लकालीन है और उसमें हिन्दुत्व की ओर झुके हुए 'दारा' के प्रति सहानुभूति प्रकट करने का प्रयत्न है। ऐतिहासिक नाटक लिखने में श्री प्रेमी जी ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होंने 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'उद्धार' आदि और भी कई ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

सुदर्शन जी का 'भाग्य-चक्र' कई कालेजों में सफलता के साथ खेला गया है। यह एक सामाजिक नाटक है। इसमें समाज के मान्य और प्रतिष्ठित लोगों की धूर्तता का उद्घाटन किया गया है। पण्डित उदयशंकर भट्ट का 'कमला' भी इसी प्रकार का नाटक है। ऐसे नाटक जनता की रुचि के अनुकूल होते हैं। समाज में जिन लोगों से, जैसे—रईसों, जमींदारों और पूँजीपतियों से हम बदला नहीं ले सकते उनकी धूर्तता का उद्घाटन करते हुए देखकर हमको प्रसन्नता होती है। इनमें साहित्यिकता की अपेक्षा लोक-रुचि की साधना अधिक दिखाई देती है। इसके पक्ष में यह अवश्य कहा जायगा कि यह रुचि कुत्सित रुचि नहीं है और इसमें एक प्रकार का आदर्शवाद है जो बुराई की हानि और साधुता की विजय देखना चाहता है। पं० उदयशंकर भट्ट ने 'मत्स्य-गन्धा', 'विक्रमादित्य' आदि गीत नाट्य भी लिखे हैं। उनका 'दाहर' एक ऐतिहासिक नाटक है। उसमें खलीफा द्वारा सिन्ध-विजय का हाल है। भट्ट जी के 'अम्बा' और 'सगर-विजय' नाटक पौराणिक आख्यानों पर आश्रित हैं। उनकी 'अम्बा' में वर्तमान नारी का गौरव मुखरित हो उठा है। हाल ही में उन्होंने 'शक-विजय' नामक एक और ऐतिहासिक नाटक लिखा है। उनका 'कुमार-सम्भव' नाटक बड़ा कलापूर्ण है। उसमें कला और आचार की समस्या है। भट्ट जी ने सरस्वती द्वारा कला के ही पक्ष का समर्थन

कराया है।

सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक और वर्तमानयुगीन समस्यात्मक दोनों प्रकार के नाटक लिखे हैं। 'कर्त्तव्य' में राम और कृष्ण के चरित्र को मिलाने का प्रयत्न किया है किन्तु वास्तव में ये नाटक के दो अंग-से हो गये हैं। उनके 'स्पर्द्धा' नाम के नाटक में नारियों की पुरुषों से अनुचित स्पर्द्धा की समस्या उपस्थित की गई है। नये नाटकीय प्रयोग करने में सेठ जी बड़े कुशल हैं। उनके नाटकों में जैसे 'प्रकाश' में 'चीनी की दुकान में सांड' का प्रतीकवाद भी है। प्रकाश स्वयं चीनी की दुकान का सांड है। उनके 'चतुष्पथ' में एक-एक पात्र के एकपक्षी वार्तालाप (Monologues) हैं। प्राचीन काल में भाण भी एकपात्रीय नाटक होता था। 'नवरस' में रसों को ही (जैसे, वीरसिंह, रुद्रसेन, ग्लानिदत्त आदि) पात्र बनाया है। आजकल सभी प्रकार के नाटक लिखे जा रहे हैं, उसमें सामाजिक, पौराणिक और राजनीतिक मुख्य हैं। कुछ भाव-नाट्य और गीति-नाट्य भी लिखे जा रहे हैं।

हिन्दी में आजकल एकाङ्की नाटकों का प्रचलन अधिक बढ़ रहा है। इसके दो कारण हैं। एक समय की बचत और दूसरा अभिनय की अपेक्षाकृत सुलभता। जो सम्बन्ध उपन्यास का छोटी कहानी से है वही नाटक और एकाङ्की का है। वह भी कहानी की भान्ति जीवन की एक झलक है। इसके सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या यह है कि चरित्र-चित्रण की इनमें कम गुँजाइश रहती है और बने-बनाये चरित्रों पर ही प्रकाश डाला जाता है। सबमें बिल्कुल ऐसी बात नहीं है। डॉ० रामकुमार वर्मा के 'अठारह जुलाई की शाम' तथा 'रेशमी टाई' में चरित्र-परिवर्तन बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। हिन्दी एकांकीकारों में सर्वश्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, सुदर्शन, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा भगवतीचरण वर्मा आदि का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। रेडियो-नाटक लिखने में श्री उदयशंकर भट्ट, श्री विष्णु प्रभाकर, श्री भारतभूषण अग्रवाल और श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' विशेष रूप से ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

एकाङ्की नाटक

४

श्रव्य काव्य (पद्य)

प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य

बन्ध की दृष्टि से भारतीय समीक्षा-पद्धति में श्रव्य काव्य के दो भेद किये गये हैं—एक प्रबन्ध और दूसरा मुक्तक। प्रबन्ध में पूर्वापर का तारतम्य होता है। मुक्तक में इस तारतम्य का अभाव रहता है। प्रबन्ध में छन्द एक दूसरे से कथानक की श्रृंखला में बन्धे रहते हैं। उनका क्रम उलटा-पलटा नहीं जा सकता, वे एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। मुक्तक छन्द पारस्परिक बन्धन से मुक्त होते हैं, वे स्वतःपूर्ण होते हैं। वे क्रम से रखे जा सकते हैं किन्तु एक छन्द दूसरे से अपेक्षा नहीं करता। साहित्यदर्पणकार ने दो-दो और तीन-तीन छन्दों के भी मुक्तक माने हैं। अंग्रेजी स्फुट कविताओं के स्टेन्ज़ा (Stanza) समूह और आजकल के गीत भी इसी प्रकार के संयुक्त मुक्तक गिने जावेंगे। प्रबन्ध काव्य में सम्पूर्ण काव्य के सामूहिक प्रभाव पर अधिक ध्यान रखा जाता है। मुक्तक में एक-एक छन्द की अलग-अलग साज-सम्हाल की जाती है।

प्रबन्ध और मुक्तक

प्रबन्धक के भी दो भेद किये गये हैं—एक महाकाव्य और दूसरा खण्डकाव्य। महाकाव्य का क्षेत्र विस्तृत होता है, उसमें जीवन की अनेकरूपता दिखाई जाती है। खण्डकाव्य में किसी एक ही घटना को मुख्यता दी जाती है और इस कारण इसमें एक-देशीयता रहती है। गद्य के कथात्मक साहित्य और नाटक में भी महाकाव्य और खण्ड-काव्य की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कहानी और एकाङ्की, कथा और नाट्य-साहित्य में खण्डकाव्य के प्रतिरूप हैं।

महाकाव्य को अंग्रेजी में ऐपिक (Epic) कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षा में काव्य के दो मूल विभाग किये गये हैं—एक विषयी-प्रधान (Subjective) और दूसरा विषय-प्रधान (Objective)। विषयी-प्रधान काव्य को प्रगीत-काव्य कहा गया है और विषय-प्रधान का ऐपिक (Epic) से तादात्म्य किया गया है। प्रगीत काव्य (Lyric) में भावना और गीत की प्रधानता रहती है, महा-काव्य में विवरण या प्रकथन (Narration) की। तीसरा विभाग नाटक का है जिसमें

पाश्चात्य विभाग

अभिनय या प्रतिनिधित्व का प्राधान्य होता है।

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को हम संक्षेप में इस प्रकार बता सकते हैं—

महाकव्य के शास्त्रीय लक्षण

१—वह सर्गों में बँधा हुआ होता है।

२—इसमें एक नायक रहता है जो देवता या उत्तम वंश का धीरोदात्त गुणों से समन्वित पुरुष होता है। उसमें एक वंश के बहुत से राजा भी हो सकते हैं—जैसे कि रघुवंश में।

३—शृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस अंगी रूप से रहता है। नाटक की सब सन्धियाँ होती हैं।

४—इसका वृत्तान्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है या सज्जनाश्रित।

५—इसमें मंगलाचरण और वस्तु निर्देश होता है।

६—कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुण-कीर्तन रहता है—जैसे कि रामचरितमानस में।

७—एक सर्ग में एक ही छन्द रहता है और अन्त में वह बदल जाता है। यह नियम शिथिल भी हो सकता है—जैसे कि रामचन्द्रिका में। प्रवाह के लिए छन्द की एकता वांछनीय है। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना रहती है। कम-से-कम आठ सर्ग होने आवश्यक हैं।

८—इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा, अभ्युदय आदि विषयों का वर्णन रहता है।

भारतीय साहित्य में विशेषकर प्राकृत में चरितकाव्य भी हुआ करते थे। इस प्रकार के काव्यों में कला की अपेक्षा चरित्र और कथानक की महत्ता रहती थी। संस्कृत में अश्वघोष का बुद्धिचरित इसी प्रकार का काव्य है। अर्द्धमागधी प्राकृत में विमलसूरिकृत 'पउम चरिउ' (रामचरित) प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम चरितकाव्य है और श्री रामचन्द्र जी के जीवन से सम्बन्ध रखता है किन्तु इसका चित्रण जैन धर्म के दृष्टिकोण से हुआ है। 'कुमारपाल-चरित', 'भविष्यदत्तकथा', 'यशोधराचरित' इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। 'राम-चरितमानस' में आदर्श तो चरित का ही लिया गया है किन्तु उसमें कला का पर्याप्त समावेश हो जाने से उसकी गणना महाकाव्यों में ही होती है।

पाश्चात्य मान से महाकाव्य के लक्षण संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—यह एक बृहदाकार प्रकथन-प्रधान (Narrative) काव्य है।

२—व्यक्ति की अपेक्षा इसमें जातीय भाव अधिक रहते हैं। इसमें प्रायः कोई बड़ा जातीय संघर्ष भी दिखाया जाता है।

३—इसका विषय परम्परा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय होता है।

४—इसके पात्र शौर्यगुण-प्रधान होते हैं। उनका सम्पर्क देवताओं से भी रहता है। उनके कार्यों की दिशा निर्धारित करने में देवताओं और नियति का हाथ रहता है।

५—इसमें नायक को लेकर सारी कथा एक सूत्र में बँधी रहती है।

६—इसकी शैली में एक विशेष प्रकार की शालीनता और उच्चता रहती है।

७—इसमें एक ही छन्द का प्रयोग रहता है।

इसके दो प्रकार माने गये हैं—एक प्राकृतिक अथवा जनसाधारण-सम्बन्धी (Epic of Growth), जैसे—'वाल्मीकीय रामायण', 'आल्हाखंड', 'होमर की इलीयड'। दूसरे कलात्मक (Epic of Art), जैसे—'रघुवंश नैषध', 'कामायनी', 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lost) किन्तु भारतीय समीक्षा में ऐसा कोई अन्तर नहीं किया गया।

महाकाव्य के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं है। साहित्य-दर्पण से उद्धृत किये गये महाकाव्य के लक्षणों में कुछ तो उसके संगठन से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ नायक तथा रस से सम्बन्धित हैं। पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही आदर्शों के अनुकूल विषय में तथा नायक में शालीनता तथा महानता का प्रतिबन्ध रखा गया है। धीरोदात्त नायक में उदात्त भावनाओं का समावेश भली प्रकार होता ही है। आजकल यद्यपि कुलीनता पर विशेष बल नहीं दिया जाता है तथापि महाकाव्यों में इतिहास-प्रसिद्ध, लोकप्रिय नायक होने से उनमें लोकरंजकता आ जाती है और साधारणीकरण या लोक-हृदय से साम्य की सम्भावना अधिक हो जाती है। इतिहास-प्रसिद्ध होने से एक लाभ यह है कि इसमें मानसिक दूरी का भाव (Psychological distance) आ जाता है। यह रस की बाधक बातों को दूर करने में सहायक होता है। अपने निकट के नायक में उनके दोषों का भी ज्ञान होता है और नायकों के चारों ओर एक दिव्य आभा-चक्र (Halo) उपस्थित कर देता है। आजकल दोषों का भी वर्णन वास्तविकता का अङ्ग माना जाता है।

तुलना और विवेचना

पाश्चात्य आदर्शों में एक बात पर विशेष बल दिया गया है वह यह कि महाकाव्य के नायक में व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीयता का प्रतिनिधित्व अधिक रहता है। महाकाव्य वास्तव में जाति की ही वस्तु होती है। उसमें लोकरस कुछ बाहुल्य के साथ दिखाई देता है। हमारे यहाँ यद्यपि इस गुण का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है तथापि वह व्यञ्जित अवश्य है। नायक की श्रेष्ठता, इतिहास-प्रसिद्धि, युद्ध-यात्राओं आदि के वर्णन द्वारा महाकाव्य जातीय जीवन से सम्बद्ध हो जाता है। व्यवहार में भी महाकाव्यों में जातीय गुणों और जातीय मनोवृत्तियों का प्राधान्य मिलता है। वाल्मीकीय रामायण में उसके वर्ण्य नायक के अपेक्षित गुण बताये गये हैं। वे गुण भारत की जातीय मनोवृत्ति के द्योतक हैं। रघुवंश के आरम्भ में भी रघुवंशी राजाओं के उदात्त गुणों का उल्लेख किया गया है—

'यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।'

—रघुवंश (१।५-९)

अर्थात् जो विधिपूर्वक नित्य नैमित्तिक यज्ञ, हवनादि करते थे, जो याचकों को उनकी कामना के अनुकूल (थोड़-सा देकर भगा नहीं देते थे) दान देते थे, जो अपराधियों को उनके अपराध के अनुकूल दण्ड देते थे और जो समय पर जागते थे, जो त्याग के लिए धन-संचय करते थे, जो सत्य के लिए थोड़ा बोलते थे (घमण्ड से नहीं), जो यश के लिए विजय की इच्छा रखते थे (दूसरों के राज्य छीनने के लिए नहीं), जो पितृ-ऋण के शोध के लिए विवाह करते थे (विशेष रूप से कामोपभोग के लिए नहीं), जो बाल्यकाल में विद्याभ्यास करते थे, यौवन विषय-भोग में लगाकर बुढ़ापे में मुनियों की वृत्ति धारण कर लेते थे, अर्थात् वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश कर वन को चले जाते थे और अन्त में योग द्वारा (रोग द्वारा नहीं) शरीर छोड़ते थे—ऐसे रघुवंशियों का मैं वर्णन करता हूँ यद्यपि मेरे पास वाणी का वैभव बहुत थोड़ा है।

इस वर्णन में भारतीय मनोवृत्ति का पूर्ण चित्र आ गया है। आजकल के युग में कामायनी में भी 'बुद्धि और श्रद्धा' के समन्वय का भारतीय आदर्श दिखाई पड़ता है। गुप्त जी के राम तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे आर्यों को आदर्श बताने तथा धन से जन को अधिक महत्ता देते आये हैं—

'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सन्मुख धन को तुच्छ बताने आया।
सुख-शान्ति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया॥
मैं आया उनके हेतु जो कि तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन, शापित हैं।
हो जायँ अभय वे जिन्हें कि भय भासित है,
जो कोणप कुल से मूक-सदृश शासित है॥

मैं आया, जिसमें बनी रहे मर्यादा,
बच जाय प्रलय से, मिटे न जीवन सादा ।।
× × ×
भव से नव वैभव व्याप्त कराने आया !
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया !
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।।'

—साकेत (अष्टम सर्ग, पृष्ठ १६६।१६७)

प्राचीन आदर्श के अनुकूल खल और सज्जनों के वर्णन जो महाकाव्य में अपेक्षित माने हैं उनमें भी जातीय मनोवृत्ति तथा आदर्शों की झलक रहती है। इतना ही नहीं वरन् उसमें एक मानवता का भाव रहता है। गोस्वामी जी ने सज्जनों का जो वर्णन किया है वह ऐसा ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य के भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में विशेष भेद नहीं है। दोनों ही आदर्शों के अनुकूल महाकाव्य का नायक उच्चकुलोद्भव तथा उदात्त विचारों का होता है। उसकी महान् कृतियों, विजय-यात्राओं और साहसपूर्ण कार्यों में जातीय भावनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और आदर्शों का प्रकाशन होता है और नायक के द्वारा जातीय, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान दिखाया जाता है। महाकाव्य आकार-प्रकार में भी बड़ा होता है, उसके साथ उसकी शैली और उसका विषय दोनों ही गौरवपूर्ण होते हैं। महाकाव्य जाति की सांस्कृतिक चेतना के द्योतक होते हैं। महाकाव्य का कवि भी नायक की भाँति स्वयं सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक बन जाता है। महाकाव्यों में प्रायः दैव का भी हाथ रहता है किन्तु उस दैव के हस्तक्षेप द्वारा भी मानवीय गौरव की स्थापना हो जाती है। दैवी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में पश्चिमी और पूर्वी आदर्शों में थोड़ा अन्तर है। पश्चिमी महाकाव्यों में विशेषकर यूनानी महाकाव्यों में दैव को ऐसी क्रूर सत्ता के रूप में दिखाया गया है जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्नता का अनुभव करती है। हमारे यहाँ मानव का उत्पीड़न चाहे परीक्षा के लिए हो किन्तु हृदय से देवता लोग सहानुभूति पूर्ण रहते हैं। हमारे यहाँ मनुष्य जो सुख-दुःख भोगता है वह अपने कर्मों के अनुकूल, **'कर्म-प्रधान विश्व कर राखा। जो जस करा सो तस फल चाखा।'**—इस दृष्टि से यदि दैव की क्रूरता होती है तो वह अकारण नहीं होती। महाकाव्य का चित्रपट विस्तृत होते हुए भी उसके अङ्कन में एक विशेष अन्विति रहती है, वह अन्विति चाहे नायक के व्यक्तित्व के द्वारा, चाहे लक्ष्य की एकता के द्वारा सम्पादित की जाय।

महाकाव्य के प्राचीन और वर्तमान आदर्शों में थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ गया है। अब मंगलाचरण इत्यादि की आवश्यकता नहीं समझी जाती और न किन्हीं मांगल्यसूचक

शब्दों का रखना नितान्त आवश्यक है (गुप्त जी ने साकेत के प्रत्येक सर्ग में मंगलाचरण किया है), प्राचीन काल में भी इस नियम का बहुत कड़ाई के साथ पालन नहीं होता था। महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' में कोई मंगलाचरण नहीं है। उसमें हिमालय का वर्णन अवश्य है जो विशालता का द्योतक है। 'कुमारसम्भव' पूर्ण नहीं हुआ चाहे देवताओं के शृंगार-वर्णन के दोष के कारण हो और चाहे मंगलाचरण के अभाव के कारण हो। 'प्रिय-प्रवास' का आरम्भ दिवस के अवसान से होता है, **'दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला'**, केवल इसीलिए हम उनको निन्दनीय नहीं कहेंगे। इसका इस प्रकार समर्थन भी किया गया है कि 'दिवस' शब्द मांगल्यसूचक है और 'अवसान' शब्द से उसके विरह-काव्य होने का निर्देश मिलता है। आजकल नायक के सम्बन्ध में भी थोड़ी शिथिलता आ गई है। कामायनी में नायक तो मनु है किन्तु प्राधान्य श्रद्धा का है। नायक शब्द में नायिका भी शामिल की जा सकती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि महाकाव्य वह विषय-प्रधान काव्य है जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।

पाश्चात्य महाकाव्य

पाश्चात्य देशों में महाकवि होमर (Homer) के 'इलियड' (Illiad) और 'ओडेसी' (Odyssey) आदर्श महाकाव्य माने जाते हैं। अन्य महाकाव्य—जैसे (Vergil) का 'इनियड' (Aeneid) अथवा मिल्टन (Milton) का 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lost) इन्हीं के नमूने पर बने हैं। 'इनियड' में रोम के संस्थापक रोम्यूलस (Romulous) के पिता के महत्वपूर्ण कार्यों का वर्णन है। उसमें होमर की दोनों पुस्तकों की कथा का योग-सा है। 'पैराडाइज लॉस्ट' में ईश्वर के विरुद्ध शैतान का विद्रोह, आदम का बहकाया जाना, मनुष्य के पतन और ईश्वर द्वारा उसके उत्थान का वर्णन है। उसमें किसी जाति-विशेष का भाग्य-निर्णय नहीं वरन् ईसाई धर्म के अनुकूल सारी मानवता का उत्थान है। उसका उद्देश्य ईश्वरीय न्याय का उद्घाटन है (To justify the ways of God to men)।

रामायण से इलियड और ओडेसी की तुलना

रामायण की तुलना प्रायः 'इलियड' और 'ओडेसी' से की जाती है। इन काव्यों और रामायण में कुछ बातों की समानता अवश्य है। वाल्मीकीय रामायण की भाँति 'ओडेसी' का प्रचार भी गाकर हुआ था। गाने वाले 'रेपसोडोई' (Rhapsodoi) कहलाते थे। 'इलियड' में जिस लड़ाई का वर्णन है उसका आरम्भ भी एक स्त्री के हरे जाने के कारण हुआ था। 'ओडेसी' की नायिका बड़ी सती-साध्वी थी उस पुस्तक में भी

विवाह-सम्बन्धी परीक्षा में एक धनुष के झुकाये जाने की शर्त का उल्लेख है । सतीत्व के आदर्श में बहुत-कुछ समानता है । हम यह नहीं कहेंगे कि सतीत्व केवल भारतीय स्त्रियों के ही बाँट में आया है । वास्तव में प्राचीन भारतीय और यूनानी सभ्यताओं में इतना अन्तर भी नहीं था । उन दिनों दोनों ही देशों में धनुष ही प्रधान आयुध था ।

इन सब समानताओं के होते हुए भी इन काव्यों का रामायण से अन्तर है । रामायण के नायक स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी हैं, अतः उनका देवताओं के साथ संघर्ष का कोई प्रश्न रामायण में उठता ही नहीं है । उसमें संघर्ष राक्षसों से है । देवता मनुष्य-रूप-धारी भगवान् की सहायता करते हैं और वे भी देवताओं के कार्य के लिए ही संसार में आने का कष्ट करते हैं । रामायण की यह धार्मिक भावना 'इलियड' या 'ओडेसी' में नहीं है । सतीत्व के आदर्श में भी थोड़ा भेद है । सीता जी वाणी से भी रावण के वरण करने की बात स्वीकार नहीं करतीं । 'ओडेसी' की नायिका कम-से-कम यह तो कह देती है कि वह विशेष वस्त्र के बुन जाने पर विवाह कर लेगी (वह दिन को वस्त्र बुनती थी और रात को उसे छिन्न-भिन्न कर देती थी) किन्तु सीता ने निर्भय होकर रावण का तिरस्कार किया, विशेषकर जब कि वह राक्षसियों से दिन-रात घिरी रहकर रावण की ही अशोक-वाटिका में रहती थीं । मिल्टन की 'पैराडाइज लॉस्ट' में तो ईश्वर के विरोध में शैतान का जो तर्क है वह उस देश की तत्कालीन मनोवृत्ति का परिचायक है । पाश्चात्य मनोवृत्ति में संघर्ष अधिक है । हमारे यहाँ के देवताओं में भी दण्ड देने की प्रवृत्ति है किन्तु रामायण में देवताओं और मनुष्यों का संघर्ष नहीं है वरन देवताओं और दानवों का संघर्ष है ।

यद्यपि भारतीय समीक्षा-शास्त्रों में स्वाभाविक और कलात्मक (Epic of Growth and Epic of Art) का विभाजन नहीं है तथापि हम वाल्मीकीय 'रामायण' को स्वाभाविकता की कोटि में रख सकते हैं और 'शिशुपाल-वध' तथा 'किरातार्जुनीय' को कलात्मक कह सकते हैं ।

संस्कृत के महाकाव्य

'इलियड' और 'ओडेसी' के सम्बन्ध में कुछ लोगों की शंका है कि शायद ये एक ही कवि की रचना न हों और होमर भी व्यास शब्द की भाँति सम्पादक की पदवी हो (भारतीय दृष्टि से तो व्यास एक ही व्यक्ति थे जिन्होंने अट्ठारह पुराण और महाभारत लिखा किन्तु अंग्रेज समीक्षक उन्हें एक व्यक्ति नहीं मानते हैं) । वाल्मीकीय रामायण के लिए यह शंका नहीं हो सकती है किन्तु उसमें प्रक्षिप्त अंश अवश्य हैं । यदि उसका प्रचार गाकर हुआ है, जैसा कि 'रामायण' और 'रघुवंश' दोनों से ही प्रतीत होता है तो उनमें घटाये-बढ़ाये जाने की अधिक सम्भावना है । 'रघुवंश' में उसके गाये जाने का इस प्रकार उल्लेख है—

'वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ ।
किं तद्येन मनोहर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥'

—रघुवंश (१५।६४)

अर्थात् वृत्त रामचन्द्रजी का था, कृति वाल्मीकि जी की थी और उसके गाने वाले किन्नर-कण्ठ दोनों बालक थे तो सुनने वालों के मन को हरने के लिए कौन सी बात पर्याप्त न थी—इसमें चरितनायक, कवि और गायक तीनों को महत्त्व दिया गया है।

हमारे यहाँ महाभारत को इतिहास माना है किन्तु अंग्रेजी मान से उसे भी Epic या महाकाव्य कहते हैं। महाभारत में इतनी अन्विति नहीं है जितनी की रामायण में। वह भारतीय संस्कृति का विश्व-कोष अवश्य है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है **'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'**। संस्कृत के महाकाव्यों में स्वाभाविकता और कलात्मकता के विभिन्न स्तर हैं। कवि-कुल-गुरु कालीदास में स्वाभाविकता और कलात्मकता का बड़ा सुखद सम्मिश्रण है, इसीलिए तो उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि कवियों की गणना में कालिदास का नाम पहला है और दूसरा कवि उनकी टक्कर का न होने के कारण दूसरी अँगुली अनामिका ही रही। कुछ लोग माघ को तीनों गुणों—उपमा, अर्थ-गौरव और पद-लालित्य—से सम्पन्न मानकर शीर्ष-स्थान देते हैं।

यद्यपि कालिदास के 'रघुवंश' को वृहत्त्रयी में स्थान नहीं मिला है तथापि उसकी विशेष ख्याति है। यह कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें रघुवंश के कई राजाओं का काव्यात्मक वर्णन है परन्तु दिलीप, रघु और राम के लोकोत्तर चरित्रों को प्रधानता दी गई है। इसी के कारण शायद साहित्य-दर्पणकार को लिखना पड़ा कि महाकाव्य का विषय एक राजा ही नहीं वरन् एक वंश के कई राजा हो सकते हैं—**'एकवंशभवाः भूपाः कुलजा वहवोऽपि आ'**? उसमें १६ सर्ग हैं। इसके वृहत्त्रयी में स्थान न मिलने का यही कारण मालूम होता है कि भारतीय लोकरुचि स्वाभाविकता की अपेक्षा पाण्डित्य को अधिक महत्त्व देती है। कालिदास के तीनों ग्रन्थ रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत लघुत्रयी में आते हैं किन्तु कुल मिलाकर कालिदास में कवित्व अधिक है। इसी से कहा है—**'काव्येपमाघः कवि कालिदासः'**।

महाकाव्यों की वृहत्त्रयी में तीन ग्रन्थ आते हैं—श्री हर्ष का 'नैषधचरित', माघ का 'शिशुपाल-वध' और भारवि का 'किरातार्जुनीयम्'। 'नैषधचरित' में राजा नल का चरित है। यह ग्रन्थ और माघ का 'शिशुपाल-वध अपने पाण्डित्य के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं। 'रघुवंश' के बाद दूसरा नाम भारवि के 'किरतार्जुनीयम्' का है। भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे। 'किरातार्जुनीयम्' का कथानक महाभारत से लिया गया था और १८ सर्ग में है। इसमें अर्जुन और किरातवेषधारी भगवान् शंकर के युद्ध का वर्णन है। महादेव

जी से अर्जुन का पाशुपत अस्त्र का प्राप्त करना इस महाकाव्य का फल है। इसमें शृंगार आदि रस गौण हैं और द्रौपदी के प्रोत्साहन से पाण्डवों को युद्ध के लिए उत्तेजना दी गई है।

माघ का 'शिशुपाल वध' उनका कीर्ति-स्तम्भ है। इसका कथानक भी महाभारत से लिया गया है। इसमें युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की कथा बड़े कौशल के साथ वर्णित है। उसी घटना के आधार पर इसका नामकरण हुआ है। इसकी कथा बीस सर्गों के साढ़े सोलह सौ श्लोकों में फैली हुई है।

संस्कृत में और भी छोटे-बड़े महाकाव्य और खण्डकाव्य हैं किन्तु उनका उल्लेख यहाँ पर स्थानाभाव से नहीं किया गया है। ऊपर के ग्रन्थों के विषय में कुछ न जानना सांस्कृतिक अज्ञता का द्योतक होता।

संस्कृत के शास्त्र-काव्यों में 'भट्टिकाव्य' का स्थान प्रमुख है। शास्त्र-काव्य उन्हें कहते हैं जिनमें कि काव्य के साथ-साथ व्याकरण आदि शास्त्रों का परिज्ञान करा दिया जाता है। भट्टि द्वारा लिखा हुआ काव्य उनके ही नाम से प्रसिद्ध है जिसका विषय रावण-वध है। इस काव्य में प्रायः साढ़े तीन हजार श्लोक २० सर्गों में आबद्ध हैं। भट्टि ने अपने काव्य के विषय में कहा है कि व्याकरण जानने वाले के लिए यह काव्य दीपक के समान है किन्तु उसके न जानने वाले के लिए यह अन्धे के हाथ की आरसी है। व्याकरण के शास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ लोगों के लिए इसका रसास्वाद करना कठिन है।

हिन्दी के महाकाव्य

हिन्दी-साहित्य का इतिहास तीन कालों में विभाजित किया जाता है—

(१) आदिकाल अर्थात् वीर-गाथा-काल।

(२) भक्ति-काल जिसमें निर्गुण और सगुण दोनों ही शाखाएँ सम्मिलित हैं।

(३) वर्तमान-काल जिसके विकास क्रम की तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं—

(अ) हरिश्चन्द्र-युग

(ब) द्विवेदी-युग और

(स) प्रसाद-पंत निराला-युग।

वीरगाथाकाल—आदिकाल में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार के काव्य लिखे गये। प्रबन्धकाव्यकार अपने व्यक्तित्व को अपने उपास्य अथवा आश्रयदाता के व्यक्तित्व में मिला देता है। यद्यपि वीरगाथा-काल में लोक-भावना का बाहुल्य था अर्थात् साहित्य का जनता से सम्पर्क था फिर भी कविता राज्याश्रित ही थी। कवि लोग स्वयं भी अपने आश्रयदाता की ओर से युद्ध में सम्मिलित होते थे और वे नितान्त पैसे के गुलाम भी न थे। उनमें चाहे आजकल-सी व्यापक राष्ट्रीय भावना न हो फिर भी वे अपने राज्य के

लिए प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। चन्दबरदाई ने कलम और तलवार दोनों से ही पृथ्वीराज की सेवा की। अपने व्यक्तित्व को समर्पण करने वाले ऐसे ही कविगण प्रबन्ध काव्य लिख सकते थे।

पृथ्वीराजरासो—यद्यपि पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों का मतभेद है तथापि उसको हिन्दी के प्रथम महाकाव्य होने का श्रेय दिया जाता है। हम उसको स्वाभाविक विकासशील महाकाव्य (Epic of Growth) कहेंगे। यह वृहद्ग्रन्थ ६६ समयों (अध्यायों) में समाप्त हुआ है और लगभग ढाई हजार पृष्ठ का है। यह ग्रन्थ पृथ्वीराज-केन्द्रित है। इसमें केवल युद्ध का ही वर्णन नहीं हुआ वरन् वीर-भावना के साथ शान्त और शृंगार रसों का भी पर्याप्त पुट है। इसमें जो देवताओं और भक्ति, मुक्ति आदि की स्तुति हुई है वह उसके सांस्कृतिक पक्ष का द्योतक है। चौहान-वंश की उत्पत्ति के साथ-साथ क्षत्रियों के अन्य छत्तीस वंशों की उत्पत्ति आदि की कथाएँ भी चन्द ने बड़े विस्तार के साथ कही हैं किन्तु इन वर्णनों में चौहान-वंश ही की प्रधानता है और चौहान-वंश में भी विशेषकर पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों और आखेट आदि के वर्णनों का प्राधान्य है।

पृथ्वीराजरासो के निर्माण में चन्द के पुत्र जल्हन का भी हाथ है क्योंकि उसने ही इस ग्रन्थ की समाप्ति की थी जिसका उल्लेख रासो में इस प्रकार आता है—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।'

इसकी भाषा के कई स्तर होने के कारण विद्वानों का मत है कि मूल ग्रन्थ तो छोटा-सा ही रहा होगा किन्तु कालान्तर में इसमें बहुत-कुछ जोड़ा गया फिर भी इस ग्रन्थ में तत्कालीन भावनाओं और जातीय आदर्शों का अच्छा परिचय मिलता है।

भक्तिकाल निर्गुण एवं प्रेमकाव्य

भक्तिकाल के निर्गुण-पन्थियों में कबीर आदि ने मुक्तक गीत ही लिखे। वे परमात्मा को अपने में ही खोजते थे और उनका ध्येय किसी व्यक्ति विशेष की उपासना या आराधना न था। वे न अवतारी पुरुषों को ही मानते थे और न किसी राजा के ही आश्रित थे जिसके गुण-गान के लिए वे अपने को भूल जाते थे। उनका निर्गुण शुद्ध निर्गुण था। वह प्रेम का विषय तो बन सकता था किन्तु घटना-प्रधान लौकिक महाकाव्य का विषय बनने के अयोग्य था।

पद्मावत—प्रेम-मार्गी शाखा के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी संसार से इतने विमुख न थे। वे लोक और परलोक दोनों ही की साधना चाहते थे। उन्होंने अपने 'पद्मावत' में मसनवी-परम्परा के अनुकूल शेरशाह की वंदना की है। उन्होंने लौकिक प्रेम-गाथाओं के रूपक द्वारा पारमार्थिक प्रेम की साधना की है। पद्मावती की प्रेम-कथा जो पृथ्वीराजरासो में वीर-रस के आश्रित गौण थी वह जायसी की 'पद्मावत' में मुख्यता

प्राप्त कर लेती है। पद्मावत में कथा भी है और रूपक के द्वारा अलौकिक तत्वों की व्यञ्जना भी है। यद्यपि जायसी मुसलमान थे तथापि वे भारतीय संस्कृति से पूर्णतः परिचित थे। थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उनके काव्य में भारतीय अन्तर्कथाओं और धार्मिक परम्पराओं का उल्लेख हुआ है। उसमें 'रासो' की अपेक्षा अन्विति अधिक है और आरम्भ से लेकर अन्त तक शैली और भाषा की एकरसता है। 'पद्मावत' प्रबन्धकाव्य का अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। ऐसे स्थलों को छोड़कर जिनमें नाम-परिगणन की प्रवृत्ति है और एक ही विषय का वर्णन कुछ आवश्यकता से अधिक हो गया है उसमें कथा का निर्वाह अच्छा हुआ है। कोई वस्तु ऐसी नहीं लाई गई जिसका कथानक में उपयोग न हुआ हो, जैसे समुद्र से प्राप्त किए हुए रत्न अलाउद्दीन को सन्धि की पूर्ति में भेंट किये गये। इसमें कथानक के साथ रूपक भी चलता है और दोनों का ही समान महत्त्व है इसीलिए आचार्य शुक्ल जी ने इसे समासोक्ति कहा है।

भक्ति-काल—सगुण भक्ति-काव्य

रामचरितमानस—भक्ति-काल की सगुण शाखा में दो शाखाएँ प्रस्फुटित हुई थीं—

(१) कृष्णाश्रयी और

(२) रामाश्रयी।

कृष्णोपासक कवियों ने अपने आराध्य का माधुर्य-पक्ष ही लिया था और इस कारण से उनका मन प्रगीतात्मक मुक्तकों के लिखने में अधिक रमा। ब्रजभाषा प्रगीत-काव्य के लिए उपयुक्त भी थी। यद्यपि भगवान् कृष्ण के जीवन का लोकरक्षक पक्ष भी था तथापि उनका माधुर्यमय लोकपक्ष अधिक आकर्षक था। राम-काव्य के नायक के जीवन में पर्याप्त अनेकरूपता थी जो सहज में प्रबन्धकाव्य का विषय बन सकती थी। तुलसीदास जी ने यद्यपि कोमल भावनाओं के लिए ब्रजभाषा की मुक्तक शैली को भी अपनाया था तथापि उनके आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी की जन्मभूमि की भाषा होने के कारण उनकी रुचि अवधी की ओर अधिक थी। उनका बृहद् ग्रन्थ (Magnum Opus) अवधी में लिखा गया। तुलसीदास जी के सामने अवधी में प्रबन्धकाव्य का एक उदाहरण भी था जिसमें कि दोहा-चौपाइयों की शैली प्रशस्त की जा चुकी थी। प्रबन्ध काव्य अवधी भाषा की प्रकृति के अनुकूल अधिक है। ब्रजभाषा में मुक्तक अधिक सफल रहता है। यद्यपि कृष्णायन कृष्णचरित-सम्बन्धी है तथापि वह आधुनिक अवधी में ही लिखा गया है क्योंकि अवधी प्रबन्धकाव्य के अधिक अनुकूल पड़ती है। तुलसीदास जी ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर अपने महाकाव्य को खण्डकाव्य की भाँति सजाया और सँवारा। जो बात कि अंग्रेजी में ताजमहल के लिए कही गई है कि—"उन्होंने दानवों की

भाँति बृहदाकार में उसका निर्माण किया और जौहरियों की भाँति एक-एक फूल-पत्ती की पच्चीकारी की"—(They built like giants and finished like jewellers)—वह रामचरितमानस के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। नन्ददास जी तो केवल 'जड़िया' ही थे किन्तु तुलसीदास 'गढ़िया' और 'जड़िया' दोनों ही थे। रामचरितमानस में आदर्श प्रबन्धकाव्य-का-सा कथानक और भावना का सन्तुलन है तथा साथ ही स्वाभाविकता और कला का सामञ्जस्य है। राम-कथा के न कहने वाले होते हुए भी उसकी प्रबन्धात्मकता में अन्तर नहीं आने पाया है। तुलसीदास जी ने काव्य-सौष्ठव को बढ़ाने के लिए वाल्मीकीय रामायण की कथा से कहीं-कहीं अन्तर कर दिया है (जैसे परशुराम जी का आगमन विवाह से पूर्व महाराजा जनक की राजसभा में ही दिखाया गया है, वाल्मीकीय की भाँति विवाह के पश्चात् बरात लौटते समय नहीं। गोस्वामी जी को रामचन्द्र की महत्ता समस्त क्षत्रिय-समाज में दिखानी थी और वह बात धनुष-यज्ञ के स्थल पर ही सम्भव थी। इसके अतिरिक्त जनक की सभा में परशुराम जी के क्रोध के उद्दीपन की सामग्री भी अधिक थी)। तुलसीदास जी ने 'प्रसन्न राघव' आदि नाटकों से भी सामग्री ली है (क्वचिदन्यतोऽपि) किन्तु सब सामग्री को एक प्रबन्ध में बाँधकर एकरस कर लिया है।

रामचरितमानस में रामचन्द्रिका-का-सा छन्द-वैचित्र्य का प्राचुर्य तो नहीं है किन्तु तुलसी ने अपने को दोहा-चौपाइयों में ही सीमित नहीं किया है वरन् प्रसंगानुकूल हरिगीतिका-छप्पय आदि अन्य छन्दों का भी समावेश किया है।

रामचन्द्रिका—केशव की 'रामचन्द्रिका' यद्यपि प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखी गई थी तथापि उसमें मुक्तक-की-सी स्फुटता विद्यमान है। कथा के तारतम्य की अपेक्षा अलंकरण एवं पाण्डित्य-दर्शन की ओर कवि की रुचि अधिक थी। कथाओं में न तारतम्य है और न अनुपात। राम-बनवास की सारी बात एक छन्द में चलती कर दी जाती है—

'यह बात भरत्थ की मातु सुनी।
पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी॥
तेहि मन्दिर मो नृप सों बिनयो।
वर देहु हुतो हमको जु दयो॥
कैकेयी नृपता सुविसेस भरत्थ लहैं।
बरषैं बन चौदह राम रहैं॥

—रामचन्द्रिका (६।३,४)

केशव ने प्रायः मार्मिक स्थलों का ध्यान नहीं रक्खा परन्तु यत्र-तत्र मर्म को स्पर्श करने वाली पंक्तियाँ भी हैं जहाँ पर वह आचार्य न होकर सामान्य सहृदय कवि के रूप में आए हैं, यथा—

चित्रकूट में रानियों द्वारा दशरथ-मरण का समाचार अपने आँसुओं द्वारा देना—

"पुनि पुत्र को मुख जोइ
क्रम ते उठीं सब रोइ"

यहाँ राम के मुख की ओर देखकर आँखों में आँसू भर लाने में जो भावव्यंजना हुई है वह शब्दों द्वारा संभव नहीं थी, इसी प्रकार सीता को अशोक-वाटिका में अपनी मुद्रिका से सम्बोधन करने का स्थल भी पूर्ण मार्मिक बन पड़ा है। बन-गमन के समय वे रामचन्द्र जी द्वारा कौशल्या को पातिव्रत धर्म का उपदेश दिलाते हैं जो सर्वथा अनुपयुक्त स्थल था। रामचन्द्र जी भगवान् होते हुए भी कौशल्या के पुत्र थे। वे क्या अपनी माता को वैधव्य का आचार बताते ? यदि इसी का वर्णन करना था तो वशिष्ठ जी के मुख से अधिक उपयुक्त होता, वह भी दशरथ जी के देहावमान के पश्चात्।

छन्दों और अलंकारों के बाहुल्य ने 'रामचन्द्रिका' के प्रवाह को कुण्ठित सा कर दिया है। केशव का तो आदर्श वाक्य ही था कि—

'भूषन बिन न राजई कविता, बनिता, मित्त।'

फिर उनके ग्रन्थ में अलंकारों की प्रधानता क्यों न होती ? किन्तु फिर भी अलंकारों के प्रयोग में उनके प्रयोग करने वाले की पात्रता का ध्यान रखना आवश्यक था। गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के मुख की चन्द्रमा से समता करती हुई कहती हैं—

'वासों मृग अंक कहैं तोसों मृग नैनी सब,
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि तुहूँ कलाकलित बखानिये॥'

—रामचन्द्रिका (९।४०)

तुलसी और उनके दृष्टिकोण में और भी अन्तर था। तुलसी ने अपने कवित्व-विवेक पर गर्व न करके सारा श्रेय अपने आराध्य रामचन्द्र जी को ही दिया है—

'एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
अति पावन पुरान-स्रुति-सारा॥'

किन्तु केशव ने 'रामचन्द्रिका' में अपने ग्रन्थ के बहु छन्दों का सगर्व उल्लेख किया है 'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द'। जहाँ तुलसीदास जी प्राकृत जन-गुण-गान को एक पाप समझते थे वहाँ केशवदास जी राज्याश्रय में रहकर राज-सा करते थे। उनके लिए राम की अपेक्षा अपने सुख और व्यक्तित्व का अधिक महत्त्व था। यह बात नहीं कि केशव में भक्ति नहीं थी तथापि तुलसी की भाँति वे अपने राम में अपने पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व को भुला न सके। वास्तव में रामचन्द्रिका अपने विषय के अनुसार भक्ति-काव्य है और शैली के अनुसार रीति-काव्य है।

रीति-काल में कविता जनता की वस्तु न रहकर राज्याश्रय में पहुँच गई। वीर-गाथा-काल के कवियों की भाँति कवि लोग रण-शूर न थे और न उसमें वैसा अपने राज्य के प्रति वीरोल्लास था। वे तो गुलगुली-गिल्मों और सुराही-प्याले के भक्त थे। कोई राजा भी ऐसा न था जिसके लिए प्रबन्ध-काव्य लिखा जाता। कवि-गण शृङ्गारिक विलासिता में मस्त थे और सस्ती वाहवाही चाहते थे (मतिराम, देव आदि महाकवियों के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं है)। भूषण उस समय के अपवाद होते हुए भी प्रबन्ध-काव्य न लिख सके। यद्यपि शिवाजी में प्रबन्ध-काव्य के नायक होने की क्षमता थी तथापि भूषण समय के प्रवाह में बह गये और उन्होंने मुक्तक लिखकर ही संतोष किया।

रीति-काल

बिलकुल ऐसी बात तो नहीं है कि रीति-काल में प्रबन्ध-काव्य लिखे ही नहीं गये, कुछ प्रेम-गाथा-काव्य भी लिखे गये और लाल ने 'छत्र-प्रकाश' और सूदन ने 'सुजान-चरित' लिखा किन्तु जो लिखे गये वे इस महत्त्व के नहीं जो 'पद्मावत' या 'रामचरित-मानस' से टक्कर ले सकें। सबलसिंह चौहान का 'महाभारत' अच्छा है किन्तु वह अधिकांश में अनुवाद है। प्रवाह अच्छा है किन्तु साहित्यिक सूझ-बूझ कम है।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में हरिश्चन्द्र और उनके अनुयायियों ने मुक्तक को ही अपनाया। हरिश्चन्द्र जी कृष्ण-भक्ति के रंग में रँगे हुए थे, उन पर अष्टछाप के कवियों का पर्याप्त प्रभाव था। इसके अतिरिक्त उनका ध्यान देश-भक्ति, समाज-सुधार और नाटकों के उत्थान की ओर आकर्षित हो गया था। भारतेन्दु-युग में कोई प्रबन्ध-काव्य न लिखा जा सका।

वर्तमान काल (हरिश्चन्द्र और द्विवेदी-युग)

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीयता के उत्थान के कारण आदर्शवाद बढ़ा और प्राचीन आदर्शों की ओर ध्यान गया। गुप्त जी की 'भारत-भारती' ने सांस्कृतिक जागरण की भेरी बजाई। प्राचीन आदर्श राम और कृष्ण के लोकोत्तर पावन चरित्रों में मूर्तिमान् थे। उनका स्थायी अंग अंग्रेजी राज्य का बढ़ता हुआ बुद्धिवाद भी न धो सका। भक्ति भाव को बुद्धिवाद के अनुकूल बनाकर गुप्त जी और हरिऔध जी ने राम तथा कृष्ण के चरित्र 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' में अंकित किये। गुप्त जी की अपेक्षा उपाध्याय जी के ऊपर बुद्धिवाद का प्रभाव कुछ अधिक है। हरिऔध जी के कृष्ण कर्त्तव्यपरायण लोक-नायक ही हैं किन्तु गुप्त जी के राम साक्षात् ईश्वर हैं—

**'राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।'**

—साकेत (मंगलाचरण से पूर्व का पृष्ठ)

प्रिय-प्रवास—खड़ी-बोली के प्रारम्भिक काल में मुक्तक-काव्य का ही प्राधान्य था किन्तु उस समय भी मुक्तक को वह गौरव न मिल सका जो कि प्रायः प्रबन्ध-काव्य को मिला करता था। खड़ी बोली की इस कमी को पहली बार अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने पूरा किया। अतुकान्त संस्कृत-छन्दों में लिखे हुए 'प्रिय-प्रवास' का महाकाव्य के रूप में स्वागत किया गया। इस ग्रन्थ में करुणा-विप्रलम्भ-शृंगार और वात्सल्य के वियोग-पक्ष का प्राधान्य है। भगवान् श्रीकृष्ण जाति के लोकप्रिय नेता के रूप में आते हैं। प्राचीन हिन्दी कवियों ने श्रीकृष्ण के विलासी और लीलामय रूप को ही देखा था किन्तु उपाध्याय जी ने उनके कर्त्तव्यपरायण और लोकरञ्जक रूप को सामने रक्खा और राधा के चरित्र को भी श्रीकृष्ण के अनुरूप लोक-सेवक रूप ही प्रदान किया। उनका वैयक्तिक प्रेम विश्वप्रेम में परिणत होता हुआ दिखाया गया है—

'पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं जो सबों में।
जो प्यारे को अमित रंग औ' रूप में देखती हूँ॥
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा॥

—प्रिय-प्रवास (१६।१०५)

जिस ज्ञान के उपदेश को बेचारे ऊधो मथुरा से देने आये थे उसमें राधा पहले ही से रँगी हुई थीं। वे इतनी कर्त्तव्यशीला दिखाई गई हैं कि कृष्ण को कर्त्तव्य-विमुख करके अपने घर भी लौटना नहीं चाहतीं—

'प्यारे जीवें, जग-हित करें, गेह चाहे न आवें।'

उपाध्याय जी ने परम्परागत नवधा भक्ति को भी लोक-सेवा का ही रूप दे दिया है। इस प्रकार हम 'प्रिय-प्रवास' में राधा-कृष्ण की एक नई झाँकी देखते हैं।

'प्रिय-प्रवास' में गिरि-गोवर्धन-धारण की अलौकिक लीला को बुद्धिवाद की तुष्टि के लिए एक लौकिक रूप दे दिया है। गिरिराज का अँगुली पर उठाना वास्तविक रूप में नहीं वरन् लाक्षणिक रूप में स्वीकार किया जाता है—

'लख अपार प्रसार, गिरीन्द्र में,
ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने॥'

—प्रिय-प्रवास (१२।६७)

'प्रिय-प्रवास' का भाव-पक्ष पर्याप्त रूप में पुष्ट है। वर्तमान युग की कर्त्तव्य-परायणता की माँग के साथ वैयक्तिक विरह-वेदना को जितना आश्रय मिल सकता है उसका पूर्णातिपूर्ण विस्तार है। वात्सल्य की भी पावन झाँकी उसमें दिखाई देती है। घटना-क्रम

का अभाव तो नहीं है किन्तु भगवान् कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ स्मृति के रूप में ही वर्णित हुई हैं। 'प्रिय-प्रवास' के रङ्गमञ्च पर भगवान् स्वयं नहीं आये वरन् गोप और गोपियों द्वारा ही विरह-वर्णन के मिष उनके लोकप्रिय चरित्र का उद्घाटन किया गया है। इसीलिए बहुत से लोग उसे महाकाव्य न कहकर एक विरह-काव्य ही कहना पसन्द करते हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' दोनों को ही साहित्य की एक नई विधा 'एकार्थ काव्य' के अन्तर्गत रखा है। सर्गों और छन्दों की दृष्टि से 'प्रिय-प्रवास' में महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उसमें महाकाव्य के वर्ण्य विषय भी प्रायः सभी आ गये हैं। वर्ण्य विषय के अन्तर्गत प्राकृतिक चित्रण में वे आचार्य केशवदास से ही प्रभावित हुए हैं। उन्होंने देश-काल के विपरीत ब्रज में सभी अच्छे-अच्छे वृक्षों की तालिका-सी दे दी है—

'जंबू, अंब, कदंब, निम्ब, फलसा, जम्बीर, औ' आँवला।
लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमली औ' शिंशपा इङ्गुदी॥
नारंगी, अमरूद, बिल्व, बदरी, सागौन, शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल, ताल, कदली औ' शाल्मली थे खड़े॥'

—प्रिय-प्रवास (९।२५)

लीची, नारिकेल, सागौन और शाल ये वृक्ष ब्रज में स्वाभाविक रूप से नहीं होते। हरिऔध जी इस नाम-परिगणन में उन करील की कुञ्जों को तो भूल ही गये जिनके ऊपर रसिक रसखान 'कोटिन कलधौत के धाम' न्यौछावर करने को तैयार थे।

हरिऔध जी ने नाम-परिगणन के अतिरिक्त प्रकृति को अनेक संश्लिष्ट रूपों में चित्रित किया है। प्रायः सर्गों के प्रारम्भ में जो प्रकृति-वर्णन है वह अपने सहज स्वाभाविक रूप में आया है, यथा—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥'

—प्रिय-प्रवास (१।१)

इसी प्रकार बाल-कृष्ण के मथुरा-गमन के समय का प्रकृति-वर्णन भी बरबस ही पाठकों की हृत्तंत्री का एक-एक तार अपने करुण स्पन्दनों से झंकृत कर जाता है।

'प्रिय-प्रवास' में यद्यपि महाकाव्य के बहुत से लक्षणों का निर्वाह हो जाता है तथापि उसका मूल ध्येय विरह-निवेदन होने के कारण उसे महाकाव्य की पंक्ति में प्रश्न-चिन्ह के साथ ही रक्खा जायगा।

श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र जी के '*कृष्णायन*' ने इस युग में कृष्णचरित को प्रबन्ध-काव्य के रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने कृष्ण भगवान् के ब्रज, मथुरा और द्वारिका

के जीवन को एक कथा के तारतम्य में आबद्ध करके चरित-नायक के जीवन की अनेकरूपता के दर्शन कराये हैं। मिश्र जी ने प्रबन्ध-काव्य की प्रतिष्ठित भाषा अवधी को ही अपनाया है। पुस्तक भर में दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दों से काम लिया गया है। ये छन्द कथा के प्रवाह को आवश्यक गति और विराम दे देते हैं। इस ग्रन्थ में भी भावुकता की अपेक्षा कर्त्तव्य-परायणता की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। प्रमुख पात्रों का चित्रण बड़े कौशल के साथ हुआ है। ब्रज और मथुरा के माधुर्यमय स्थलों में सूर की स्पष्ट छाप है। पहले तो बाल-वर्णन की जो सरसता ब्रजभाषा में आ सकती है वह अवधी में नहीं। मिश्र जी की अवधी में भी संस्कृत तत्समता की ओर अधिक झुकाव है। पूरे कृष्ण-चरित को एक स्थान में रख देने के लिए यह ग्रन्थ चिरस्मरणीय रहेगा।

साकेत—राम-काव्य की परम्परा का गुप्त जी ने 'साकेत' में पुनर्जीवन प्रदान किया है। 'साकेत' में रामचरित्र के सहारे उर्मिला और लक्ष्मण को प्रधानता दी गई है। ये ही इसके नायक और नायिका हैं। लक्ष्मण से भी अधिक मुख्यता उर्मिला को मिली है। रवि बाबू और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन कवियों की उर्मिला-विषयक उपेक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया था। इसी कमी को गुप्त जी ने पूरा किया। रामचरित्र से सम्बन्धित सारी कथा में सबसे अधिक त्याग उर्मिला का ही था, इस बात को गुप्त जी ने सीता जी के मुख से स्पष्ट करा दिया है। सीता जी को बनवास में भी राम का सहवास मिला था किन्तु बेचारी उर्मिला राजमहल के उस चिर-परिचित प्रेम पूत वातावरण में लक्ष्मण के भ्रातृ-प्रेम और कर्त्तव्य-परायणता के कारण पति-प्रेम से वंचित रहीं, इसीलिए सीता जी कहती हैं—

> 'आज भाग्य है जो मेरा,
> वह भी न हुआ हा! तेरा।'
>
> —साकेत (चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ ८४)

इस प्रकार बेचारी उर्मिला पति के द्वारा भी उपेक्षिता रही और कवियों द्वारा भी।

गुप्त जी ने लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र को उभारा अवश्य है किन्तु उसके कारण रामचरित्र को गौण नहीं बनाया है। यह गुप्त जी का मर्यादावाद परम सराहनीय है। प्राचीन मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए ही ग्रन्थ का नाम 'साकेत' रक्खा जिससे कि राम का महत्त्व बना रहे। इस नामकरण का एक दूसरा भी कारण है कि इसका घटना क्रम साकेत नगरी में ही चला है। जो प्रत्यक्ष रूप से साकेत में नहीं घटित हुआ है उसको दूसरे रूप से वे साकेतवासियों के सम्पर्क में ले आये हैं। विवाह के पूर्व जनकपुर की कथा को विरह-वर्णन में उर्मिला के मुख से कहला दिया है और वन की घटनाओं को कुछ तो हनुमान जी के मुख से कहला दिया है और कुछ वशिष्ठ जी द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टि से साकेतवासियों को दिखा दिया गया है (यह बात अलौकिक अवश्य कही

जायगी और अलौकिक के लिए इस युग में स्थान नहीं फिर भी रेडियो और टेलीविज़न के युग में ऐसी बातों को असम्भव कहना ठीक नहीं, अपने-अपने युग के साधन अलग होते हैं। आजकल यन्त्र का बल है तो उस समय योग का बल था)। चित्रकूट में जो घटनाएँ हुई हैं वे सब साकेत-समाज की उपस्थिति में घटी हैं।

गुप्त जी ने कथा की परम्परा को स्थिर रखते हुए भी कुछ नई उद्भावनाएँ की हैं जिनसे कि काव्य का सौष्ठव अधिक बढ़ जाता है। तुलसीदास जी ने तो चित्रकूटस्थ कैकेयी के सम्बन्ध में इतना कहकर सन्तोष किया है कि—

'कुटिल रानि पछितानि अघाई।'

किन्तु गुप्त जी ने उसके पश्चात्ताप को पूर्णरूपेण मुखरित कर दिया है—

'युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'

—साकेत (अष्टम सर्ग, पृष्ठ १८०)

पतित को उठाना ही सच्ची वैष्णवी भावना है। मंथरा-चित्रण में भी गुप्त जी ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता से काम लिया है। तुलसी की मंथरा की भाँति वह भी उपेक्षा-भाव धारण करती है किन्तु साथ ही फूट का ऐसा सबल बीज बो देती है कि जिसका निवारण कैकेयी का राम-विषयक स्नेह भी नहीं कर सका। मंथरा कहती है—

'भरत-से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह!'

—साकेत (द्वितीय सर्ग, पृष्ठ ३५)

गुप्त जी की दूसरी उद्भावनाओं में अयोध्या में रामचन्द्र जी को सहायता के लिए एक फौज तैयार कराना है। लक्ष्मण को शक्ति लगने की खबर सुनकर भरत और उर्मिला का वहीं बैठा रहना कुछ अस्वाभाविक-सा था। तुलसीदास ने 'मानस' में तो नहीं किन्तु 'गीतावली' में इस ओर संकेत किया है। देखिए—

'तात! जाहु कपि सँग, रिपुसूदन उठिकरि जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु विधिबस सुढर ढरे हैं।।'

—गीतावली (लंकाकांड, १३)

गुप्त जी ने इस कमी को पूर्ण रूप से पूरा कर दिया है। अयोध्यावासियों का उत्साह और उनकी तन्मयता लगभग वैसी ही है जैसी कि कृष्ण के महारास में सम्मिलित होने के लिए सूर और नन्ददास की गोपियों की थी—

'यों ही शंख असंख्य हो गये, लगी न देरी,
घनन-घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी।

काँप उठा आकाश, चौंककर जगती जागी,
छिपी क्षितिज में कहीं, सभय निद्रा उठ भागी
बोले वन में मोर, नगर में डोले नागर,
करने लगे तरंग-भंग सौ-सौ स्वर-सागर।
उठी क्षुब्ध-सी अहा ! अयोध्या की नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता-पत्ता।
भय-विस्मय को शूर-दर्प ने दूर भगाया,
किसने सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया।
प्रिया-कण्ठ से छूट-सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-बधू-जन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे।
प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया।'

—साकेत (द्वादश सर्ग, पृष्ठ ३०४-३०५)

अन्त में बशिष्ठ जी ने योग-बल से युद्ध-भूमि में राम की विजय दिखाकर इस आवश्यकता का निवारण कर दिया था।

साकेत में भरत का चरित्र पूर्ण निखार में आया है। उस पर गीतावली का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं लक्ष्मण का चरित्र आवश्यकता से अधिक उद्धत हो गया है। भरत के सम्बन्ध में वे राम के शासन को भी मानने को तैयार नहीं होते—

'उनको इस शर का लक्ष चुनूंगा क्षण में—
प्रतिषेध आपका भी न सुनूंगा रण में।'

—साकेत (अष्टम सर्ग, पृष्ठ १७०)

किन्तु उनकी इस उद्धतता में भी राम के प्रति भक्ति-भावना की पराकाष्ठा दिखाई देती है। 'आपका भी' इन शब्दों में राम के शासनाधिकार की स्वीकृति है।

रामचन्द्र जी का चरित्र कर्त्तव्यपरायण होते हुए भी शुष्क और नीरस नहीं है। चित्रकूट में गुप्त जी ने सीता के पारिवारिक जीवन के सहवास-सुख (Joy of fellowship) की अच्छी झाँकी दिखाई है। गुप्त जी और गोस्वामी जी के 'मानस' के राम में एक और भी अन्तर है। तुलसी के राम मनुष्य-रूप में भी ब्रह्म हैं और गुप्त जी के राम ब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं। 'साकेत' में सीता से वार्तालाप करते हुए रामचन्द्र जी अपने ईश्वरत्व की भावना को प्रकाश में लाते हैं—

'अथवा आकर्षण पुण्यभूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा।

जो नाम मंत्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे ।।'

—साकेत (अष्टम सर्ग, पृष्ठ १६७)

किन्तु गुप्त जी तुरन्त ही उनको देवत्व के उच्च शिखर से उतारकर मानवता की भाव-भूमि पर ले आते हैं और उनसे कहलाते हैं—

'पर जो मेरा गुण, कर्म स्वभाव धरेंगे ।
वे औरों को भी तार, पार उतरेंगे ।।'

—साकेत (अष्टम सर्ग, पृष्ठ १६७)

'साकेत' में भारतीय संस्कृति और पारिवारिक जीवन की भावना पूर्णरूपेण परिपुष्ट हुई है। जैसा महाकाव्य के लक्षणों के प्रसंग में बतलाया गया है इसके नायक भी आर्यों का आदर्श बताने ही आये थे, सुर-कार्य-साधना के लिए नहीं।

'साकेत' का मूल उद्देश्य तो उर्मिला-विषयक उपेक्षा को ही दूर करना है किन्तु उसमें प्रसंगवश यत्र-तत्र गांधीवाद के सरल जीवन (**मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया**), हाथ की कताई-बुनाई (**तुम अर्द्धनग्न क्यों रहो अशेष समय में, आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में**) और विनत विद्रोह आदि के सिद्धान्तों का भी समावेश हो गया है। राजा को प्रजा द्वारा चुने जाने की बात आधुनिक प्रजातन्त्रवाद की प्रतिध्वनि है। देखिए—

'बोल उठे जन—"भद्र, न तुम ऐसा कहो,
देते हैं हम तुम्हें बिदा ही कब अहो !
राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना !
जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ !"
यों कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ ।

× × ×

बोले श्रीमद्रामचन्द्र सविषाद यों—
"उठो प्रजा-जन, उठो, तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम ?"

उस समय के आदर्श राजा प्रजा के प्रतिनिधि अवश्य होते थे किन्तु उनमें चुनाव के विपरीत वंशानुक्रम की परम्परा थी। ये विचार काल-दूषण (Anachronism) के अन्तर्गत अवश्य आयेंगे। गुप्त जी के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि वे समय के प्रभाव से नहीं बच सके और उनके हृदय की भावनाएँ देश-काल के बन्धनों को तोड़कर झंकरित हो उठी हैं।

साकेत की प्रबन्धात्मकता के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों को सन्देह है। यह बात माननी पड़ेगी कि उर्मिला के अत्यधिक विरह-वर्णन के कारण 'साकेत' का घटना-प्रवाह कुछ कुण्ठित-सा हो गया है। 'प्रिय-प्रवास' की भाँति 'साकेत' में भी बहुत-सा घटना-क्रम स्मृति के रूप से आया है किन्तु घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन भी 'प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा इसमें अधिक है। कथा के प्रवाह, वर्णनों के सौष्टव और सांस्कृतिक पक्ष की प्रबलता के कारण 'साकेत' प्रबन्ध-काव्य के आदर्श के अधिक निकट आता है।

वैयक्तिकता के प्राधान्य के कारण यह युग मुक्तक गीतों का है। इनका प्रभाव 'साकेत' पर भी पड़ा। उसमें यत्र-तत्र जैसे—**'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया, मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया'** (पृष्ठ १५७)—आदि बड़े सुन्दर गीत भी आये हैं किन्तु उर्मिला के ये विरहोद्गार प्रबन्ध के विशाल प्रासाद में नगीने से जड़े हुए हैं।

गुप्त जी पर दूसरा आपेक्ष यह है कि प्रथम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण का प्रेमालाप अश्लीलता के वर्ज्य तट को स्पर्श कर गया है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना आवश्यक है कि उर्मिला के त्याग और विरह-वेदना की विषमता दिखाने के लिए तुलना में संयोग का सुख दिखाना वांछनीय था। यदि लक्ष्मण आरम्भ से ही व्रती और उदासीन होते तो न उनके और न उर्मिला के त्याग का इतना महत्त्व होता। तुलसीदास जी-की-सी मर्यादा तो गुप्त जी राम के चित्रण में भी नहीं पालन कर सके किन्तु राम को मनुष्य रूप में दिखाकर उन्होंने उनके लोकोत्तर चरित्रों को हमारे लिए भी शक्य और सम्भव बना दिया है।

कामायनी—आधुनिक युग की बृहत्त्रयी में तीसरा महाकाव्य 'कामायनी' है। 'कामायनी' में भी जायसी के पद्मावत-की-सी रूपक और कथानक के सम्मिश्रण की प्रवृत्ति है। वास्तव में वह कथात्मक ग्रन्थ की अपेक्षा विचारात्मक ग्रन्थ अधिक है, फिर भी उसमें कथा के साथ विचारों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इसमें प्रसङ्गवश चिन्ता, श्रद्धा, बुद्धि, लज्जा, काम, ईर्ष्या आदि मनोवृत्तियों का सुन्दर चित्रण किया गया है। प्रसाद जी प्राचीनता के उपासक थे। वे प्राचीनता को उस सीमा तक ले गये हैं जहाँ कि कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लग जाते हैं। 'कामायनी' का कथानक आदिकाल के धूमिल वैदिक उपाख्यानों से लिया गया है। महाप्रलय में देव-सृष्टि के निर्बाधित मधुमय हास-विलास का अन्त हो जाता है, केवल अकेले मनु बच रहते हैं। चिन्ताकातर एकाकी होकर वे घबड़ा उठते हैं, उसी समय काम-गोत्रजा 'कामायनी' से उनका परिचय और फिर परिणय हो जाता है। मानवीय संस्कारों और संस्कृति की नये सिरे से सृष्टि होती है परन्तु महाराज मनु प्राचीन देव संस्कारों को भुला न सके, वे पशु-बलि करते हैं। इसी से 'श्रद्धा' और 'मनु' के मन-मुटाव की जड़ जम जाती है (प्रसाद जी ने 'करुणालय' आदि अपने नाटकों में पशुबलि का घोर विरोध किया है) 'श्रद्धा' गर्भवती हो जाती है और वह अपनी भावी

सन्तान की चिन्ता करने लगती है। मनु के हृदय में इससे भी ईर्ष्या उत्पन्न होती है क्योंकि वे अविभाजित प्रेम चाहते थे। मनु श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। सारस्वत देश में पहुँचकर उनकी रानी 'इड़ा' से जो देवताओं की बहन थी और 'बुद्धि' की प्रतीक थी, भेंट होता है। वहाँ मनु रहने लगते हैं और एक नयी यन्त्रमयी संस्कृति को जन्म देते हैं। जब वे सारस्वत देश की रानी 'इड़ा' को भी अपनी काम-वासना का विषय बनाने लगते हैं तो 'इड़ा' की प्रजा मनु के प्रति विद्रोह कर उठती है और मनु आहत हो जाते हैं।

'श्रद्धा' को स्वप्न में यह सब वृत्त ज्ञात हो जाता है और वह अपने पुत्र 'मानव' के साथ मनु की खोज में 'इड़ा' के देश में पहुँच जाती है। वहाँ से 'श्रद्धा' मनु को साथ लेकर तथा मार्ग में मानव को 'इड़ा' के हाथ सौंपकर, कैलाश की ओर चली जाती है। कैलाशप्रदेश में ज्ञान, इच्छा और क्रिया के स्वर्ण, रजत और लौहमय तीन बिन्दुओं को पृथक् दिखाकर अपनी स्मिति-रेखा से उन्हें एक कर देती है तथा त्रिपुर-दाह के कथानक को रूपक में सार्थक करती हुई तीनों के समन्वय का उपदेश देती है। 'कामायनी' की यह समन्वय-भावना भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अङ्ग है। इसमें शैव-दर्शन की समरसता के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन हुआ है। 'कामायनी' भी गाँधीवाद के प्रभाव से खाली नहीं है, उसमें भी यान्त्रिक सभ्यता का विरोध हुआ है—

> **'प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी !**
> **शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।'**
>
> —कामायनी (संघर्ष, पृष्ठ १६६)

'कामायनी' के जो आलोचक कहते हैं कि प्रसाद जी ने 'श्रद्धा' को ऊँचा उठाकर बुद्धिवाद के विरुद्ध हृदयवाद का पक्ष लिया है उसमें इतना ही सत्य है कि मनु को श्रद्धा द्वारा अन्तिम रहस्य के दर्शन होते हैं। यह बात किसी अंश में सत्य भी है क्योंकि तत्त्व-दर्शन में जहाँ बुद्धि पीछे रह जाती है वहाँ श्रद्धा और प्रातिभ ज्ञान (Intution) द्वारा रहस्य का उद्घाटन हो जाता है किन्तु प्रसाद जी ने तर्क और बुद्धि की उपेक्षा नहीं की है। वे समन्वयवादी थे। 'श्रद्धा' ने 'मानव' को 'इड़ा' के हाथ इसलिए सौंपा था कि 'बुद्धि' और 'श्रद्धा' का समन्वय हो जाय। 'मानव' को 'इड़ा' के साथ रहने का आदेश देते हुए 'कामायनी' कहती है—

> **'हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,**
> **हर लेगा तेरा व्यथा-भार;**
> **वह तर्कमयी तू श्रद्धामय,**
> **तू मननशील कर कर्म अभय।'**
>
> —कामायनी (दर्शन, पृष्ठ २४४)

कामायनी में प्रकृति के सौम्य और उग्र रूप दोनों के ही चित्रण मिलते हैं। सौम्य चित्रणों में छायावादी शिल्प-विधान का प्रभाव है और कहीं-कहीं रहस्यवाद की भी झलक मिल जाती है—

'महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते थे संधान।'

—कामायनी (आशा, पृष्ठ २६)

'कामायनी' के प्रति यह एक आक्षेप भी है कि उसमें मनु का चरित्र गिरा दिया है। यह युग नारी के प्राधान्य का अवश्य है किन्तु एक के चरित्र को उठाने के लिए दूसरे के चरित्र को गिरा देना न्याय-संगत नहीं जँचता। 'कामायनी' को देखकर यही कहा जा सकता है कि यह नायिका-प्रधान काव्य है। जिस प्रकार कानून में 'He includes she' रहता है उसी प्रकार साहित्य में भी नायक में नायिका को भी शामिल समझना चाहिए। 'कामायनी' में रूपक की दृष्टि से मनोवैज्ञानिकता की ओर भी संकेत किया गया है। 'कामायनी' के कथानक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किये बिना हम उसे सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वजनीन महाकाव्य के उच्च पद पर अधिष्ठित नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए कामायनी में चिन्ता, आशा, काम, वासना, बुद्धि आदि मनोवृत्तियों का सुन्दर वर्णन हुआ है। आध्यात्मिक अर्थ में यदि श्रद्धा को ईश्वर माना जाय तो मनु का मानव-दुर्बलताओं से पूर्ण चरित्र आश्चर्यजनक नहीं रहेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि रूपक के निर्वाह के लिए मनु के आदिम पुरुष और सभ्यता के प्रवर्तक होने के चिरप्रतिष्ठित गौरव का बलिदान किया गया है। जायसी में भी कहीं-कहीं रूपक के लिए कथा में लौकिक सम्बन्धों का पूर्णतया पालन नहीं हो सका है। पद्मावत में रत्नसेन के, तोते द्वारा पद्मावती के रूप वर्णन-मात्र से, उस पर मुग्ध होकर विरह-विह्वल हो जाने की बात को शुक्ल जी ने अस्वाभाविक बतलाया है। उन्होंने यह भी कहा है कि यह सच्चा प्रेम नहीं वरन् मोह है। इस प्रकार शाब्दिक वर्णन-मात्र को सुनकर विरह-व्याकुल होना किसी अंश में अस्वाभाविक अवश्य है किन्तु इसमें रूपक का निर्वाह ठीक बैठ जाता है। तोता को गुरु माना, गुरु के उपदेश-मात्र से साधक को भगवान् में आसक्ति हो जाती है और वह विरह से व्याकुल हो जाता है। नागमती रत्नसेन की विवाहिता पत्नी है फिर भी आध्यात्मिक पक्ष में उनको दुनिया का धन्धा कहा गया है। यहाँ पर जो बात अप्रस्तुत विधान में ठीक समझी जाती है वह प्रस्तुत में अनुचित-सी प्रतीत होती है।

साकेत-सन्त—जिस प्रकार गुप्त जी ने अपने 'साकेत' में लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र को प्रधानता दी है उसी प्रकार पण्डित बलदेव प्रसाद मिश्र ने अपने 'साकेत-

सन्त' में भरत जी के चरित्र को महत्ता प्रदान की है। भरत जी तुलसी के मानस में यथोचित महत्ता प्राप्त कर चुके थे। गोस्वामी जी ने उनको 'भाइप भगति' का आदर्श मानते हुए राजमद से अछूता बतलाया है—

'भरतहिं होइ न राजमद, बिधि-हरि-हर पद पाइ।
कबहुँकि काँजी सीकरनि, छीर-सिन्धु बिनसाइ॥'

फिर भी भरत जी का इतना महत्त्व है कि वे स्वतन्त्र काव्य का विषय बन सकते हैं। प्राप्त किया हुआ राज्य ठुकराकर उन्होंने भारतीय मर्यादा का सजीव उदाहरण उपस्थित किया था। मिश्र जी ने इन्हीं के पावन चरित को अपनाया है। इस पुस्तक की विशेषता यही है कि इसमें कवि अपने चरितनायक के हमेशा साथ रहा है। इसी कारण इसमें मंथरा की कथा नहीं आई है। केवल इतना ही कह दिया गया कि चलते समय भरत के मामा युधाजित मंथरा को इशारा दे आये थे कि वह कैकेयी और भरत का हित सम्हाले रहे। इसका युधाजित ने पीछे से उल्लेख भी किया है—

'है धन्य मंथरा ही वह,
यद्यपि दासों की दारा।
जो समझ गई सब बातें,
पाकर, बस, एक इशारा॥'

—साकेत-संत (२।७५)

इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भरत जी युधाजित के विशेष आग्रह पर ही कैकेय देश गये थे। 'जीत मामा की हुई विशेष'—इसमें दशरथ जी दोषमुक्त हो जाते हैं और मंथरा को 'भरत से सुत पर भी सन्देह' कहने की भी गुञ्जाइश नहीं रह जाती है। मिश्र जी ने और भी कई नई उद्‌भावनाएँ की हैं। उन्होंने राम-मिलन के अर्थ भरत के बन से राजसी ठाठ-बाट से युक्त होकर जाने का भी कारण बता दिया है और लक्ष्मण की इस शंका के लिए स्थान नहीं रक्खा कि वे निर्द्वन्द्व शासनाधिकार प्राप्त करने के लिए राम पर आक्रमण करने आये हैं—

'भूप के अभिषेक के सब साज लो,
तीर्थ के जल और पावन ताज लो।
छत्र चँवर गजादि वाहन संग हों,
चक्रवर्ती के सभी वे रंग हों॥
साथ सेना हो कि नृप को मान दे,
साथ हो मुनि-मण्डली कि विधान दे।
साथ परिजन हों कि सेवा-भार लें,
साथ पुरजन हों कि प्रभु स्वीकार लें।'

—साकेत-सन्त (७।४७,४८)

इस पद्य-भाग में 'पावन' के साथ 'ताज' शब्द अवश्य खटकता है।

मिश्र जी ने भरत के आगमन की सूचना राम को कोलों द्वारा दिला दी है और लक्ष्मण जी के रोष के लिए गुञ्जाइश नहीं रक्खी है। राम और भरत को वृहत् सभा में एकत्रित करने से पूर्व उन्हें राम से एकान्त में मिला दिया है जिससे कि वे अपने सब उद्देश्य भरत को बतला दें। इस ग्रन्थ में भारत की अखण्ड सांस्कृतिक एकता और उसके संरक्षण की पुकार है जो देश की विभाजन-सम्बन्धी समस्याओं की प्रतिध्वनि कही जा सकती है—

'दक्षिण तो मैं देखूंगा ही,
पर उत्तर पर आँच न आवे।
करो व्यवस्था भरत ! कि मणि
की जगह विदेशी कांच न आवे।
कहा जनक ने 'पूर्व दिशा में,
स्थिर है अपनी आर्य-पताका,
कैकेयी ने कहला भेजा,
मैं साधूंगी पश्चिम नाका ॥'

—साकेत-सन्त (१३।७५)

ग्रन्थकार एकराष्ट्रता का आदर्श शत्रु की भौतिक पराजय और दासता के आधार पर नहीं चाहता है वरन् वह हृदय से हृदय जीत का समर्थक है। शत्रु पर नैतिकता और सद्व्यवहार द्वारा विजय प्राप्त करना गांधीवादी हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त है—

'बनेंगे दक्षिण उत्तर एक,
उरों का जब हो उर से मेल।'

—साकेत-संत (१२।४५)

इसी भावना के अनुकूल कवि एक आदर्श समाज का चित्रण करता है। साम्राज्य अपने अङ्गों की संस्कृति को नष्ट करके जीवित नहीं रह सकता वरन् उसके संरक्षण में ही राज्य की सम्पन्नता है—

'सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र-उत्थान।
लिए इस नहीं कि करें सशक्त,
निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिए कि हों विश्व-हित-हेतु,
समुन्नत-पथ पर सब स्वाधीन ॥'

—साकेत-संत (१२।४६)

भरत जी की महत्ता दिखाना इस पुस्तक का उद्देश्य है ही किन्तु साथ में माण्डवी भी उपेक्षित नहीं रही है। उसके तप और त्याग की बड़ी सुन्दर झाँकी दिखाई गई है, देखिए—

'विकसी प्रभा प्रभाकर की है,
पर न कमलिनी मोद मनाये!
था बसंत आँखों के आगे
पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह! माण्डवी को तो आहों
का भरता भी वर्जिततर था!!
जो हैं दूर उसी की आशा
रख कर मन समझाया जाये,
समझ सराहूँ मैं उस मन को
पास रहे पर पास न आये।'

—साकेत-संत (१४।४ अ)

'पास रहे पर पास न आये' में माण्डवी की विरह-व्यथा उर्मिला की व्यथा से अधिक बढ़ जाती है।

यद्यपि यह ग्रन्थ विचार-प्रधान है और इस कारण इसमें भावुकता तथा कवित्व की अपेक्षाकृत कमी दिखाई देती हैं तथापि ऊपर-के-से स्थल इसे भावुकता-शून्य होने के दोष से बचाये रखते हैं।

वर्तमान बुद्धिवादी युग के महाकाव्यों में विचारात्मकता को अधिक आश्रय मिला है। कथानक विचार-वेली का आश्रय-स्थान-मात्र बन जाता है। दिनकर जी

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में प्राचीन कथानक के सहारे युद्ध की अनिवार्यता पर विचार करते हुए पुराने चोले में एक नई आत्मा का प्रवेश कराते हैं। इस काव्य में अहिंसा का महत्त्व अवश्य स्वीकार किया है किन्तु साथ ही यह बताया गया है कि वह तभी सफल बन सकती है जब संसार उसके योग्य बन जाय (तब तो शायद अहिंसा के प्रयोग की भी आवश्यकता न रहेगी) किन्तु जब तक संसार में मद-मात्सर्य और हिंसावृत्ति है तब तक युद्ध का अस्तित्व सार्थक रहेगा—

'युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिष-संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।'

लेखक का विश्वास है कि समविभाजन के साम्यवादी आधार पर ही शान्ति की स्थापना हो सकती है।

'शान्ति नहीं तब तक जब तक
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो
नहीं किसी को कम हो।'

वर्तमान युग में और भी महाकाव्य लिखे गए हैं। रघुवंश के अनुकरण में लिखा हुआ श्री हरदयाल सिंह का 'दैत्यवंश' ब्रजभाषा में लिखा गया है। उसमें भी कई राजाओं के चरित हैं। यद्यपि दैत्यों में भी प्रह्लाद और बलि जैसे उदारचरित राजा हुए हैं तथापि दैत्यवंश को महाकाव्य का विषय बनाना इस युग की स्वातन्त्र्य-प्रवृत्ति का द्योतक है।

इस युग के महाकाव्यों पर अधिकांश में गाँधीवादी प्रभाव है। वैदेही-वनवास में भी गाँधी जी का शान्तिवादी स्वर मुखरित हो रहा है। यह सब वर्तमान युद्धों की विनाशमय प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया है। इनमें सरल जीवन की भी पुकार है। आजकल के महाकाव्यों के नायक भी लोक-प्रतिष्ठा-प्राप्त महापुरुष ही हैं किन्तु उनका अतिमानवी रूप विलीन हो गया है। इन पर वर्तमान बुद्धिवाद का अधिक प्रभाव है। प्रकथन (Narration) के साथ इन महाकाव्यों में प्रगीत तत्व भी है। यह युग का प्रभाव है।

महाकाव्यों की परम्परा में नवीन उपलब्धियाँ

यद्यपि यह युग मुक्तक-प्रधान है तथापि प्रबन्ध-काव्यों का नितान्त अभाव नहीं है। 'पार्वती', 'सावित्री', 'अम्बपाली', 'पथ पर' कई छोटे-पूरे महाकाव्य के नाम से पुकारे जाने वाले काव्य निकले हैं किन्तु उनमें पार्वती नाम का महाकाव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके लेखक श्री रामानन्द तिवारी 'भारती नन्दन' हैं। यद्यपि इसकी कथा कुमारसम्भव पर आश्रित है तथापि इसमें शैव दर्शन, धर्म, संस्कृति और नीति का अच्छा वर्णन हुआ है। इतना अवश्य है कि वह कथा-प्रसङ्ग से अलग-सा हो गया है। महाकाव्यत्व के परम्परित प्रतिमानों के आलोक में हमें कतिपय नवीन आदर्शों पर भी अद्यतन-महाकाव्यों में दृष्टिक्षेप करना चाहिए। आज के महाकाव्यों में (महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में भी) बौद्धिकता की ओर आग्रह, विविध राजनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन, तथा नवयुग की निर्मिति के लिए कवि का व्यक्तिगत सन्देश आदि विषय स्वतः ही आ गए हैं। आजकल के महाकाव्यों में बीच-बीच में गीतों का भी समावेश हुआ है, यह युग का प्रभाव है।

खण्डकाव्य

खण्डकाव्य में प्रबन्ध-काव्य-का-सा तारतम्य तो रहता है किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती जो कि महाकाव्य में होती है। उसमें कहानी और एकाङ्की की भाँति घटना के लिए सामग्री जुटाई जाती है। साहित्य-दर्पणकार खण्डकाव्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च'

अर्थात् खण्डकाव्य के एक देश या अंश का आजकल की भाषा में एक प्रधान घटना का अनुसरण करता है, जैसे —मेघदूत।

हिन्दी में 'सुदामा-चरित', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'अनघ' खण्डकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं। अंग्रेजी में टेनीसन की 'एनक आर्डन' को इसी प्रकार की कविता कहेंगे। अंग्रेजी में खण्डकाव्य के लिए कोई विशेष नाम नहीं है। वह प्रकथनात्मक काव्य (Narrative Poetry) के अन्तर्गत आता है। महाकाव्य के छोटे-छोटे कथानक को एपीसोड (Episode) कहते हैं, जैसे अंग्रेजी में 'सुहराब-रुस्तम' की कथा जो फ़ारसी शाहनामे से ली गई है।

हिन्दी में प्राचीन काल में और आधुनिक काल में भी बहुत से खण्डकाव्य लिखे गये हैं। गोस्वामी तुलसीदास के 'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल', 'नहछू', नन्ददासजी का 'भ्रमरगीत' और 'रासपंचाध्यायी'; जटमल की 'गोराबादल की कथा' नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित'; गुप्त जी का 'अनघ', 'जयद्रथ-वध', 'नहुष', 'काबा और कर्बला'; रत्नाकर जी का 'गंगावतरण', 'उद्धव-शतक' तथा 'हरिश्चन्द्र' जैसे ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों पर लिखे हुए खण्डकाव्य हैं। इनमें इतिहास, पुराण और जनश्रुति के पट पर रंगीन चित्र अङ्कित किये गये हैं। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न', सियारामशरण जी गुप्त का 'उन्मुक्त' कवि-कल्पना प्रसूत आख्यान हैं। इनमें से कुछ, जैसे तुलसीदास जी के 'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल' और 'रामलला नहछू' आदि गेय भी हैं।

विशेष

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की एक विधा 'एकार्थ-काव्य' के नाम से मानी है और 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' और 'वैदेही-वनवास' को इसके अन्तर्गत रखा है। उनका कथन है कि महाकाव्य में कथा-प्रवाह विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता हुआ आगे बढ़ता है किन्तु एकार्थ-काव्य में कथा-प्रवाह के मोड़ कम होते हैं। कम और ज्यादह ये सापेक्ष शब्द हैं। 'कामायनी' के कथा-प्रवाह में काफी मोड़ और कथा-विस्तार हैं। 'कामायनी' और 'साकेत' में महाकाव्य के

पाँचों तत्व सानुबन्ध कथा, वस्तु वर्णन, भाव-व्यंजना तथा संवाद, नायक और नायिका की उदात्तता के साथ उद्देश्य की महत्ता पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। हाँ, 'साकेत' में भाव-व्यंजना का कुछ आधिक्य अवश्य है किन्तु दोष सब में होते हैं। भावों की उदात्तता, वर्णनों की विशालता और रस-सञ्चार में 'साकेत', 'कामायनी', 'वैदेही-वनवास' अपना विशेष स्थान रखते हैं और उनको महाकाव्य का पद न देना इस युग के साथ अन्याय है।

५

श्रव्यकाव्य (पद्य)

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य तारतम्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण ('**मुक्तेन मुक्तकम्**') मुक्तक कहलाता है और उसका प्रत्येक पद स्वतःपूर्ण होता है। मुक्तकों में भी क्रमन्यास हो सकता है, जैसा कि गोस्वामी जी की 'गीतावली' में या 'सूर-सागर' के पदों में है किन्तु उनके पद एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, वे स्वतःपूर्ण हैं। मुक्तकों का विभाजन हमने पाठ्य और गेय रूप में किया है किन्तु इन दोनों के बीच की रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है। पाठ्य सामग्री भी गेय हो जाती है किन्तु कुछ पद या छन्द ऐसे होते हैं जो विशेष रूप से गेय होते हैं। गेय और पाठ्य, यह बात तो ऊपरी आकार से सम्बन्ध रखती है किन्तु अब यह भेद कुछ-कुछ विषयी-प्रधानता और विषय-प्रधानता में परिणत हो गया है। गेय में निजी भावातिरेक की मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्य में कवि बात को एक निरपेक्ष द्रष्टा या वकील के रूप में कहता है। पाठ्य मुक्तक प्रायः सूक्तियों के रूप में आते हैं। ऐसे मुक्तक प्रायः नीति-विषयक, शृंगार-विषयक, वीरता-विषयक होते हैं। नीति के मुक्तकों में सबसे अधिक विषय-प्रधानता रहती है। गोस्वामी जी की दोहावली, कबीर, रहीम, वृन्द आदि के दोहे भक्ति और नीति के पाठ्य मुक्तकों के अच्छे उदाहरण हैं। गिरधर की कुण्डलियाँ और दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ भी इसी कोटि में जायँगी। 'हालसप्तशती', 'बिहारी-सतसई', 'दुलारे-दोहावली' शृंगारपरक मुक्तकों के अच्छे उदाहरण हैं (यद्यपि इनमें और विषय भी हैं)। वियोगी हरि की 'वीर-सतसई' में वीर रस के दोहे हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी कविताएँ जो स्फुट रूप से निकलती हैं मुक्तक की ही कोटि में आती हैं।

साहित्य-दर्पणकार ने दो-दो, तीन-तीन, चार-चार और पाँच-पाँच मुक्तकों के समूहों को क्रमशः युग्मक, संदानितक, कलापक और कुलक नाम दिया है।

इस प्रगीतकाव्य, गीतकाव्य या गीतिकाव्य को हम गेय मुक्तक कहेंगे। अंग्रेजी में इसे लिरिक (Lyric) कहते हैं। लिरिक शब्द का सम्बन्ध वीणा की भाँति के (Lyre) नमक वाद्य-यन्त्र से है। इसीलिए कुछ लोगों ने

व्याख्या

'लिरिक' का अनुवाद 'वैणिक' किया है। वैणिक शब्द पुराना है किन्तु इसका प्रगीतकाव्य से कोई सम्बन्ध न था। वैणिक एक प्रकार के चित्रों की संज्ञा थी।

वैणिक या लिरिक शब्द का मूल अर्थ तो वीणा से सम्बन्ध रखने वाला है किन्तु प्रायः गेय पदों में भावातिरेक और निजीपन अधिक रहता था, इसलिए निजी भावातिरेक का प्राधान्य इस विधा का मूल तत्व हो गया है । अंग्रेजी के अलोचना-सम्बन्धी ग्रन्थों में लिरिक की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—'Lyric Poetry, as the name implies (Lyre song poetry) is poetry originally intended to be accompanied by the lyre or by some other instrument of music. The term has come to signify any outburst in song which is composed under a strong impulse of emotion or inspiration.'—Judgment in Literature—P. 97.

इससे प्रतीत होता है कि प्रगीत काव्य में स्वतःस्फूर्ति (Spontaniety) की मात्रा कुछ अधिक होती है । मनोवेग या भावावेश उसकी प्रेरक शक्ति होती है ।

संगीत तो प्रगीत-काव्य के नाम से ही लगा हुआ है । शरीर रूप से यह उसका बाहरी आकार तथा भावातिरेक का स्वाभाविक माध्यम है । भावातिरेक के लिए बहाव चाहिए, वह साधारण पद्य में रुक-सा जाता है किन्तु गीत-लहरी में तरंगित होकर वह उठता है । संगीत यदि उसका शरीर है तो निजी भावातिरेक और आत्म-निवेदन उसकी आत्मा है । यह भावातिरेक सुख-दुःख दोनों का ही हो सकता है । सुख और दुःख की गीतमय अभिव्यक्ति जीवन को एक प्रकार का संतुलन प्रदान करती है । भावावेग के अवरुद्ध जल को बाँधने के लिए मानव-शरीर बड़ा दुर्बल है । हमारे साधारण आवेग भी अश्रु, कम्प, हास, रोमाञ्च, भ्रू-भंग आदि द्वारा मस्तिष्क की चहारदीवारी में बन्द न रहकर अपनी झलक दिखा जाते हैं फिर तीव्र आवेगों का तो कहना ही क्या ? वे भाषा के माध्यम से प्रवाहित होने लगते हैं । गीत द्वारा हर्ष के विस्तार और आत्मा के उल्लास के लिए पंख-से मिल जाते हैं और भावों को एक विशेष प्रवहमानता प्राप्त हो जाती है । दुःख के गीत अपनी अभिव्यक्ति में प्रतिध्वनित हो सहानुभूति का काम देते हैं । गीत-काव्य में भी कवि अपने व्यक्तित्व से ऊँचा उठता है किन्तु उसमें कवि का निजी व्यक्तित्व उसके साधारणीकृत कवि के व्यक्तित्व को स्पर्श किये रहता है और उसको बल प्रदान करता है ।

प्रगीत-काव्य में कवि जो कुछ कहता है अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है । उसमें निजीपन के साथ रागात्मकता रहती है । यह रागात्मकता आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट होती है । रागात्मकता में तीव्रता बनाये रखने के लिए उसका अपेक्षाकृत छोटा होना आवश्यक है । आकार की इस संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी रहती है । छोटेपन की सार्थकता भाव की अन्विति में है । गीत-काव्य में विविधता रहती है किन्तु वह प्रायः एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है । वह केन्द्रीय भाव

प्रायः टेक या स्थायी में रहता है और वह बार-बार दुहराया जाता है। इस प्रकार प्रभाव घनीभूत होता रहता है और भाव की अन्विति भी हो जाती है। *संक्षेप में प्रगीतकाव्य के तत्व इस प्रकार हैं—संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमल-कान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित* (Spontaneous) *होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।*

प्रगीतकाव्य के कई रूप हो सकते हैं (सवैये आदि भी गेय हैं) किन्तु 'गीत' इसका मुख्य रूप है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने जिनका स्थान आजकल के गीतकाव्य लिखने वालों में बहुत ऊँचा है, गीत की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य (पृष्ठ १४७)

अनुभूति को तीव्र बनाये रखना तथा उसको दूसरों तक पहुँचाने के लिए भाव की अभिव्यक्ति पर थोड़ा संयम भी आवश्यक हो जाता है। जल बँधी हुई नाली में ही गति के साथ बह सकता है। यह नियन्त्रण और संयम बाहर से नहीं वरन् स्वयं ही प्राप्त हो जाता है।

गीत और इतिवृत्त

गीत या प्रगीतकाव्य के लिए यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब उसमें रागात्मक आत्मनिवेदन एक आवश्यक तत्व है तब 'गीतावली' के या 'सूर-सागर' के कथा-सम्बन्धी पदों का क्या स्थान है? क्या वे प्रगीतकाव्य की संज्ञा के बाहर हो जाते हैं? जहाँ पर भक्त अपने निजी उल्लास के साथ अपने इष्टदेव की लीला का वर्णन करता है वहाँ उसमें रागात्मक आत्म-निवेदन आ ही जाता है। सूर और तुलसी के पदों में यह रागात्मक निजीपन पूर्णरूप में पाया जाता है। सूर तो पद के अन्त में 'सूर के प्रभु' या 'सूर के ठाकुर' कहकर निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, नाम की यह छाप आत्मख्याति के लिए नहीं होती वरन् अपना निजीपन प्रकट करने को होती है। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में हम कह सकते हैं कि '*मिट्टी के भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते हैं वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता।*' इसीलिए गीतकार को बहुत-सी बातें छोड़ देनी पड़ती हैं। रौद्र, भयानक, वीभत्स रस गीत काव्य के कोमल हार्द (Spirit) के कारण त्याज्य हो जाते हैं। इसी कारण तुलसीदास जी की गीतावली में युद्ध का वर्णन नहीं के बराबर है।

गीत लोक-गीत भी होते हैं और साहित्यिक भी। लोक-गीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में वह व्यक्त भी रहता है (बुन्देलखण्डी कवि ईसुरी की फागों में उसके नाम की छाप मिलती है) वे लोक-भावना में अपने भाव मिला देते हैं। लोक-गीतों में होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमें साधारणीकरण और सामान्यता कुछ अधिक रहती है, तभी वे वैयक्तिक रस की अपेक्षा जन-रस उत्पन्न कर सकते हैं। उन गीतों में प्रत्येक गायक और श्रोता का तादात्म्य हो जाता है। इनका सम्बन्ध प्रायः अवसर विशेष (होली, विवाह, जन्मोत्सव आदि) से रहता है। साहित्यिक गीतों में निर्माता का निजीपन अधिक रहता है। लोक-गीतों में भी साहित्यिक गीतों-की-सी कल्पना रहती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने एक लोक-गीत अपने संग्रह में दिया है। उसका भाव यह है कि एक हरिणी जिसके पति को राजा दशरथ ने आखेट में मार डाला था, माता कौशल्या के पास जाती है। वे पीढ़ा पर बैठी थीं और वह उनसे उसकी खाल माँगती हुई कहती है कि माँस तो रसोई में रँध रहा है, मुझे खाल दे दो, मैं उसे पेड़ पर टाँग कर देखा करूँगी और समझूँगी कि मानों हिरन जीता है। माता कौशल्या कहती है कि इससे मेरे राम के लिए खञ्जरी बनेगी। जब-जब खंजड़ी बजती थी तब-तब हरिणी कान उठाकर उसका शब्द सुनती थी और उसी ढाक के नीचे खड़ी होकर हिरन के लिए रोती थी—

लोक गीत और साहित्यिक गीत

> **"मचियै बैठी कौसिल्या रानी हरिनी अरज करइ।**
> **रानी! मसवा त सिझहिं रोसइयाँ खलरिया हमैं देतिउ॥**
> **पेड़वा से टँगतिउँ खलरिया त हेरिफेरि देखितिउँ।**
> **रानी! देखि-देखि मन समझाइत जनुक हरिना जीतइ॥**
> **जाहु हरिनी घर अपने खलरिया नाहीं देबइ।**
> **हरिनी! खलरी क खँझड़ी मिढ़ऊबइ त राम मोर खेलिहँइ॥**
> **जब-जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ।**
> **हरिनी ठाढ़ि ढँकुलिया के नीचे हरिन क बिसूरइ॥"**

—कविता कौमुदी (भूमिका पृष्ठ ५१)

इस गीत के अज्ञात कवि की कल्पना में करुण रस पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

एक विरहिणी नायिका की जिसका पति रात को प्रवास से लौटने वाला था, उत्साहमयी मनोदशा का चित्रण नीचे की पंक्तियों में देखिए—

> **'आजु ऊओ मोरे चन्दा जुन्हइया आँगन लीपै**
> **झिलमिल होंहि तरइयाँ तौ मौतिन चौक धरै।'**

—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य (पृष्ठ १६६ से उद्धृत)

लोक-गीत भी जातीय साहित्य से सामग्री ग्रहण करते रहते हैं। रामायण और महाभारत से सम्बन्धित अनेकों लोक-गीत हैं। लोक-साहित्य और शिक्षित लोगों के साहित्य में आदान-प्रदान होता रहता है। जायसी के 'पद्मावत' की कथा का पूर्वार्द्ध लोक साहित्य से ही मिलता-जुलता है।

साहित्यिक गीत कई प्रकार के होते हैं। इनमें हम दो भेद देखते हैं। कुछ तो शुद्ध संवेदनात्मक होते हैं, जैसे—कबीर तथा मीरा के गीत अथवा तुलसी की 'विनय-पत्रिका' के पद (शुद्ध संवेदनात्मक में कुछ तो लौकिक प्रेम के होते हैं, कुछ अध्यात्मिक रहस्यवाद के होते हैं और कुछ सगुणभक्तिपरक और कुछ में उपदेश रहता है उनमें भी एक निजी संवेदन रहता है) और कुछ कथाश्रित होते हैं, जैसे—सूर के लीला-सम्बन्धी पद। उनमें भी कवि आत्म-निवेदन करता है किन्तु किसी दूसरे पात्र द्वारा। शुद्ध संवेदनात्मक गीतों में कवि स्वयं ही अपना निवेदन करता है। उसके निवेदन में और लोग भी भाग लें तो दूसरी बात है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि तुलसी अपने विनय के पदों में भी लोक का प्रतिनिधित्व करते हैं। साहित्यिक गीतों का उदय लोक-गीतों से ही हुआ है। मेरी समझ में तो महाकाव्य भी लोक-गीतों के विकसित और संगठित रूप हैं। बहुत से साहित्यिक गीत भी लावनी आदि लोक-गीतों के अनुकरण में बने हैं। इस प्रकार गीतों के कई रूप हो जाते हैं। पद-शैली जिसमें पहली पंक्ति स्थायी या टेक होती हैं और शेष अन्तरों की पंक्तियाँ या तो उसी से तुक-साम्य रखती हैं या आपस में तुक-रखती हैं। दूसरे गजल लावनी तरज के गीत होते हैं और तीसरे आजकल के गीत जिनकी कुछ विशेषताएँ अध्याय के अन्त में दी गई हैं।

गीतकाव्य के अनेक रूप होते हैं। क्योंकि मानव का हृदयोल्लास सीमा-बद्ध नहीं किया जा सकता, उसका भावोल्लास नाना रूपों में प्रकट होता है। साहित्य की विधाओं में पूर्णता आना तो कठिन है ही किन्तु उनके अन्योन्य पार्थक्य की सीमाएँ निर्धारित करना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी अंग्रेजी साहित्य में जो विधाएँ स्वीकृत हैं उनकी कम-से-कम नाम-सम्बन्धी जानकारी कर लेना आवश्यक है।

गीतकाव्य के अंग्रेजी रूप और उनके अनुकरण

अंग्रेजी गीत-काव्य में प्रायः निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं—(१) सॉनेट (Sonnet) अर्थात् चतुर्दशपदी, (२) ओड (Ode) अर्थात् संबोधन-गीत, (३) ऐलिजी (Elegy) अर्थात् शोक-गीत, (४) सेटाइर (Satire) अर्थात् व्यंग्य-गीत, (५) रिफ्लेक्टिव (Reflective) अर्थात् विचारात्मक और (६) उपदेशात्मक (Diadactive)। इन विधाओं में 'सॉनेट' में आकार की प्रधानता थी। शेष में विषय की प्रधानता है। सॉनेट का प्रचार पहले इटेली में हुआ था। दांटे ने सॉनेट लिखे थे। इसमें चौदह पंक्तियाँ होती हैं। इटेली में इसके दो भाग रहते थे। पहली आठ पंक्तियों

का दूसरा छः पंक्तियों का। इनमें एक ही भाव ओत-प्रोत रहता था। पहली आठ पंक्तियों में भाव का प्रतिपादन रहता था और पिछली छः पंक्तियों में कुछ निष्कर्ष या परिणाम रहता था। पहली अष्टपदी (Octave) की तुक इस प्रकार रहती थी a b b a a b b a और षट्पदी की तुकों का क्रम c d e c a e होता था। अंग्रेजी में मिल्टन ने इसी क्रम का अनुसरण किया। इसका दूसरा प्रकार शेक्सपीयर का है उसमें तीन चतुष्पदियाँ और एक द्विपदी रहती है। इसमें पहली की तीसरी से तुक मिलती है और दूसरी की चौथी से। अन्तिम द्विपदी की तुकें आपस में मिलती हैं। हिन्दी में तुक-विन्यास के नई प्रयोग किये गये हैं। हिन्दी में इन विधाओं के अनुरूप बहुत से गीत वर्तमान हैं। सॉनेट तो हमारे यहाँ नहीं थे किन्तु कुछ लोगों ने, जैसे—प्रभाकर माचवे ने इनके अनुकरण में चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं। इनमें चौदह पंक्तियाँ होती हैं। 'ओड' या संबोधन-गीत आजकल की हिन्दी में काफी लिखे गये हैं। प्रसाद जी के किरण, बसन्त, दीप; निराला जी के खण्डहर के प्रति, भिक्षुक, शेफालिका; पंत के आँसू, छाया, बापू के प्रति, अंधकार के प्रति आदि-आदि शीर्षक कविताएँ संबोधन-गीतों के अच्छे उदाहरण हैं। उर्दू में तो 'मर्सियों' की बहुतायत है किन्तु हिन्दी में शोक-गीतों की कुछ कमी है। अंग्रेजी में 'ग्रे' की ऐलिजी (Gray's Elegy) बहुत प्रसिद्ध है। इसका 'ग्रामीण विलाप' के नाम से गुप्त जी द्वारा अनुवाद हुआ है। इसमें भावुकता के साथ चिन्तन भी है। निराला जी द्वारा लिखित 'सरोज स्मृति' जो कि उन्होंने अपनी प्रिय पुत्री के निधन पर लिखी थी शोक-गीत का अच्छा उदाहरण उपस्थित करती है। मिश्रबंधुओं ने 'हा! काशीप्रसाद' शीर्षक एक कविता लिखी थी। व्यंग्य-गीत उपालम्भों के रूप में सूर में बहुतायत से मिलते हैं। भारतेन्दु-काल में भी कुछ ऐसे गीत लिखे गये। भारतेन्दु जी का 'देखी तुम्हारी काशी' व्यंग्य-गीत ही कहा जायगा। प्रसाद, पंत आदि के कुछ गीत (जैसे गुँजन के) विचारात्मक की कोटि में आते हैं। उपदेशात्मक गीतों की हिन्दी-साहित्य में कमी नहीं। कबीर, सूर, तुलसी में इनका बाहुल्य है। श्री प्रभाकर माचवे द्वारा लिखित एक सॉनेट उदाहरण-स्वरूप यहाँ दिया जाता है—

सॉनेट

'मैंने जितना नारी, तुमको याद किया है, प्यार किया है,
तुमने भी क्या कभी भूल से सोचा था कैसा है यह मन?
मैंने क्या अपराध किया जो तुमने यों इसरार किया है,
जाने कैसे विद्युत्कर्षण से परसित है तन-मन अणु-अणु?
तुम मेरे मानस की संगिनि, चपल विहंगिनि, नीड़ की शाखा?
तुम मेरे मन की राका की एकमात्र नक्षत्र—विशाखा,

तुम हो मृगा कि आर्द्रा हो? नहीं, रोहिणी, तुम अनुराधा,
तुम छाया-पथ, ज्योतिशिखा तुम, तुम उल्का, आलोक-शलाका।
संशय के सघनान्धकार में विद्युत्माला अयि अचुम्बिते?
तुम हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, बसन्ततिलका, द्रुतविलम्बिते!
तुम छन्दों की आदि प्रेरणा, प्रथम श्लोक की पृथुल वेदना,
तुम स्रगधरा या कि मन्दाक्रान्ता, ओ आर्या, गीत स्तम्भिते!
मैं गतिहारा 'यति-सा ग्रह से शून्य' प्रभाकर, मैं वैनायक,
तुम रागिनी और मैं गायक, तुम हो प्रत्यञ्चा, मैं सायक?'

—तार सप्तक (पृष्ठ ५३)

इसकी अन्तिम पंक्तियों में प्राचीन अलङ्कार, प्रधान-शैली (यहाँ मुद्रालङ्कार की प्रधानता है) का कुछ आभास आ गया है।

नीचे प्रसादजी द्वारा लिखी हुई एक सॉनेट दी है जिसमें शब्दों का चमत्कार इतना नहीं है किन्तु उसमें भावना-चमत्कार और उसकी अन्विति भी कुछ अधिक है।

'सिन्धु कभी क्या बाड़वाग्नि को यों सह लेता,
कभी शीत लहरों में शीतल ही कर देता।
रमणी हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता,
तो क्या जल होकर ज्वाला से यों फिर लड़ता।
कौन जानता है नीचे में क्या बहता है,
बालू में भी स्नेह कहो कैसे रहता है।
फल्गू की है धार हृदय वामा का जैसे,
सूखा ऊपर, भीतर स्नेह सरोवर जैसे।
ढकी बर्फ की शीतल ऊँची चोटी जिनकी,
भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी।
ज्वालामुखी समान कभी जब खुल जाते हैं,
भस्म किया उनको जिनको वे पा जाते हैं।
स्वच्छ स्नेह अन्तर्हित फल्गू सदृश किसी समय,
कभी सिन्धु ज्वालामुखी धन्य-धन्य रमणी हृदय।'

—डॉक्टर सुधीन्द्र की हिन्दी कविता में युगान्तर (पृष्ठ ३१४ से उद्धृत)

इसमें अष्टपदी और षटपदी का विभाजन नहीं है। शेक्सपीयर की सॉनेट की भाँति इसमें कविता का सार अन्तिम द्विपदी में है, उसका छन्द भी भिन्न है। अन्त्यानुप्रास-क्रम इसमें भी शेक्सपीयर से भिन्न है। हिन्दी में इसके बहुत प्रयोग हुए हैं। सुमित्रानन्दन पंत, नरेन्द्र शर्मा, श्रीबालकृष्ण राव, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल

आदि महानुभावों ने इस विधा में बहुत परिष्कार और परिवर्तन किया है। पंक्तियों के योग की योजनाओं के (जैसे अष्टपदी और षटपदी, तीन चतुष्पदी और एक द्विपदी, एक चतुष्पदी और एक दशपदी, सात द्विपदियाँ आदि) होते हुए सब में एक भाव की अन्विति रहती है।

श्री सुमित्रानन्दन पंत के एक सम्बोधन-गीत का कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

अन्धकार के प्रति

'अब न अगोचर रहो सुजान।
निशानाथ के प्रियवर सहचर।
अन्धकार, स्वप्नों के यान।
किसके पद की छाया हो तुम?
किसका करते हो अभिमान?
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छविमान!'

—पल्लविनी (पृष्ठ १५)

गीतकाव्य का इतिहास

गीतकाव्य का इतिहास स्वयं वेदों से ही प्रारम्भ होता है। सामवेद गायन ही है। गीत शब्द को कुछ लोगों ने स्त्रियों के गीतों में ही संकुचित कर दिया है। वैसे तो स्त्रियों के गीत भी मन के उत्साह के द्योतक होने के कारण गौरव की वस्तु हैं किन्तु गेय-मात्र-प्रगीत साहित्य नहीं हैं। वेदों में गीत बतलाना उनके गौरव को घटाना नहीं है। गीत शब्द का पूरा-पूरा महत्त्व श्रीमद्भागवद्गीता में देखा जा सकता है। गीता का भी तो अर्थ यही है कि जो गाया गया हो। स्वयं वेदों के गायकों ने उन्हें गीत कहा है—**'गीर्भि वरुण सीमहि'**—अर्थात् हे मेरे वरणीय मैं तुम्हें अपने गीतों से बाँधता हूँ।

वैदिक साहित्य के पश्चात् बौद्ध साहित्य की थेर गाथाओं का स्थान आता है। उनमें वैराग्य के प्रति हार्दिक राग और उत्साह के दर्शन होते हैं। एक उदाहरण श्रीमती महादेवी वर्मा के गीतकाव्य शीर्षक (यह शब्द दोनों तरह से लिखा जाता है गीत-काव्य और गीति-काव्य। संस्कृत में गीत शब्द नपुन्सकलिङ्ग है और गीति स्त्रीलिङ्ग) लेख से (महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—पृष्ट १५१) उद्धृत किया जाता है—

'सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहङ्गमा,
सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति बनम्हि झायिनं।'

—थेर गाथा (११३६)

अर्थात् जब तुम बन में ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नीली ग्रीवा वाले सुन्दर-सुन्दर शिखा-शोभी तथा शोभायमान चित्रित पंखों से युक्त आकाशचारी पक्षी अपने

सुमधुर कलरव द्वारा, घोष-भरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।

वास्तव में गाथा शब्द का भी अर्थ गीत है। वैदिक साहित्य में ऋक् और गाथा में अन्तर किया गया है, वह यह कि ऋक् में ईश्वर का स्तवन होता है और गाथा में मनुष्यों, राजाओं आदि का। अंग्रेजी 'बैलैड्स' की भाँति इनमें लोक-प्रसिद्धि-प्राप्त राजा आदि के यशोविस्तारक कार्यों का वर्णन होता था।

वाल्मीकीय रामायण को गेय और पाठ्य दोनों ही कहा है किन्तु उसमें इतिवृत्त अधिक है और हृदय का रस कहीं-कहीं ही बहता दिखाई पड़ता है। मेघदूत आदि को (यद्यपि वे भी खण्डकाव्य में ही आते हैं) कुछ अधिक सत्यता के साथ गेय काव्य में रख सकते हैं किन्तु उसमें मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्धत्व अधिक है। उसका निजीपन भावना के सम्बन्ध से उसे प्रगति के निकट ले आता है।

जयदेव—संस्कृत में गीत-काव्य का असली रूप हमको जयदेव के गीतगोविन्द में मिलता है। उनके गीत राग-रागनियों में बँधे हुए हैं। जयदेव ने विलास-कला-कौतूहल की सरस चासनी में हरि-स्मरण की औषधि देना चाहा है किन्तु आधुनिक युग के अभक्त रसिकों के लिए उसमें औषधि की अपेक्षा उनकी मधुर कोमल-कान्त पदावली का सरस राग ही अधिक मनोरम है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

'वसन्तराग, यतितालाभ्यां गीयते।—
ललित लवङ्ग-लतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित कोकिल-कूजितकुंज-कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥'

—गीत-गोविन्द (सर्ग १, गीत ३)

विद्यापति और चण्डीदास के पदों में जयदेव की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है। आपादमस्तक भक्ति-रस में आमग्न चैतन्य महाप्रभु के लिए तो विद्यापति में भक्ति-रस ही था किन्तु साधारण लोग उनमें भक्ति की अपेक्षा शृङ्गार की गन्ध अधिक पाते हैं—**'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।'** विद्यापति में न तो रीति-काल-की-सी कृत्रिमता है और न सूर-की-सी इष्टदेव के लीला-दर्शन की भावना। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को जीव ब्रह्म का रूपक भी कहना कुछ खींचतान होगी। उनकी भक्ति-भावना यहीं तक है कि उन्होंने राधा-कृष्ण को अपने काव्य का आलम्बन बनाया है और उनको हरि तथा माधव कहकर सम्बोधित किया है। उनका हृदय शृङ्गार की सरसता से आप्लावित था और उनकी भक्ति-भावना शृङ्गार के माधुर्य में दब गई है। जो कुछ भी हो विद्यापति के पदों में पद-लालित्य, सरस राग, हृदय का रस और उक्ति का वैचित्र्य सभी कुछ है। प्रेम की कभी न पूर्ण होने वाली साध के विषय में विद्यापति कहते हैं—

'सखि कि पूछसि अनुभव मोय ।
सोहो पिरिति अनुराग बखानइत तिल-तिल नूतन होय ।।
जम अबधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सो हो मधुर बोल स्रवनहि सुनल स्रुति पथ परस न गेल ।।
कत मधु जामिनिय रभस गमओल न बूझल कइसन केल।
लाख-लाख युग हिय-हिय राखल तइओ हिय जुड़न न गेल ।।'

—भावोल्लास (पद २)

इसमें रूप के क्षण-क्षण में बदलने वाले रूप '**क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः**' के अनुरूप तिल-तिल नूतन होने वाले अनुभव की ओर संकेत है । रूप की अनन्तता की ओर भी इसमें संकेत है ।

यह तो प्रेम का मानसिक पक्ष है किन्तु विद्यापति में यह प्रबल नहीं है जितना कि भौतिक पक्ष । जहाँ जायसी और सूर में प्रेम की पीड़ा अधिक है वहाँ विद्यापति में भौतिक सौन्दर्य के प्रति हृदयोल्लास और मिलन की अधीरता है ।

विद्यापति ने कुछ भक्ति-सम्बन्धी गीत भी लिखे हैं जिनसे प्रकट होता है कि हृदय में अंकुर अवश्य था किन्तु वह उनकी अत्यधिक शृंगारिकता के कारण दब गया था। देखिए—

'तातल सैकत बारि-बिन्दु सम सुत-मित रमनि समाज।
तोहे बिसरि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कौन काज ।।
माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहुं जगतारन दीन दयामय अतय तोहरि बिसवासा ।।'

—विद्यापति की पदावली (पृष्ठ ३१२)

गंगाजी के स्तवन में निजीपन, हार्दिकता और भाव-सुकुमारता दर्शनीय है—

'बड़ सुख-सार पाओल तुअ तीरे,
छोड़इत निकट नयन वह नीरे।
कर जोरि विनमओं विमल तरंगे,
पुन दरसन होए पुनमति गंगे।
एक अपराध छेमब मोर जानी,
परसल माय पाए तुअ पानी ।'

—विद्यापति की पदावली (पृष्ठ ३११)

इसमें व्रजभाषा-का-सा माधुर्य है। 'स' का ही बाहुल्य है। स्वरों के आधिक्य ने इसे कोमलता प्रदान की है। 'क्ष' भी 'ख' हो गया है।

वीरगाथा काल—इस युग में भी गीत-काव्य का सृजन हुआ । यद्यपि इस

काल का साहित्य अधिकांश में वर्णनात्मक है तथापि उसमें भी वीरोल्लास के गीत हैं (जैसे आल्ह-खण्ड में) और विरह-मिलन के भी गीतों का अभाव नहीं। बीसलदेव रासो तो इतना श्रृंगारिक है कि उसके सम्बन्ध में तो यह भी प्रश्न है कि उसको वीर-गाथा में स्थान देना चाहिए या नहीं। आल्ह-खण्ड में वर्णन कुछ अधिक है। बीसलदेव रासो गाने के उद्देश्य से ही लिखा गया है—

'गायो है रास सुणे सब कोई।
सांभल्यां रास गंगाफल होई॥
कर जोड़े नरपति कहई।
रास रसायण सुणै सब कोई॥'

कबीर—हिन्दी में गीत-काव्य के प्रथम दर्शन सन्त कवियों की वाणी में होते हैं। कबीर आदि ने निर्गुण को अपनी प्रेम-साधना का विषय बनाने के लिए अपने भगवान् को श्रृंगारिक नायक का रूप दिया और स्वय स्त्री रूप से 'राम की बहुरिया' बनकर अपने उपास्य के प्रति विरह-निवेदन किया है। इन गीतों में श्रृंगारिकता आवरण-मात्र है और वह आवरण भी उनका 'झीनी-बीनी चदरिया' की भाँति पारदर्शी है, फिर भी गीत के आवरण ने निर्गुण में भी थोड़ा आकर्षण भर दिया है—

'बालम आओ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोई कहै तुमारी नारी मोको यह संदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसे नेह रे॥
अन्न न भावे नींद न आवे गृह बन धरे न धीर रे।
ज्यों कामी को कामिनि प्यारी ज्यों प्यासों को नीर रे॥
है कोइ ऐसा पर-उपकारी पिय सों कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भए हैं बिन देखे जिउ जाय रे॥'

—कबीर-वचनावली (पृष्ठ २१०, २११)

'ज्यों कामी को कामिनि प्यारी' की उपमा को तुलसीदास जी ने भी अपनाया है। 'कामिहि नारि प्यारि जिमि, लोभिहि जिमि दाम।'

'अविनासी दुलहा कब मिलिहौ, भक्तन के रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेहा, रटत पियास पियास॥
मैं ठाढ़ी बिरहिन म र जोऊँ प्रियतम तुमरी आस॥
छोड़े गेह नेह लगि तुम सों, भई चरनन लवलीन।'

—कबीर-वचनावली (पृष्ठ २१२)

कबीर ने इस प्रकार के विरह-निवेदन के अतिरिक्त उपदेशात्मक वैराग्य के गीत भी लिखे हैं—

'या जग अन्धा, मैं केहि समझावों।
इक दुइ होय उन्हें समझावों, सबही धुलाना पेट के धंधा।
पानी कै घोड़ा पवन असवरवा, ढरक परै जस ओस कै बुंदा ॥'
—कबीर-वचनावली (पृष्ठ २१७)

ऐसे गीतों में लोक-हृदय के साथ सहज में सामञ्जस्य हो जाता है।

सूर—सगुण भक्तों के पदों और गीतों में रागात्मक तत्व की कुछ अधिक वास्तविकता के साथ स्थापना हुई है। ब्रज में स्वयं कोई गीत-परम्परा अवश्य रही होगी उसके उदाहरण में तानसेन के बैजू बावरे के एक गीत का आचार्य शुक्ल जी ने अपने सूरदास नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है—

'मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रस तानन सों सुध-बुध सब बिसराई ॥
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि आनन ॥
जीव-जन्तु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे हरे सबके प्रानन ॥'
बैजू बनवारी बंसी अधरि धरि बृन्दावन-चंद बस कीये सुनत ही कानन।'
—हिन्दी-साहित्य का इतिहास (पृष्ठ १४५)

इस स्थानीय परम्परा के अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवाहित की हुई जयदेव और विद्यापति की गीत-लहरी का प्रभाव भी सूर आदि अष्टछाप के कवियों पर अवश्य पड़ा। सूर के पदों में जयदेव के गीत-गोविन्द के पहले पद **'मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः'** का छायानुवाद भी मिलता है—

'गगन घहराई जुरी घटा कारी।
पवन झकझोर चपला चमक चहुँ ओर सुवन-तन चितै नँद डरत भारी।।
कह्यो वृषभानु की कुँवरि से बोलिकै राधिका कान्ह घर लिए जारी ॥

× × ×

अंग पुलकित भए, मदन तिन तन जए, सूर प्रभु स्याम स्यामाविहारी।
—सूरसागर ना० प्र० स० (दशम स्कन्ध १६८४)

किन्तु यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि ब्रजभाषा में सूर आदि के पदों में इस शैली का परमोच्च विकास दिखाई पड़ता है। तुलसी ने विनयपत्रिका और गीतावली में ब्रजभाषा के माध्यम को ग्रहण कर इस शैली को अपनाया। सूर, तुलसी के विनय के पदों में तो निजीपन की स्पष्ट झलक है किन्तु उनके लीला-सम्बन्धी पदों में भी गायकों का हृदय बोलता हुआ सुनाई पड़ता है। तुलसी कौशल्या के विरह-वर्णन में भी अपने दास-भाव को नहीं छिपा सके हैं—

'जननी निरखति बान धनुहियाँ ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियाँ ॥'
—गीतावली (अयोध्याकाण्ड—५२)

कवि विभिन्न पात्रों से तादात्म्य कर नाना रूपों में हृदय के अनुराग को उँडेल देता है। सूर कभी सखा बनकर श्रीकृष्ण की बाल-लीला में आनन्द लेते हैं तो कभी यशोदा के हृदय में बैठकर वात्सल्य-सुख का अनुभव करते हैं। सूर महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे, उनकी निम्नोल्लिखित भावनाओं से सूर ने तादात्म्य किया है—

"यच्च दुखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥"
—डाक्टर रामकुमार वर्मा के हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास (पृष्ठ ६००) से उद्धृत

सूर भी अपने पात्रों के साथ गाये और रोये हैं। यशोदा के सुख में वे सुखी हुए हैं और गोपियों के दुःख में उन्होंने स्वयं वियोग-दुःख का अनुभव किया है। सूरदास जी नीचे की पंक्तियों में यशोदा के सुख का आनन्दानुभव करते हैं—

'हरि अपनैं आँगन कछु गावत ।
तनक-तनक चरननि सौं नचत, मनहीं मनहिं रिझावत ।
बाँह उठाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत ॥
× × ×
'कबहूँ चितै प्रतिबिंब खंभ में लौनी लिये खवावत ॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत ॥
सूर श्याम के बालचरित नित नित ही देखत भावत।'
—सूरसागर ना० प्र० स० (पृष्ठ ३२०)

इसमें माता के साथ सूर भी सिहा उठे हैं। नीचे की पंक्तियों में सूर ने गोपियों के साथ रोने का आनन्द लिया है—

क—देखौ माई ! नयनन्ह सौं घन हारे ।
बिनु ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे ॥'
× × ×
सुमिरि सुमिरि गरजत निसिबासर अस्रु सलिल के धारे ।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै बिनु गिरवरधर प्यारे ॥'
—भ्रमरगीत-सार (पृष्ठ ११५, ११६)

ख—'बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं ।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ॥

बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं ।।

× × ×

सूरदास प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं ।।

—भ्रमरगीत-सार (पृष्ठ ३७)

कृष्ण-काव्य में माधुर्य-पक्ष के कारण गीत-काव्य का प्राधान्य रहा। रास-नृत्य-सम्बन्धी पदों में भाषा स्वयं थिरकती हुई दिखाई पड़ती है। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त और सम्प्रदायों के भक्तों ने सुन्दर पद लिखे। शब्द-माधुर्य के लिए हित हरिवंश जी के पद बड़े सुन्दर हैं—

'आज बन नीको रास बनायौ।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना-तट मोहन बेनु बजायौ ।।
कल कङ्कन किंकन नूपुर-धुनि, सुनि खग-मृग सचु पायौ।
जुवतनि-मंडल मध्य श्याम घन सारंग राग जमायौ।
ताल मृदंग, उपंग, मुरज, ढप मिलि रस-सिंधु बढ़ायौ ।।"

—ब्रजमाधुरी सार (पृष्ठ ६९) से उद्धृत

मीरा—जहाँ सूर आदि गोपियों से तादात्म्य कर उनके साथ रोये और गाये हैं वहाँ मीरा ने गिरधर गोपाल को स्वयं ही पति मानकर उनके प्रति आत्म-निवेदन किया है। उसमें निजीपन की पराकाष्ठा आ गई है। उसकी तन्मयता और उल्लास अतुलनीय है—

क—'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई ।।
छाँड़ि दई कुल की कानि, कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई।'

—मीरा गीतावली (पृष्ठ ३१)

ख—'मैं तो साँवरे के रँग राँची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू, लोक-लाज तजि नाची ।।'

× × ×

मीराँ श्री गिरधर लाल सूँ, भगति रसीली जाँची।

—मीरा गीतावली (पृष्ठ ३१)

मीरा का विरह-निवेदन देखिए—

ग—'हेरी मैं तो दरद दीवाणी मीरा दरद न जाणै कोइ।
घायल की गति घायल जाणै की जिन लाई होइ।

जौहर की गति जौहरी जाणें की जिन जौहर होइ।
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस विध होइ।'

आज वैयक्तिकता के प्राधान्य के कारण गीत-काव्य का चलन बढ़ गया है। यह युग प्रबन्ध काव्य का नहीं है। आधुनिक लोगों में वह भावना नहीं रही है कि अपने चरित-नायक के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व मिला सकें। न वर्तमान युग ने रामकृष्ण जैसे लोकोत्तर आकर्षण के व्यक्ति ही उत्पन्न किये हैं। अभी महात्मा गांधी भी अत्यधिक निकट हैं। सम्भव है कि समय उनके उदार चरितों को अवतारी पुरुषों-की-सी स्वर्णिम आभा प्रदान करदे किन्तु इस युग का बुद्धिवाद और स्वातन्त्र्यवाद वीर-पूजा के कुछ विरुद्ध है वस्तुतः महाकाव्य में नायकत्व किसी धीरोदात्त, उच्चकुलोद्भव व्यक्ति को ही दिया जाए यह आवश्यक नहीं। आज के यथार्थवादी युग में वर्ग-विषमता के परिहार के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि महाकाव्य का नायकत्व रामकृष्ण और गांधी से हटाकर गोदान के 'होरी' के समीप आ जाए। उपन्यास के सामान्य नाटक के समान ही महाकाव्य का नायक भी एक सामान्य व्यक्ति हो सकता है किन्तु उसके चरित्र में कर्म-सौन्दर्य के स्पष्ट दर्शन हों। ख्यात चरित्रनायक इसीलिए रखा गया कि उसमें हृदय का साधारणीकरण सहज में हो जाता है। वह काव्य की प्रेषणीयता के लिए आवश्यक है (अभी हाल में श्री अग्रदूत जी का 'महामानव' नाम का एक छोटा-सा महाकाव्य निकला है) इसलिए आजकल के युग की आत्मा प्रबन्ध-काव्य के विरुद्ध दिखाई पड़ती है। पुराने विषयों में नयी समस्याओं का समावेश कर 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' जैसे महा-काव्य लिखे गये हैं किन्तु उनमें भी प्रगीतत्व पर्याप्त मात्रा में है और चरित-नायक इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

वर्तमान युग सामान्य परिचय

हरिश्चन्द्र-गुप्त

हरिश्चन्द्र—वर्तमान युग का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। भारतेन्दु जी के गीत-काव्य में दो धाराएँ स्पष्ट हैं। एक तो विद्यापति, चण्डीदास, सूर, तुलसी, मीरा द्वारा प्रतिष्ठित परम्परा की प्राचीन शैली की जिसके अंग-प्रत्यंग में उनके निजी आत्म-निवेदन की मधुरिमा झलक रही है। ऐसे पद स्फुट भी हैं और कुछ चन्द्रावली नाटिका में मिलते हैं, देखिए—

'पिय तोहि कैसे हिये राखौं छिपाय ?
सुन्दर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय ॥
नैनन में पुतरी करि करि राखौं पलकन ओट दुराय।
हियरे में मनहूँ के अंतर कैसे लेउँ लुकाय ॥

× × ×

'हरीचन्द' जीवन धन मेरे छिपत न क्यों इत धाय ।।'

—चन्द्रावली (अंक ४)

भारतेन्दु जी का भक्ति-सम्बन्धी एक गीत लीजिये—

'जा तन मन में रमि रहे तहाँ ग्यान क्यों आवे ।।'

× × ×

दूसरी शैली के वे राष्ट्रीय गीत हैं जिनमें उनके हृदय की करुणा का स्रोत उमड़ आया है। इनमें करुणा के उच्च स्वर में माधुर्य दब-सा गया है। इनमें कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का पुट कुछ अधिक है—

'आवहु रोवहु सब मिलि भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।'

श्रीधर पाठक—भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के संधिकाल के प्रमुख गायक पं० श्रीधर पाठक हैं। उनके भारत-स्तवन-सम्बन्धी गीत बड़े मधुर हैं। इस काल के गीत-काव्य-लेखकों का दृष्टिकोण बाहरी अधिक रहा। भारतेन्दु में भक्ति-युग के संस्कार बहुत प्रबल थे, वे धीरे-धीरे कम हो चले। उनके द्वारा बोया राष्ट्रीयता का बीज पल्लवित हो चला था। पण्डित श्रीधर पाठक द्वारा लिखे हुए भारत-स्तवन-सम्बन्धी दो गीतों के यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं। नीचे के गीत में उन्होंने गोस्वामी जी द्वारा किये राम-स्तवन का अनुकरण किया है—

'सुख-धाम, अति-अभिराम, गुननिधि नौमि प्रिय भारतम्।
सुठि सकल जग संसेव्य सुभ थल सकल जग सेवारतम् ।।
सुचि सुजन सुफल सुसस्य संकुल सकल भुवि-अभिवन्दितम्।
नित नवल सुरति सुदृश्य सुठि छबि अबलि अवनि अनंदितम् ।।'

—नौमि भारतम्

एक राष्ट्रीय गीत का और एक अंश लीजिए—

'जय जय शुभ्र हिमालय शृङ्गा
कलरव निरत कलोलिम गंगा
भानुताप चमत्कृत अंगा
तेजपुंज तपवेश
जय जय भारत प्यारा देश।'

—भारत गीत

द्विवेदी-युग

मैथिलीशरण गुप्त—द्विवेदी-युग के काव्य में राष्ट्रीयता का कुछ विशेष विकास

हुआ और वह चरित्र-निर्माण तथा इतिवृत्तात्मकता की ओर अधिक अग्रसर हुआ। उस समय के गीत-काव्य में प्राचीन गौरव-गाथा-गान हुआ, साथ ही सामाजिक व्यङ्ग्यात्मक गीत और कुछ ईश्वर-भक्ति-प्रधान-गीत लिखे गये किन्तु उसमें रसिकता और तन्मयता की अपेक्षाकृत कमी रही। अधिकांश में आर्य-समाज की बौद्धिक एवं सुधारक प्रवृत्ति से अधिक प्रभावित रहे। पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा ऐसे गीतों में भी कुछ रसिकता का पुट दे सके थे। राष्ट्रीयता ने जो प्राचीन गौरव की भावना को प्रोत्साहन दिया था उसके कारण भी उस समय के गीतों में भक्ति और भावुकता का पुट आ गया। गुप्त जी की 'भारत-भारती' इसका सबसे अच्छा नमूना है—

> **'भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य-लीला-स्थल कहाँ ?**
> **फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा-जल जहाँ।**
> **सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?**
> **उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।'**

—अतीतखण्ड (छंन्द १५)

गुप्त जी ने यद्यपि द्विवेदी-युग में लिखना शुरू किया था तथापि वे आज भी समय के साथ कदम मिलाये हुए चल रहे हैं। उनकी 'झङ्कार' में रहस्यवादी गीतों के दर्शन होते हैं। गुप्त जी के 'साकेत' और 'यशोधरा' नाम की प्रबन्धात्मक रचनाओं में भी गीत मिलते हैं। 'साकेत' में दोनों प्रकार के गीत पाये जाते हैं। सीता की संतोषमयी प्रसन्नता के भी गीत और उर्मिला के हृदय की वियोग-वेदना से प्रसूत विरह-गीत। 'यशोधरा' के गीत नारी-गौरव से पूर्ण हैं। चारों प्रकार के गीतों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

रहस्यात्मक शुद्ध मुक्तक गीत का एक नमूना लीजिए—

> **क—'तेरे घर के द्वार बहुत हैं किस में होकर आऊँ मैं।**
> **सब द्वारों पर भीड़ मची है कैसे भीतर जाऊँ मैं॥'**

—झंकार (पृष्ठ १०९)

> **ख—'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया।**
> **मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया॥'**

—साकेत (पृष्ठ ५७)

> **ग—'शिशिर, न फिर गिरि-वन में,**
> **जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में,**
> **कितना कम्पन तुझे चाहिए; ले मेरे इस तन में।'**

—साकेत (पृष्ठ २२४)

घ—'सखि वे मुझ से कह कर जाते,
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?'

—यशोधरा

प्रसाद-पंत-निराला-युग

गीत-काव्य में अत्याधुनिक युग के अंग्रेजी 'लिरिक' के सब गुण मिलते हैं। वे कविताएँ आकार में छोटी हैं और एक-एक हृदयोच्छ्वास के रूप में कोमलता एवं मधुरता से मण्डित, निजीपन से परिपूर्ण तथा नवीन लाक्षणिकता, सौन्दर्य-सुषमा और नवीन भावनाओं से ओत-प्रोत हमारे सामने आती हैं। इस युग को किसी अंश में स्वातन्त्र्य-युग भी कह सकते हैं। इसमें छन्द के बन्धन टूट गये और सायर, सिंह और सपूतों की भाँति हमारे कवियों ने भी पीटी हुई लकीरों से हटकर चलना सीखा। उन्होंने अपना नया मार्ग प्रशस्त किया। यह मार्ग सुमन-सौरभमय है।

सामान्य परिचय

द्विवेदी युग में उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता रही। उसमें आर्य-समाजी प्रभाव का कुछ अक्खड़पन भी था और साथ ही खड़ी बोली का खड़ापन ही अधिक सामने आया। शृङ्गार भी वर्ज्य-सा रहा। यह रीतिकालीन अत्यधिक शृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया थी। छायावाद में द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रीयता हृदय की कोमल भावनाओं को न दबा सकी और शृङ्गारिक भावनाएँ एक उन्नत रूप में प्रकाश में आईं। शृङ्गार का मानसिक पक्ष प्रबल हुआ और उसकी सारभूता कोमलता ने साहित्यिक वातावरण को व्याप्त कर दिया। वह कोमलता हमारे कवियों को बाहर की अपेक्षा भीतर अधिक मिली। मानवी व्यापारों में संघर्ष, कटुता और विफलता दिखाई दी। सरकार साम्राज्यवाद की रूढ़ियों में ग्रस्त थी और समाज धार्मिक रूढ़ियों का शिकार बना हुआ था। बेचारे नवयुवकों को दोनों ओर से निराशा का सामना करना पड़ा। उनके केवल दो शरण-स्थल थे—प्राकृतिक सौन्दर्य और चराचर में व्याप्त परम सत्ता जो साम्प्रदायिकता की संकुचित रूढ़ियों से परे थी। सरकार और समाज से तिरस्कृत होने के कारण उनकी वैयक्तिकता उभार में आई और स्वातन्त्र्य-भावना जाग्रत हुई। जहाँ कबीर के प्रेमास्पद विश्वात्मा के प्रतीक राम थे वहाँ आधुनिक रहस्यवाद में उसका कोई विशेष नाम नहीं दिया गया है किन्तु वह निर्गुण ही है। कबीर का रहस्यवाद हठयोग की साधना से मिश्रित है। आजकल के रहस्यवाद में केवल मानसिक आत्मसमर्पण है। वह इतना अनुभूति-प्रधान भी नहीं है और न उसमें कबीर अथवा मीरा-की-सी दृढ़ता है। आधुनिक रहस्यवाद में जिज्ञासा और कल्पना अधिक है। उनके

छायावाद और रहस्यवाद

भावोद्‌गार गीत लहरी में बह उठे और छायावाद तथा रहस्यवाद के गीतों की सृष्टि हुई। जीवन की बाहरी शुष्कता के अन्तस्तल में बसने वाली सौन्दर्य-सुषमा को बाहर लाकर उसको एक सरस मधुरावेगनमयी कोमल-कान्त पदावली में अभिव्यक्त करने की ओर हमारे नवयुवक कवि अग्रसर हुए।

छायावादी तथा रहस्यवादी दोनों प्रकार के गीतों में स्थूल दृश्य की उपेक्षा है। बहिर्मुखी की अपेक्षा वे अन्तर्मुखी अधिक होते हैं। इन गीतों में वाह्य प्रकृति का चित्रण भी आन्तरिक रूप से ही होता है। प्रकृति का एक विशेष मानवीकरण कर उसको मानवी भावों से अनुप्राणित देखा जाता है। इनमें वस्तु को कटी-छटी सीमाओं में न देखकर उसका वायवीकरण (Etherealization) कर दिया जाता है। झरना पानी का प्रवाह-मात्र नहीं रहता है वरन् गहरी बात कहता सुनाई पड़ता है और किरण भौतिक आलोक रेखा न रहकर विकल विश्व-वेदना की दूती बन जाती है। यह प्रकृति और मानव का एकीकरण भारतीय एकात्मवाद की भावना पर आश्रित है। प्रकृति पुरुष का विराट् शरीर है तथा पुरुष प्रकृति की आत्मा। मनुष्य का शरीर प्रकृति का ही अंश है और उसकी आत्मा का व्यापक विश्वात्मा से सम्बन्ध है। कविवर पंत की 'नित्य जग' नाम की कविता में यह भावना काफी स्पष्ट है—

> 'एक ही तो असीम उल्लास
> विश्व में पाता विविधाभास;
> तरल जलनिधि में हरित विलास,
> शान्त अम्बर में नील विकास।
> वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास
> काव्य में रस, कुसुमों में वास;
> अचल तारक पलकों में हास,
> लोल लहरों में लास!'

—आधुनिक कवि—पंत (पृष्ठ ३६)

इसी नाते भारतीय कवि मनुष्य और प्रकृति में आदान-प्रदान मानता आया है। पहले महायुद्ध के बाद भी भौतिकवादी सभ्यता के दिवालियापन ने शिक्षित समुदाय का नेत्रोन्मीलन कर दिया था। लोग आध्यात्म की ओर झुक चले थे। छायावाद की वही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति रहस्यवाद में और गहरी तथा मुखरित हो जाती है। प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेषता है और उसके मूर्त की अमूर्त से तुलना करने वाले अलङ्कार-विधान में, जैसे 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' लहरों के लिए 'इच्छाओं-सी असमान' तथा मानवीकरणप्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनु-

भूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्य में परिणत हो जाता है। यह रहस्यवाद की प्रवृत्ति इस युग की ही देन नहीं है वरन् कबीर, जायसी आदि में इसका बाहुल्य था। रहस्यवाद शब्द में कुछ शृङ्गारिक रूपक और कुछ नश्वर और अनश्वर के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति-विषयक अस्पष्टता और अनिर्वचनीयता की ओर संकेत रहता है।

रहस्यवाद के प्रकार रहस्यवाद कई प्रकार का होता है, उनमें नीचे के प्रकार मुख्य हैं—

(क) *ज्ञान और दार्शनिकता-प्रधान रहस्यवाद*—जैसे कबीर, दादू, प्रसाद, निराला आदि का। कबीर, दादू आदि में अनुभूति की मात्रा कुछ अधिक थी, दर्शन में कोरा तर्क रहता है और दार्शनिक रहस्यवाद में तर्क कम किन्तु आश्चर्यमयी जिज्ञासा और ऐक्य की अभिलाषामयी भावुकता अधिक रहती है।

(ख) *दाम्पत्य प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवाद*—जैसा कबीर और मीरा का। कबीर का आलङ्कारिक था और मीरा का वास्तविक और निजी किन्तु कबीर में अनुभूति का अभाव न था।

(ग) *साधनात्मक रहस्यवाद*—इसमें योग और कर्मकाण्ड की साधना का प्राधान्य रहता है, जैसे गोरख, कबीर आदि का और कुछ प्राचीन तान्त्रिकों, महायानी बौद्धों और शाक्तों का।

(घ) *भक्ति और उपासना-सम्बन्धी रहस्यवाद*—जैसे सूर-तुलसी का। इस प्रकार के रहस्यवाद में अद्वैत की अपेक्षा सान्निद्ध्य-सुख को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यद्यपि शुक्ल जी ने तुलसी में रहस्यवाद नहीं माना है और उनमें व्यक्त ईश्वर की भक्ति की स्पष्टता अधिक बतलाई गई है फिर भी व्यक्त ईश्वर या अवतार भी पूरा ज्ञेय नहीं होता है और उसके सम्बन्ध-सुख की अनिर्वचनीयता रहती है। कृष्ण-भक्तों में तो यह रहस्य-भावना, सखी-भावना और दाम्पत्य-भावना का रूप धारण कर लेती है।

(ङ) *प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद*—इसमें प्रकृति द्वारा परमात्मा की अनुभूति की जाती है। इस प्रकार के रहस्यवाद और छायावाद में बड़ा सूक्ष्म अन्तर रह जाता है; उसको यहाँ व्यक्त कर देना आवश्यक है।

प्रकृति के सम्बन्ध में छायावाद और प्राकृतिक रहस्यवाद दोनों का ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण है किन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। छायावाद में व्यक्ति की भावना अधिक रहती है। वह उसको व्यक्ति का रूप देना चाहता है किन्तु प्राकृतिक रहस्यवाद प्रकृति को समष्टि रूप में लेकर उसके दर्पण द्वारा अपने प्रियतम की छाया देखता है। प्राकृतिक रहस्यवाद प्रकृति के अवगुण्ठन में छिपी हुई सत्ता को झाँककर देखना चाहता है। उसमें एक विशेष विराट् भावना रहती है और छायावाद में सौन्दर्य की भावना का प्राधान्य रहता

है। दोनों में एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि रहती है। छायावाद में अन्तर्दृष्टि के रहते हुए भी आरोप की भावना रहती है। प्रकृति स्वयं ही व्यक्ति बनाई जाती है और उसमें मानवी भाव देखे-से जाते हैं। प्राकृतिक रहस्यवाद में उसके द्वारा व्यक्त किये हुए परम पुरुष के दर्शन की चेष्टा रहती है। छायावाद में कल्पना का प्राधान्य होता है और प्राकृतिक रहस्यवाद में भावना और अनुभूति का आधिक्य रहता है।

आचार्य शुक्ल जी ने रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष माना है। शुद्ध छायावाद में शैलीगत विशेषताओं पर अधिक बल रहा और उस शैली में लिखे हुए रहस्यवाद के बाहर के विषय भी आ जाते हैं। शुक्ल जी छायावाद का सम्बन्ध अंग्रेजी शब्द 'Phantasmata' अर्थात् छायाभास से मानते हैं। प्रसाद जी ने इसका सम्बन्ध मोती में रहने वाली तरलता से जिसे संस्कृत की पारिभाषिक शब्दावली में 'छाया' कहते हैं और साधारण भाषा में 'आब' कहते हैं, जोड़ा है। वे लिखते हैं—

विभिन्न मत

'मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अङ्ग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था।'

—काव्यकला और निबन्ध (पृष्ठ १२४)

अन्त में वे इसका सम्बन्ध वक्रोक्ति और ध्वनि से स्थापित कर उसको प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत ले आते हैं।

अग्नि पुराण में 'छाया' का प्रयोग शोभा के अर्थ में हुआ है—

'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसोंगुणः'—(३४६।३)

अर्थात् जो काव्य में अत्यधिक छाया व शोभा को उपकृत करता है अर्थात् लाभ पहुँचाता है वह गुण है।

प्रसाद जी के साथ यह मानते हुए भी कि यह प्रवृत्ति भारत के लिए नयी नहीं हमको यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि इसका सूत्रपात स्वतन्त्र रूप से गुप्त जी मुकुटधर पाण्डेय की कविताओं से हो गया था तथापि इसको विशेष सम्बल अंग्रेजी और बँगला से मिला किन्तु उसने उस सम्बल और सामग्री को भारतीय रूप दे दिया है।

रहस्यवाद को महादेवी जी ने भी छायावाद की दूसरी मंजिल माना है। छायावाद में कवि सौन्दर्य का केवल रसास्वादक के रूप में रहता है। रहस्यवाद में आत्म निवेदन की भावना भी आ जाती है। इसकी परम्परा बहुत प्राचीन है। उपनिषदों में जीव और परमात्मा के सम्बन्ध में दाम्पत्य भाव का आरोप हुआ है। छायावाद और रहस्यवाद की चाहे जो कुछ उत्पत्ति हो उनमें भावना का प्राधान्य होने के कारण वे गीत-काव्य के उपयुक्त विषय हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा रहस्यवाद के गीतों का इस प्रकार विश्लेषण

करती हैं—

'आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया-मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भावसूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।'

—सान्ध्य-गीत की भूमिका (पृष्ठ ४)

एक आक्षेप

छायावाद और रहस्यवाद में संघर्षमय संसार से हटकर किसी सुरभित सौन्दर्य-लोक में बैठकर देखने की सुख-स्वप्न-पलायनवादी प्रवृत्ति है, जैसे—

'ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों से गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे'

—लहर (पृष्ठ १०)

छायावाद में यह प्रवृत्ति अवश्य है किन्तु यह एक आवश्यक विश्राम के रूप में आती है। जिन कवियों में यह सौन्दर्यानुशीलन चिर विश्राम नहीं बन जाता है वहाँ यह जीवन के संघर्ष के लिए तैयारी का काम देता है। छायावाद की सौन्दर्यानुभूति जीवन को सरसता प्रदान कर जीवन-योग्य बनाती है। इसके अतिरिक्त छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतलाकर एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं। एकात्मवाद मानव-जीवन के विभिन्न स्तरों में एक ही सत्ता की व्यापकता दिखाकर परोपकार के लिए एक दृढ़ आधार-भूमि उपस्थित कर देता है। केवल भौतिकवाद की भूमि में साम्यवाद और परोपकार की भावनाएँ नहीं पनप सकतीं। यही छायावाद का लोकपक्ष है किन्तु वह दुन्दुभी-नाद के साथ घोषित नहीं किया गया है वरन् व्यञ्जित रक्खा गया है। निराला जी की 'विधवा' (मेरा मतलब निराला जी लिखित 'विधवा' शीर्षक कविता से है) और उनके 'भिक्षुक' में पर्याप्त करुणा है। ऐसी कविताएँ इस बात का ज्वलन्त प्रमाण हैं कि छायावाद में दलितों की उपेक्षा नहीं की गई है। छायावाद की अभिव्यक्ति का अपना ढंग है। वह उपदेशात्मक नहीं है वरन् व्यंजनात्मक है। निराला जी स्वयं लिखते हैं *'सूक्तियाँ-उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं; प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमज़ोरी मानता हूँ।'* छायावाद की

कविता से जो चित्त को विश्राम मिलता है उसका भी मूल्य कम नहीं है।

छायावाद जीवन-संग्राम में प्रवृत्ति के प्रति उदासीन नहीं है। स्वयं प्रसाद जी में जीवन-संग्राम में प्रवेश करने का उद्बोधन मिलता है। देखिये—

'अब जागो जीवन के प्रभात !
रजनी की लाज समेटो तो,
कलरव से उठकर भेटो तो,
अरुणांचल में चल रही बात !
जागो अब जीवन के प्रभात !'

—लहर (पृष्ठ २२)

कामायनी में भी श्रद्धा मनु को प्रवृत्ति की ही ओर ले जाती है और नैराश्य और अकमर्ण्यता की निन्दा करती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि छायावाद ने बुद्धिवाद की अपेक्षा भावुकता को अधिक स्थान दिया है। वह भावुकता कर्म को भी गति देती है। छायावाद ने वासना के कर्दम से विनिर्मुक्त सौन्दर्य का शुद्ध निर्मल मानसमय रूप दिया और उसी के साथ हमारा ध्यान विश्व में व्याप्त एक चेतनात्मक सत्ता की ओर आकर्षित किया। इसके अतिरिक्त भाषा को नये अलङ्कार और नई शैली देकर उसका परिमार्जन किया और खड़ी बोली की रूक्षता और शुष्कता दूर कर अपने गीतों द्वारा साहित्य, संगीत और कला का सुन्दर समन्वय किया।

वर्गीकरण

छायावाद रहस्यवाद के कोमल स्निग्ध वातावरण में अनेकों गीतों की सृष्टि हुई है। उनकी मूल विषयगत प्रवृत्तियों के आधार पर उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—*प्रकृति-सम्बन्धी-गीत*—छायावाद ने प्रकृति को नये दृष्टिकोण से देखा है। उसमें मानवी श्रृङ्गार और हर्ष, विषाद, प्रेम, करुणा आदि मानवी भावों एवं उनसे प्रेरित, अश्रु, पुलक, हास, नर्तन आदि अनुभावों का आरोप किया है। इसमें कुछ प्राकृतिक रहस्यवाद के भी गीत सम्मिलित हैं।

२—*जीवन-मीमांसा-सम्बन्धी गीत*—छायावाद-रहस्यवाद में भावुकता का आधिक्य होते हुए भी बुद्धि-तत्व का अभाव नहीं है। इसमें जीवन के आदर्शों तथा आशा निराशा एवं सुख-दुःख की मीमांसा के गीत गाये गये हैं।

३—*आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत*—इस प्रकार के गीत रहस्यवाद की विशेष सम्पत्ति हैं। आजकल के लोगों ने भी परात्पर-सत्ता के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कर अथवा उसकी कल्पना कर उसके साथ मिलन के सुख और विरह की वेदना के गीत गाये हैं। इनमें विरह-गीत अधिक हैं।

४—गांधीवाद से प्रभावित राष्ट्रीय गीत—छायावाद में राष्ट्रीयता का अभाव नहीं है किन्तु उसकी राष्ट्रीयता एक कोमल प्रकार की है। उसमें आदर्शों और उदात्त भावनाओं का प्राचुर्य है। उसमें करुणा है किन्तु संघर्ष और विद्रोह नहीं। उस पर गाँधीवाद का अधिक प्रभाव है।

५—लौकिक प्रेम-गीत—छायावाद ने प्रेम और शृङ्गार का बहिष्कार नहीं किया है वरन् उसका परिमार्जन किया है। वे लोग उसके मानसिक पक्ष को अधिक उभार में लाये हैं। उसके सौन्दर्य-वर्णन में स्थूलता नहीं वरन् एक वायवी दिव्यता है और प्रेम आक्रमण के रूप में न रहकर आत्म-निवेदन का रूप धारण कर लेता है। छायावादी प्रेम-गीतों के अन्तस्तल में चाहे शारीरिकता हो किन्तु उस पर एक भव्यता और दिव्यता का आवरण रहता है।

प्रकृति-चित्रण—अब छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर्गत एक-एक प्रवृत्ति के कुछ प्रमुख कवियों से उदाहरण देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे।

कविवर प्रसाद जी द्वारा अङ्कित प्रातः-श्री का एक मनोहर चित्र उपस्थित है। इसमें उषा-नागरी और लतिका का मानवीकरण करके उन्हें जल भरती हुई नायिकाओं के रूप में दिखाया गया है—

'बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल नवल रस गागरी।'

—लहर (पृष्ठ १६)

प्रसाद जी की 'लहर' शीर्षक कविता में छायावादी प्रवृत्तियों का अच्छा अध्ययन किया जा सकता है, देखिये—

'उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर!
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परिछाई-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
शीतल कोमल चिर कम्पन-सी
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,

तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल-खेल ले ठहर-ठहर !
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद-चिन्ह बना जाती,
सिकता में रेखाएँ उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर !
तू भूल न री, पंकज बन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक !
आ चूम पुलिन के विरस अधर !'

—लहर (पृष्ठ १ और २)

इसमें जीवन के सूनेपन और विरसता की करुणापूर्ण कसक छिपी हुई है जिसको वह करुणा की अँगड़ाई जैसी मधुमय स्मृतियों की सूक्ष्म मानसिक लहरों से सरस बनाना चाहता है। इसमें जड़-चेतन का एक अपूर्व मिश्रण है और इसकी भाषा लाक्षणिकता से पूर्ण है। मूर्त लहर का उपमान बनाया है करुणा को और उसकी अँगड़ाई का लाक्षणिकता द्वारा एक सूक्ष्म पर मूर्त चित्र बना दिया गया है। 'नव' शब्द से उसके उसी समय जाग्रत होने और अस्तित्व में आने का भाव है। मलयानिल की परछाई में स्थूल लहर को अत्यन्त सूक्ष्म बना दिया गया है। मलयानिल वैसे ही सूक्ष्म है, उसकी परछाई और भी सूक्ष्म हुई। इसमें छायावादी वायवीकरण शाब्दिक अर्थ में भी चरितार्थ होता है। **'दुर्ललित हठीले बचपन-सी'** में भाषा की चित्रोपमता दिखाई देती है, मचलते हुए बालक का चित्र सामने आ जाता है। लहर की तरलता सिकता में भी संक्रमित हो जाती है। 'पंकज-बन' सम्पन्नता, समृद्धि और हास-विलास का प्रतीक है जो कवि से दूर हो गया है। **'पुलिन का विरस अधर'** कवि की वर्तमान दशा का परिचायक है। लहर प्रेम की लहर हो सकती है जो स्वयं प्यार और पुलक से भरी हुई है और कवि में भी पुलक का सञ्चार कर देगी।

अब कविवर निराला जी की सन्ध्या-सुन्दरी का शान्त, स्तब्ध और स्वर्णिम आभामय चित्र देखिये—

'दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे !
तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,

मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुंघराले काले-काले बालों से.
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।'

—अपरा (पृष्ठ १३)

इस कविता में छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल अन्तरिक्ष में घुल जाने वाली रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। इसका संगीत भी ऐसा ही है मानो धीरे-धीरे उतार हो रहा हो। निराला जी ने अपनी कला की व्याख्या में लिखा है कि उन्होंने ब्रजभाषा की स, म, व, ल वाली प्रकृति को अपनाया है। संस्कृत की श, ण, व, की प्रवृत्ति को कालिदास तो अच्छी तरह निभा सके हैं। पन्त जी ने भी उसको अपनाने का प्रयत्न किया है किन्तु वे स्वयं ब्रजभाषा को 'स' 'ब'—प्रधान कोमलता के पक्ष में ही हैं। उन्होंने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का उदाहरण देते हुए दिखलाया है कि वे साकार को ही मुख्यता देकर कोमलता और सरसता ला सके हैं, देखिये—

'धीर-समीरे यमुनातीरे बसति बने बनमाली'

किन्तु निराला जी भी 'स' का निर्वाह सब जगह नहीं कर सके हैं।

निराला जी के प्रकृति-सम्बन्धी गीतों में रूपक छिपा रहता है। प्राकृतिक दृश्यों में नायिका का रूप उतर आता है—

'सखि, बसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।'

× ×

'आवृत सरसी-उर सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छूटे,
स्वर्ण शस्य-अञ्चल
पृथ्वी का लहराया।'

—अपरा (पृष्ठ १६)

इस गीत में यद्यपि 'स' और 'ब' आये हैं तथापि अनुप्रास के कारण कुछ मधुरता आ गई है। इसमें लतिका और सरसी दोनों में नारी-सौन्दर्य की व्यञ्जना है। विद्यापति में भी वसन्त का सुन्दर मानवीकरण मिलता है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त तो प्रकृति के ही कवि हैं। उन्होंने स्फुट रूप से तथा 'ज्योत्स्ना' में भी अनेक प्रकृति-सम्बन्धी गीत लिखे हैं। इन गीतों में प्राकृतिक सौन्दर्य के

प्रति एक निजी उल्लास परिलक्षित होता है। वे प्रकृति से ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उससे आदान-प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं—

'विजन बन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान।
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि, सजल मेरा सोने-सा गान॥'

प्राकृतिक दृश्य द्वारा वे निराकार-साकार की दार्शनिक गुत्थियों को भी सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, देखिए—

'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहङ्गिनि! पाया तूने यह गाना?
× × ×
निराकार तम मानो सहसा ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में धर कर नाम-रूप नाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, जगी सुरभि, डोले मधुबाला।
स्पन्दन, कम्पन औ' नवजीवन सीखा जग ने अपनाना।'

—आधुनिक कवि (पंत, पृष्ठ ३४)

इसमें प्रातःकाल के होते ही जितने क्रिया-कलाप का संचार होने लगता है उसका एक साथ प्रस्फुटन-सा हो जाता है और मन में एक नये जीवन और उल्लास की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। इस गीत की प्रथम दो पंक्तियों में चिड़ियों की सहज वृत्तियों के प्रति एक रहस्यमय कौतूहल भी है। इस कौतूहल की शान्ति जगत के आध्यात्मिक आधार से होती है।

पन्त जी ने अपने 'ज्योत्स्ना' नाम के नाटक में भी सुन्दर गीत लिखे हैं। नीचे एक लहरों का गीत दिया जाता है जिसमें लहरों की आत्म-कथा बहुत-कुछ मनुष्य के जीवन-मरण और पुनर्जन्म से समता रखती है। ऐसा साम्य विश्व में एकसूत्रता का भाव उत्पन्न करता है—

'अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल!
चिर जन्म-मरण को हँस-हँस कर
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठ कर
फिर-फिर असीम से हो ओझल।'

—ज्योत्स्ना (पृष्ठ १२९)

महादेवी जी ने प्रकृति का मानवीकरण कर सुन्दर छायावादी गीत लिखे हैं। उनका 'आ बसन्त रजनी' वाला गीत बहुत प्रसिद्धि पा चुका है।

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ बसन्त-रजनी
तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अविराम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकती आ बसन्त-रजनी !'

—आधुनिक कवि (महादेवी वर्मा, पृष्ठ ४६)

श्रीमती महादेवी वर्मा का विराट-भावना से प्रेरित एक प्रकृति-सम्बन्धी गीत यहाँ उद्धृत किया जाता है। इसमें परमात्मा को प्रकृति-नटी के रूप में देखा गया है और प्राकृतिक विभूतियों से उनका श्रृङ्गार किया गया है। इसमें छायावाद की अपेक्षा रहस्यवाद अधिक है—

'लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर !
आलोक-तिमिर सित-असित चीर,
सागर-गर्जन रुन-झुन मँजीर,
उड़ता झंझा में अलक जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणस्वर !
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर !
रवि-शशि तेरे अवतंस लोल,
सीमन्त-जटित तारक अमोल;
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र-धनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर।
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर।'

—यामा (पृष्ठ १८५)

प्रसाद और महादेवी जैसे रहस्यवादी कवियों के लिए प्रकृति के कण-कण में दैवी सत्ता की झलक मिलती है और वह सजीव हो उठती है। प्रकृति में आध्यात्मिक सत्ता का आभास पाने पर ही उसमें मानवी भावों का आरोप सम्भव होता है। महादेवी जी इस आध्यात्मिक आधार के सम्बन्ध में अपने 'सान्ध्य-गीत' की भूमिका में लिखती हैं—

'प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलायें, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चञ्चलता-निश्चलता और मोहज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता

में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।'

—सान्ध्य-गीत-भूमिका (पृष्ठ ३)

जीवन-मीमांसा-सम्बन्धी गीत—हमारे रहस्यवादी कवियों में यह जीवन-मीमांसा एकात्मवाद की दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित है। इसमें सुख-दुःख दोनों ही परमात्मा की देन के रूप में प्रसन्नता से अपनाये जाते हैं। देखिए महादेवी जी क्या कहती हैं—

'सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी!
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी!
किसको त्यागूँ किसको माँगूँ
हैं एक मुझे मधुमय, विषमय;
× ×
प्रिय के संदेशों के वाहक,
मैं सुख-दुःख भेंटूंगी भुजभर,
मेरी लघु पलकों में छलकी,
इस कण-कण में ममता बिखरी!'

—सान्ध्य-गीत (पृष्ठ ७७)

रवि बाबू ने भी भगवान् के आभूषणों की अपेक्षा उनके खड्ग को और भी मनोहर कहा है, देखिए—

'सुन्दर बटे तव अङ्गदखानि
ताराय ताराय खचित,
स्वर्ण रत्ने शोभन लोभन जानि
वर्णे वर्णे रचित।
खड्ग तोमार आरो मनोहर लागे
बाँका विद्युते आँका से'

—गीतांजलि (गीत ५६)

पन्त जी जितने भावुक हैं उतने ही वे दार्शनिक भी हैं जैसा कि निम्नोद्धृत छन्दों से स्पष्ट हो जायगा। उन्होंने (१) में सुख-दुःख का संतुलन चाहा है, (२) में वह जीवन से विराम नहीं चाहते हैं और (३) उन्होंने बन्धन में ही मुक्ति के दर्शन किये हैं। उनकी भावनाएँ क्रमशः नीचे के छन्दों में दी जाती हैं—

(१) 'जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से

मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुःख से'

—आधुनिक कवि (पंत, पृष्ठ ४८)

(२) 'जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे भाविक।
अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य चिरन्तन।
सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

× ×

सुन्दर से अति सुन्दरतर,
सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन।'

—पल्लविनी (पृष्ठ १९३)

(३) 'तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व वेदना में तप प्रतिपल,
जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन

× ×

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिमान् बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !'

—आधुनिक कवि (पंत, पृष्ठ ५१)

वैसे तो यह प्रवृत्ति का युग है किन्तु आधुनिक साहित्य में रवि बाबू ने बन्धन में मुक्ति वाली भावना को अग्रसर किया था। यह बात श्रीमद्भागवद्गीता के निष्काम कर्म द्वारा ही सम्पादित हो सकती है। रवि बाबू की उक्ति देखिए—

'वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय !
असंख्य वन्धनमाझे महानन्दमय !
लभिव मुक्तिर स्वाद ।'

—गीतांजलि (गीत ७३)

आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत—प्राचीन रहस्यवादियों की भाँति आधुनिक रहस्यवादियों ने विरह-मिलन के गीत लिखे हैं, उनमें मिलन की अपेक्षा विरह के गीत अधिक हैं। यह कहना तो कठिन है कि यह विरह कहाँ तक अनुभूतिमय है किन्तु इसमें विरह-दशा की कल्पनाएँ अवश्य हैं। इन कल्पनाओं के लिए कम-से-कम इतनी अनुभूति अवश्य मानी जायगी जितनी कि मुलम्मा करने के लिए सोने या चाँदी की आवश्यकता होती है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जिनमें वह अपने को भौतिक बन्धनों से ऊँचा उठा पाता है। उन्हीं क्षणों की अनुभूति कल्पना से विस्तृत और तीव्रतर बना ली जाती है। यह सम्भव है कि इन विरह-गीतों के तल में लौकिक विरह ही हो किन्तु वह उन्नत हो गया है। उसका कलुष-कर्दम बहुत कुछ बैठ गया है और निर्मल जल ऊपर आ गया है। ये गीत हमको प्रसाद और महादेवी में अधिक मिलते हैं। महादेवी जी ने विरह को ही अपना आराध्य बना लिया है—

'प्रिय पथ के यह शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं

× ×

आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा ?'

—सान्ध्य-गीत (पृष्ठ १८)

विरह के कारण महादेवी जी स्वयं आराध्यमय हो जाती हैं क्योंकि विरह में संयोग की अपेक्षा तन्मयता कुछ अधिक होती है—**'हो गई मैं आराध्यमय विरह की आराधना से'**—विरह ही उनका वियोग और सुहाग दोनों हैं। विरह में ही वे मिलन मानती हैं। उनकी विरह की अधीरता देखिए—

'फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूं उस पार और क्या है !
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?'

—सान्ध्य-गीत (पृष्ठ ४७)

आजकल के रहस्यवादियों ने अपने प्रियतम के दर्शन अधिकतर प्रकृति के अवगुण्ठन में ही होकर किये हैं। कम-से-कम उनमें उस अवगुण्ठन को उठाकर दर्शन करने की साध है। रहस्यवादी कवि तारकों में प्रियतम के नेत्रों का आभास पाता है—**'सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है'** यह सब भगवान् के विराट रूप का ही कवित्वमय चिन्तन है।

प्राकृतिक दृश्यों की ओट में प्रियतम के साथ आँख-मिचौनी के खेल में परमात्मा की व्यापकता में विश्वास तथा इस युग के लोगों का उससे साक्षात्कार न होने की आत्म-स्वीकृति है—

'अलि कैसे उनको पाऊँ!
वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल-ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में, मैं बाँध-बाँध पछताऊँ!
मेघों में विद्युत सी छवि, उनकी मिट जाती
आँखों की चित्रपटी में, जिससे मैं आँक न पाऊँ!

× × ×

वे स्मृति बनकर मानस में, खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी निष्ठुरता को, जिससे मैं भूल न जाऊँ।'

—आधुनिक कवि (महादेवी वर्मा, पृष्ठ ४४)

इस गीत में यद्यपि कल्पना अधिक है तथापि वह भावना-प्रेरित है और उसमें मिलन के अभाव की एक मीठी कसक है। यह कसक कवयित्री के जीवन का अंग-सा बन गई है। उसका वे परित्याग नहीं करना चाहती हैं—

'अब न लौटाने कहो अभिशाप की वह पीर।
बन चुकी स्पन्दन हृदय में औ' नयन में नीर॥'

प्रसाद जी ने एक गीत में मिलन-की-सी प्रसन्नता का भी वर्णन किया है किन्तु वह अधिकांश में कल्पना ही है, देखिए—

'मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये
यह अलस जीवन सफल अब हो गया
कौन कहता है जगत है दुःखमय
वह सरस संसार सुख का सिंधु है।'

राष्ट्रीय गीत—छायावाद के राष्ट्रीय गीतों में एक विशेष कोमलता और शालीनता है। उनमें देश के प्रति गौरव की भावना जाग्रत की गई है और जगत की अपूर्णताओं, क्रूरताओं एवं कर्कशताओं को मङ्गलमय भगवान् की मङ्गल-विधायनी शक्तियों के सहारे स्निग्ध और सुडौल बनाने की कामना प्रकट की गई है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में यूनानी सेनापति सेल्यूकस की पुत्री 'कोर्नीलिया' द्वारा गाया गया सुप्रसिद्ध गीत छायावाद की राष्ट्रीय प्रवृत्ति का एक सुन्दर उदाहरण है। इसमें अपने देश की शान्ति और विश्रामदायिनी शक्ति का स्तवन है और देश के प्रति अनुराग ही नहीं उत्पन्न होता वरन् चित्त को प्रसन्नता मिलती है, देखिए—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर—नाच रही तरु-शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर—मङ्गल कुंकुम सारा।
लघु सुर धनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा।'

—चन्द्रगुप्त; द्वितीय अंक का आरम्भ (पृष्ठ १११)

प्रसाद जी का एक अभियान-गीत बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। इसमें एक विशेष जातीय गर्व, ओज और शालीनता है और स्वतन्त्रता स्वयं शैल-शिखर से पुकारती हुई सुनाई पड़ती है—

'हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।"

—चन्द्रगुप्त; चतुर्थ अंक (पृष्ठ २३१)

पंडित सोहनलाल द्विवेदी तथा अन्य कवियों ने भी ऐसे अभियान-गीत लिखे हैं। द्विवेदी जी तो विशेष रूप से गाँधीवाद के कवि हैं।

संसार को मङ्गलमय बनाने की उत्कट अभिलाषा की प्रतिध्वनि पन्त जी के 'गुञ्जन' से उद्धृत निम्नोल्लिखित प्रार्थना में सुनाई पड़ती है—

'जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय चिर नूतन!

× ×

बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन !
दिशि दिशि में औ' पल-पल में
बरसो जीवन के साधन ।'

—पल्लविनी (पृष्ठ १६६)

निराला जी ने राष्ट्रीय प्रभाती के रूप में एक उद्बोधन-गीत गाया है जिसमें छायावाद की पूर्ण कोमलता और चित्रमयता दृष्टिगोचर होती है । ऐसी ही उक्तियाँ काव्य के लिए **'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'** की बात सार्थक करती हैं । देखिए—

'जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाते हुये हारे सब तारे तुम्हें
अरुण - पङ्ख तरुण - किरण
खड़ी खोल रही द्वार
जागो फिर एक बार ।'

—अपरा (पृष्ठ ६)

'जागो फिर एक बार !
उगे अरुणांचल में रवि,
आई भारती-रति कवि-कण्ठ में
क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट ।"

—अपरा (पृष्ठ ८)

छायावाद के राष्ट्रीय गीतों में व्यञ्जना का प्राधान्य रहता है और कवित्व की ओर अधिक ध्यान रक्खा जाता है । ऐसे गीतों में देश की वर्तमान दशा पर करुणा क्रन्दन रहता है किन्तु वह उग्र नहीं होने पाता । असलियत को प्रतीकों द्वारा व्यञ्जित किया जाता है, देखिए—

'आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस
वही मधु ऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती —जीवन है भार !

× ×

गूंजते हैं सबके दिन-वार
सभी फिर हाहाकार !'

—आधुनिक कवि (पंत, पृष्ठ ३१)

यद्यपि इसमें परिवर्तन की दार्शनिक समस्या है और जगत् की नश्वरता की ओर भी इशारा है तथापि इसके जो चित्र हैं वे देश की गिरी हुई दशा के द्योतक हैं। प्रगतिवादी गीतों में कुछ विशेष उग्रता रहती है। उनमें यथार्थवाद की पूरी कर्कशता उतर आती है।

लौकिक प्रेम-गीत— छायावादी लौकिक प्रेम-गीतों में अधिकांश में एक विफल प्रेम की टीस और कसक रहती है तथा कुछ में वासना का भी विलास रहता है। इस मामले में छायावादी और प्रगतिवादी एक ही मिट्टी के बने हुए हैं। प्रगतिवादी लोगों में रूढ़ियों के विरोध की उग्रता के साथ यथार्थवाद की मात्रा पर्याप्त रूप में रहती है। वेदना और कसक के उदाहरणस्वरूप प्रसाद जी का एक नाटकीय गीत नीचे दिया जाता है। इस प्रकार के त्यागपूर्ण आत्मसमर्पण की भावना में वासना का कर्दम नीचे बैठ जाता है। प्रसादजी के नाटकीय गीत यद्यपि एक विशेष संदर्भ से बँधे हुए हैं और इस कारण वैयक्तिक भी हैं तथापि वे ऐसे हैं कि उनकी ताल-लय पर प्रत्येक प्रेमी हृदय प्रतिस्पन्दित होने लगता है। गीतों में वैयक्तिकता बाधक नहीं साधक हो होती है और एक विशेष तीव्रता प्रदान करती है।

स्कन्दगुप्त की देवसेना का जीवन ही गीतमय है। अन्त में उसकी निराशा और करुणा भी गीत में ही प्रकाश पाती है। निराशा की पराकाष्ठा में ही देवसेना को शान्ति मिलती है—

'आह ! वेदना मिली विदाई—
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।'

× ×

'चढ़कर अपने जीवन रथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी-होड़ लगाई
लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा-हा खाती
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे, इसने मन की लाज गँवाई ॥'

—स्कन्दगुप्त; पञ्चम अंक (पृष्ठ १६५)

जिस थाती को उसने निजी बनाकर अपनाया था, संसार के वात्याचक्र में न सम्हल सकने के कारण वह उसे विश्व को सौंपकर सुख और शान्ति का अनुभव करती है।

प्रणय-भाव से प्रेरित पंतजी द्वारा अङ्कित भावी पत्नी का एक काल्पनिक चित्र यहाँ दिया जाता है। इसमें वासना की अपेक्षा कल्पना की सौन्दर्योपासना और कोमलता अधिक है—

'प्रिये, प्राणों की प्राण !
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की-सी वाण,
बाल-रति सी अनुपम, असमान—
न जाने, कौन, कहाँ, अनजान,
प्रिये प्राणों की प्राण !'

× ×

'चूम लघु पद चंचलता, प्राण !
फूटते होंगे नव जल-स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !'

—पल्लविनी (पृष्ठ १४४,१४७)

इस सौन्दर्य-चित्र में ऐन्द्रिकता की अपेक्षा सौन्दर्य से प्रभावित हृदय का उल्लास अधिक है, यह सौन्दर्य भी बड़ा गतिशील है। इतना कि दूसरे को भी गतिशील बना दे—'चूम लघु पद चंचलता प्राण ! फूटते होंगे नव जल-स्रोत'—इसमें जायसी-का-सा प्रकृति और मानव का आदान-प्रदान है। प्रकृति को मानव का अनुगामी बनाकर प्रतीप अलङ्कार की ध्वनि उत्पन्न की गई है—

नीचे के गीत में वासना की अधीरता व्यंजित होती है—

'आज रहने दो यह गृह काज;
प्राण ! रहने दो यह गृह काज।
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये लालस सालस वातास
जगा रोओं में सौ अभिलाष।'

—पल्लविनी (पृष्ठ १६१)

इसमें रस-शास्त्र के अनुकूल प्रकृति के स्वाभाविक उद्दीपन की भावना वातास के सौरभ-श्लथ उच्छ्वास में प्रकट हो रही है। नवीन कवियों ने प्राचीन रस-पद्धतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया है। नरेन्द्र के नीचे के गीत में स्मृति-भाव भी

है और वह स्मरण अलङ्कार के सहारे ही आगे बढ़ा है—

'मेरा घर हो नदी किनारे
रह रह याद तुम्हारी आए
देख मचलती तरल लहरियाँ
देखूं जब पल भर आँखें भर
कभी उछलती चटुल मछलियाँ
खले हृदय में नयन तुम्हारे
मेरा घर हो नदी किनारे'

—प्रवासी के गीत (पृष्ठ ५६)

प्रगतिवाद—छायावाद-रहस्यवाद के अपेक्षाकृत ह्रास के पश्चात् प्रगतिवाद का युग आया। यह छायावाद की सूक्ष्मता वायवीपन और पलायनवाद की प्रतिक्रिया थी। इस वाद ने कविता को जीवन के सम्पर्क में लाने की माँग पेश करके (यह माँग बड़े जोरदार शब्दों में आचार्य शुक्ल जी द्वारा पहले ही हो चुकी थी) शोषित-पीड़ित मानवता का पक्ष लिया। किसान-मजदूरों की हिमायत इसका मुख्य ध्येय हुआ और पूँजीपतियों को पानी पी-पी कर कोसना (साथ ही अपेक्षाकृत दबी जबान में सामन्तशाही को भी चुनौती देना) इसका धर्म बना तथा वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति के नारे लगाये जाने लगे। किसान-मजदूरों का हित-साधन और प्रतिक्रियावादियों अर्थात् शोषकों एवं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना ही कविता की कसौटी बनी। रूस, लाल झण्डे, लाल सेना और मार्क्सवाद की बात-बात में दुहाई दी जाने लगी। यही है संक्षेप में प्रगतिवाद। इसमें जन-हित की भावना प्रधान है किन्तु इसकी पद्धति संघर्षमय है।

छायावाद और प्रगतिवाद दोनों ही दो भिन्न-भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के परिचायक हैं—छायावाद कोमल और अन्तर्मुखी वृत्ति का और प्रगतिवाद कठोर और बहिर्मुखी वृत्ति का। प्रगतिवाद में भी राष्ट्रीय भावना है किन्तु उसमें शोषित के प्रति करुणा के साथ-साथ शोषक के प्रति उग्र घृणापूर्ण विद्रोह भी है। छायावाद में गांधीवाद से प्रभावित कष्ट सहिष्णुता की एकान्त साधना है और यदि सामूहिक विद्रोह भी है तो वह बड़ा विनत और शालीन है। प्रगतिवाद में मार्क्सवाद की क्रान्ति की सामूहिक भावना है। छायावाद आदर्शवाद की ओर अधिक झुका है तो उसका प्रतिद्वन्द्वी यथार्थवाद की (जो कभी-कभी नग्न रूप धारण कर लेता है) ओर जा रहा है। प्रेम-गीत दोनों ने गाये। प्रगतिवाद की राष्ट्रीयता आर्य-समाज की परिशुद्धतावादी राष्ट्रीयता न थी। मानवी हृदय की स्वाभाविक पुकार को उनकी राष्ट्रीयता दबा न सकी किन्तु छायावादी और प्रगतिवादी प्रेम-दर्शन में अन्तर है। छायावादी प्रेम-गीतों में एक विशेष सूक्ष्मता, सांकेतिकता, साधना और आत्म-समर्पण की भावना है। प्रगतिवादी प्रेम-गीत अधिक स्थूल, अपेक्षाकृत निरावरण और

सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना से मिश्रित रहते हैं। उनमें स्वयं मिट जाने की अपेक्षा मिटा देने की भावना अधिक है। यही हाल राष्ट्रीय भावना का है। छायावादी राष्ट्रीय गीतों में एक विशेष कोमलता और वायवी स्वप्निल वातावरण रहता है। उनमें जागरण-भेरी-रव अवश्य है किन्तु वह प्रभाती-सा मन्द और मधुर है (निराला जी आदि में कहीं-कहीं उग्रता भी आ गई है) उसमें आग लगाने की भावना की अपेक्षा बलिदान की साधना अधिक है।

यद्यपि प्रगतिवाद यथार्थवाद का आश्रय लेकर बढ़ा है तथापि उसमें भावुकता का अभाव नहीं है और वह गीत-काव्य की सृष्टि करने में समर्थ हुआ है। उसके गीतों की यह विशेषता है कि वे लोक-गीतों के निकट आ सके हैं और उनका जनता में प्रचार हो सकता है (कहीं-कहीं यह भावना कि इनमें जो स्तवन और विचार-धारा है वह भारतीय होने की अपेक्षा रूस की अधिक है, बाधक होती है) जहाँ ये लोग वर्ग-संघर्ष की कटुता के कारण शालीनता खो बैठे हैं वहाँ कला का भी अभाव नहीं है। पन्त जी जैसे छायावादी कवियों ने प्रगतिवाद को कलामय बना दिया है और वह भी छायावाद की कला को अपनाता जाता है। खेद की केवल यही बात है कि जो अनुभूति की कमी और रूढ़िवाद का प्रसार छायावाद-रहस्यवाद की कविताओं में दोष रूप से माना जाता था उन्हीं दोषों को प्रगतिवाद में भी आश्रय मिल रहा है। हमको उसके दोषों की अपेक्षा उसकी उत्तमता से मतलब है। हमें गुठलियाँ नहीं रस चाहिए।

संक्षेप में प्रगतिवादी गीतों के मूल विषय इस प्रकार हैं—(१) किसान मजदूरों के प्रति सहानुभूति तथा पूँजीपतियों और अन्य शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह, (२) रूस, मास्को और लाल सेना का यशगान, (३) उन्मुक्त प्रेम, (४) गांधीवाद के प्रति विद्रोह और मार्क्सवाद का समर्थन (यह गीतों में कम है, गद्य-लेखों और उपन्यासों में अधिक) और (५) हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य।

किसान-मजदूर—प्रगतिवादी कवियों में पन्त जी अपनी पिछली कविताओं में, निराला जी (तोड़ती पत्थर, कुकरमुत्ता आदि कविताओं में) नरेन्द्र, अञ्चल, सुमन, दिनकर, उदयशङ्कर भट्ट, राँगेय राघव आदि प्रमुख हैं।

पण्डित उदयशङ्कर भट्ट ने एक मजदूर का बड़ा दर्द-भरा चित्र अङ्कित किया है। गर्मी, बसन्त और बरसात के दृश्य सब उसके शरीर में ही मिल जाते हैं। इसकी अन्तिम पंक्तियों में जो तुलना है वह करुणापूर्ण है, देखिए—

> 'मेरी बरसातें आँसू रे, मेरा बसन्त पीला शरीर
> गरमी झरनों-सा स्वेद, मेरे साथी दुख दर्द पीर
> दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे आराम मिला
> बलि दे देने को प्राण मिले, हन्टर को सूखा चाम मिला।'

श्री अञ्चल जी किसानों की व्यथा का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

'इन खलिहानों में गूँज रही किन अपमानों की लाचारी,
हिलती हड्डी के ढाँचों ने पिटती देखी घर की नारी
जब लोट-लोट-सी पड़ती हैं ये गेहूँ धानों की बालें,
है याद इन्हें आती जब खिचती थीं तेरी खालें,
युग-युग के अत्याचारों की आकृतियाँ जीवन के तल में
घिर-घिर कर पुञ्जीभूत हुई ज्यों रजनी की छाया छल में।'

बङ्गाल का अकाल भी प्रगतिवादियों का बड़ा रुचिकर विषय रहा है। इसमें पीड़ितों के प्रति करुणा की भावना तो है ही किन्तु साथ ही इसमें शोषक पूँजीपतियों और चोर बाजार के व्यापारियों के प्रति एक घृणा की भी व्यञ्जना रहती है। अकाल-कविताओं में जो विशेष बल है उसका एक मूल कारण तो मैं न कहूँगा किन्तु सहायक कारण अवश्य पूँजीपति के प्रति अवचेतनवासिनी घृणा का अंश है। सुमन जी ने तथा केदारनाथ जी अग्रवाल ने बङ्गाल के अकाल के बड़े मर्मभेदी गीत लिखे हैं। बङ्गाल के सम्बन्ध में श्री केदारनाथ अग्रवाल द्वारा अङ्कित एक करुणा-चित्र देखिए—

'बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनरीत बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है,
बाप बेटा बेचता है।
माँ अचेतन हो रही है
मूर्च्छना में रो रही है
दम्भ के निर्भय चरण पर
प्रेम माथा टेकता है,
बाप बेटा बेचता है।'

रूस और लाल सेना—इस विषय में प्रगतिवादियों का मन अधिक रमा है और उसमें अनेक हृदय का उल्लास भी दिखाई देता है। इन गीतों में गीतकाव्योचित प्रवाह भी है किन्तु उस प्रकार के गीतों के साथ जनता का हृदय प्रतिस्पन्दित होते नहीं सुनाई पड़ता है। सब लोग रूस को ही दुनिया की आजादी का प्रतीक नहीं मान सकते हैं। हमारे हृदय में जो भारत माता के प्रति भावोल्लास उठ सकता है वह रूस के प्रति नहीं। जर्मनी की फौज से ही नहीं वरन् हमारे हृदय से भी मास्को अब भी दूर है क्योंकि हमारी समझ में रूस, यूरोप वाले मानवता के आदर्शों से कोसों दूर हैं। वे विजितों

के साथ उदारता क्या न्याय भी नहीं कर सके हैं। खैर, यह राजनीति का विषयान्तर है। अब रूस और लाल सेना से स्तवन-सम्बन्धी सुमन जी का एक गतिमय गीत लीजिए—

'युगों की सड़ी रूढ़ियों को कुचलती,
ज़हर की लहर सी मचलती,
अन्धेरी निशा में मशालों सी जलती,
चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।
समाजी विषमता की नीवें मिटाती,
गरीबों की दुनिया में जीवन जगाती,
अमीरों की सोने की लंका जलाती,
चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।'

हम रूस की बहादुरी और देश-प्रेम की सराहना कर सकते हैं किन्तु हम प्रगतिवादियों के साथ सुर-में-सुर मिलाकर यह नहीं कह सकते कि 'लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का'। रूस में भी दोष हो सकते हैं, उसमें भी साम्राज्य-लिप्सा और एटम बम्ब की विध्वंसकारिणी अमानव भावना आ सकती है।

प्रेम-गीत—प्रगतिवाद सिद्धान्ततः रूढ़ियों के विरुद्ध है और उसमें उन्मुक्त प्रेम को अधिक आश्रय मिलता है। नवीन, नरेन्द्र तथा अञ्चल के प्रेम-गीतों में भौतिक पक्ष की प्रधानता है और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह प्रतिध्वनित होता सुनाई पड़ता है। हम विस्तार-भय से ऐसे गीतों को न देकर उदाहरणस्वरूप अञ्चल जी का केवल एक गीत देंगे जिसमें वासना की गन्ध अवश्य है किन्तु उसकी भौतिकता मानसिक धरातल पर पहुँची हुई प्रतीत होती है। देखिए—

'ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें,
तुम्हारे रूप का सित आवरण कितना मुझे शीतल,
तुम्हारे कंठ की मधु वंसरी जलधार सी चंचल,
तुम्हारी चितवनों की छाँह मेरी आत्मा उज्ज्वल
उलझती फड़फड़ाती प्राण-पंछी की तरुण पांखें'

—हिन्दी-गीत-काव्य के एक उद्धरण से उद्धृत (पृष्ठ २६३-६४)

हिन्दू मुसलिम-ऐक्य—प्रगतिवाद ने प्रत्यक्ष जीवन के सम्पर्क में आकर राजनीति में भाग लिया और वह यथाशक्ति हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य की ओर प्रयत्नशील रहा है। स्वयं धर्म से उदासीन होने के कारण ये लोग दोनों को समता-भाव से देखने की अधिक क्षमता रखते हैं। धार्मिक रूढ़ियों के विरोधी होने के कारण रूढ़िग्रस्त हिन्दू धर्म का इन्होंने कुछ अधिक विरोध किया है यद्यपि मुसलिम धर्म में भी रूढ़िवाद कम नहीं है। इस समताभाव के लिए सब जगह धार्मिक विद्रोह ही उत्तरदायी नहीं है वरन् इसके अन्तस्तल में कहीं-

कहीं उच्च मानवता के भी दर्शन होते हैं। नरेन्द्र जी की निम्नोल्लिखित कविता में मानवता की ही भावना प्रधान है। देखिये—

'मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नहीं!
मैं तुम्हें समझता रहा म्लेच्छ,
तुम मुझे वणिक औ' दहकानी!
सदियों हम दोनों साथ रहे
यह बात न अब तक पहचानी!
दोनों ही धरती के जाये
हम अनचाहे मेहमान नहीं।
मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नहीं!
हैं अलग-अलग हम दोनों के
व्यवहार मान, जीवन-दर्शन
सांस्कृतिक स्रोत दोनों के दो
करते दो भावों का सिंचन;
पर दो होकर भी मिल न सके,
तो दोनों का कल्याण नहीं!
मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नहीं!'

ऐसी कविताएँ गीत की श्रेणी में तो नहीं आती हैं किन्तु इनको एक भाव-धारा के उदाहरणस्वरूप दे दिया है।

छायावादी गीतों की अपेक्षा प्रगतिवादी गीतों में अधिक सरलता और स्पष्टता है किन्तु वे लोग भी लक्षणा-व्यञ्जना के प्रयोगों से अछूते नहीं हैं। उनके अलङ्कार विधान भी बनते जाते हैं। अन्धकार का उपमान कोयले की खान में काम करने वाली मजदूरनी बनाया जाता है। उनके विषय भी कुछ नये हैं जिनके प्रति हमारे हृदय का साधारणीकरण होने में देर लगेगी। प्रगतिवाद ने भी किसी अंश में छायावाद की कला को अपनाया है। वे भी करील, पलाश जैसे प्रतीकों का व्यवहार करते हैं। कुछ छायावादी लोगों के प्रगतिवाद में आ जाने से ये दोनों वाद भी एक दूसरे के निकट आ गये हैं।

प्रयोगवाद—इधर अज्ञेय जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'तारसप्तक' के दोनों भागों ने हिन्दी के गीतकाव्य को छायावाद-हालावाद और प्रगतिवाद की राहों से हटाकर प्रयोगवाद की पगडण्डी की ओर उन्मुख किया है। अँग्रेजी के प्रतीकवाद टी० एस०

इलियट एजरापाउण्ड आदि की कविताओं का विशेष प्रभाव प्रयोगवादी कवियों पर स्पष्ट दीखता है। (अज्ञेय जी के अतिरिक्त इस वाद के प्रमुख कवियों में गिरजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, धर्मवीर 'भारती' और भवानीप्रसाद मिश्र आदि का नाम उल्लेखनीय है।) प्रयोगवादी रचनाओं में 'हरी घास पर क्षण भर', 'ठंडा लोहा', 'धूप के धान' और 'नाव के पांव' का नाम विशेष गणनीय है। प्रयोगवादी कविता ने हिन्दी गीतिकाव्य बहुत-कुछ नया देने के बाद भी कुछ उलझी हुई संवेदनाओं के कुहासे में भटका दिया है जहाँ पर हृदय की सहज अनुभूतियों की कोमल झंकार की अपेक्षा चौंका देने वाले चमत्कारवाद की चमक अधिक है। प्रेषणीयता का इस प्रकार के गीतों में अभाव है; कहीं-कहीं तो प्रयोगवादी काव्य सर्वथा गद्य के रूप में आकर रसहीन हो गया है। यद्यपि अनेक नए विषयों और नई तथा निराली मानसिक स्थितियों पर प्रयोगवादियों ने रचनाएँ की हैं और इस प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत तथा छन्द विधान तीनों का क्षेत्र विस्तृत किया है तथापि प्रयोगवाद का ध्येय निश्चित न होने तथा भावनाओं के साधारणीकरण न होने से काव्य का सहज रूप प्रस्तुत नहीं हो सका और उसमें प्रयोगों—उपमा, रूपकादि का ही वैचित्र्य अधिक दिखाई पड़ता है।

नीचे एक प्रयोगवादी कविता का उदाहरण दिया जाता है। पीटी लकीर से हटी हुई उपमाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

'घाव पुराने पीड़ा के
जाने अनजाने में सबसे
आज हरे गीले सूजे!
रह रह कर बह जाती असह्य लहर
मानो बिजली का तीव्र करेंट ठहर
पास मौन तड़पा देता
नाली के कीड़ों जैसा इधर उधर।'

आधुनिक गीत-काव्य की विशेषताएँ

(१) आधुनिक गीत-काव्य अधिक व्यक्तिपरक है। (२) उसमें प्राचीन की अपेक्षा विचार और प्राकृतिक सम्पर्क का अधिक समावेश होता है। (३) विचार के भिन्न-भिन्न खण्डों का अलग-अलग बन्धों (Stanzas) में विभाजन रहता है और उनके अन्तिम चरणों का स्थाई से तुक-साम्य रहता है। (४) ये पंक्तियाँ मात्रिक लयप्रधान होती हैं।

विशेष—(१) गीत-काव्य के अतिरिक्त और भी बहुत सी मुक्तक कविताएँ लिखी गई हैं किन्तु उनमें प्रायः वे ही प्रवृत्तियाँ हैं जो गीत-काव्य में हैं। उनमें गेयत्व

और भावातिरेक अपेक्षाकृत कम है। गीत-काव्य में तो विशेष रूप से और वैसी कविताओं में भी मात्रिक छन्दों का ही प्राधान्य रहा है। संस्कृत के गीत-काव्य गीत-गोविन्द में भी मात्रिक छन्दों का ही बाहुल्य है। अब तो कविता को छन्दों के बन्धनों से मुक्ति मिल गई है। मात्राओं की भी नाप-तोल नहीं होती है। प्रत्येक पंक्ति में अपनी गति और लय होती है फिर भी मात्राओं की नाप-तोल और तुक का मान नितान्त रूप से उठा नहीं है।

(२) प्रसाद जी ने श्रव्य-काव्य को पाठ्य-काव्य कहा है। वास्तव में छापेखाने के आविष्कार से श्रव्य-काव्य अब पाठ्य ही हो गये हैं किन्तु हम प्राचीन शब्दावली को बदलना नहीं चाहते हैं। बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनकी अब सार्थकता नहीं है किन्तु व्यवहार में आते हैं। पत्र ही ऐसा शब्द है। अब पत्र भोज-पत्र पर नहीं लिखे जाते हैं।

६

श्रव्य-काव्य (गद्य)

कथा-साहित्य उपन्यास

कथा-कहानी सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य में चिरकाल से चली आ रही है। सभी लोगों ने राजा और रानी की कहानी अपने बाल्यकाल में सुनी होगी। यह विदित है कि उस काल की कहानियों का मुख्य उद्देश्य 'फिर' अथवा उसके पश्चात् 'क्या हुआ' की जिज्ञासा की पूर्ति रही। यह जिज्ञासा अमर है और सदा अतृप्त रहती है। अधिकांश पाठकों ने एक राजा की कहानी सुनी होगी जो कभी न खतम होने वाली कहानी सुनना चाहता था। इस इच्छा की पूर्ति में सैंकड़ों असफल कहानी सुनाने वाले कैदखाने में डाल दिये गये। आखिर एक ने एक कहानी सुनाई जिसमें 'फिर' के उत्तर में बहुत काल तक 'फिर-फिर' वही उत्तर मिलता गया, फिर ऐसी चिड़िया आई और एक दाना लेकर फुर्र उड़ गई, फिर एक चिड़िया आई और एक दाना लेकर फुर्र उड़ गई।' राजा वही उत्तर सुनते-सुनते उकता गया और उसको अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी। इस कहानी में सारे कथा-साहित्य का तत्व आ गया—वह यह कि कथा सुनने में सुनने वाला एक स्वाभाविक कौतूहलवश 'आगे क्या हुआ' जानने के लिए उत्सुक रहता है किन्तु जब तक उत्तर में कुछ नवीनता न हो उसका जी ऊब जाता है और उसके कौतूहल की हत्या हो जाती है।

स्वाभाविक प्रवृत्ति

आजकल शिक्षित समाज ने ऐसी कहानी तो कोई नहीं बनाई जो कभी न खतम हो—'अलिफ लैला' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' जैसे लम्बे कथानकों का भी अन्त हो जाता है—किन्तु इस प्रकार के साहित्य को इतना विस्तार दे दिया है कि अनन्तकाल तक पढ़ते चले जाओ और उसका पार न मिले। उपन्यास, आख्यायिका, कथा-कहानी सभी इस अनन्त कौतूहल की शान्ति के साधन हैं। आजकल के उपन्यास पुरानी कहानी के सन्तान-स्वरूप अवश्य हैं किन्तु सन्तान अपनी माता से कई बातों में भिन्न है, साथ-ही-साथ सन्तान में कौतूहल के वंशपरम्परागत गुण मौजूद हैं। वर्तमान उपन्यास और कहानी पुरानी कहानी से अधिक संगठित होती है। इसमें कार्य-कारण-श्रृङ्खला स्पष्ट रहती है। आजकल के उपन्यास में कौतूहल के साथ बुद्धि-तत्व और भाव-तत्व की भी पुष्टि होती है। आधुनिक

प्राचीन और नवीन

उपन्यासों में जीवन का क्षेत्र पहले से अधिक व्यापक हो गया है और वह जानवरों तथा देवी-देवताओं में से हटकर अधिकतर मनुष्य के क्षेत्र में केन्द्रस्थ हो गया है।

अंग्रेजी शब्द 'नॉविल' (Novel) में जिसका अर्थ नवीन है ऊपर की कहानी का तत्व भरा हुआ है। मराठी भाषा में अंग्रेजी शब्द के आधार पर 'नवल कथा' शब्द गढ़ लिया गया है। मराठी में उपन्यास को 'कादम्बरी' भी कहते हैं। यह एक व्यक्तिवाचक नाम जातिवाचक बनाने का अच्छा उदाहरण है। उपन्यास शब्द प्राचीन नहीं है, कम-से-कम उस अर्थ में जिसमें उसका आजकल व्यवहार होता है। संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में 'उपन्यास' शब्द है। यह नाटक की संधियों का एक उपभेद है, (प्रतिमुख संधि का) इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है। **'उपन्यासः प्रसादनम्'** (साहित्यदर्पण, ६।६) अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है **'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः'** अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। सम्भव है कि उपन्यासों में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्तियुक्त रूप में अर्थ का उपस्थित करने की प्रवृत्ति के कारण इस तरह की कथात्मक रचनाओं का नाम उपन्यास पड़ा हो किन्तु वास्तव में नाटक साहित्य के उपन्यास शब्द और आजकल के उपन्यास में नाम का ही साम्य है। उपन्यास का शब्दार्थ है सामने रखना। अस्तु, जो कुछ भी उपन्यास शब्द का इतिहास हो, इस प्रकार का साहित्य आजकल बहुत लोकप्रिय हो रहा है। यदि पुस्तकालयों द्वारा लोकप्रिय पुस्तकों की गणना की जावे तो उपन्यासों और कहानियों का स्थान ही सबसे ऊँचा निकलेगा।

व्युत्पत्ति

प्राचीन काल में कथात्मक साहित्य की कमी न थी किन्तु गद्य में बहुत कम कथाएँ लिखी जाती थीं। उपन्यास के ढंग पर बड़ी कहानियों के तो कादम्बरी, दशकुमार-चरित, वासवदत्ता आदि गिनती के ही ग्रन्थ मिलेंगे। छोटी कहानियों के बौद्ध जातक, बृहत्कथा, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, द्वात्रिंशत पुत्तलिका आदि कई ग्रन्थ हैं। कथा और आख्यायिका नाम पुराने हैं। दण्डी ने कथा और आख्यायिका का भेद बतलाकर फिर उसका निराकरण कर दिया है। (दण्डी ने कहा है कि—आख्यायिका वह है जो केवल नायक द्वारा कही जाय और कथा नायक के अतिरिक्त और दूसरे किसी के द्वारा भी कही जा सकती है। फिर वे यह कहते हैं कि कहने वाले के आधार पर कोई भेद करना ठीक नहीं—**'अन्योवक्ता स्वयंवेति कीदृग्वा भेदकारणम्'**।)

कथा और आख्यायिका

उपन्यास में कल्पना का पूरा संयम और व्यायाम रहता है। उपन्यासकार

विश्वामित्र-की-सी सृष्टि बनाता है किन्तु ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से भी बँधा रहता है।

उपन्यास और नाटक

उपन्यास में सुख, दुःख, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, अभिलाषा, महत्त्वाकांक्षाओं, चरित्र के उत्थान और पतन आदि जीवन के सभी दृश्यों का समावेश रहता है। उपन्यास में नाटक की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है किन्तु नाटक के मूर्त साधनों के अभाव में उपन्यासकार उस कमी को शब्द-चित्रों द्वारा करता है। नाटक में पात्र कुछ शब्दों द्वारा व्यञ्जित करते हैं और कुछ भाव-भङ्गी द्वारा। दर्शक को कल्पना पर अधिक जोर नहीं देना पड़ता। देश-काल और परिस्थिति भी सीन-सीनरी द्वारा व्यक्त हो जाती है। नाटककार के इन सुभीतों के न होते हुए भी उपन्यासकार को जीवन का सजीव चित्र अङ्कित करना पड़ता है। उपन्यास एक प्रकार का जेबी-थियेटर बन जाता है। उसके लिए घर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। घर के भीतरी भाग में और बन-उपवन सभी स्थानों में उसका आनन्द लिया जा सकता है। किन्तु उस आनन्ददान के लिए उपन्यासकार को शब्द-चित्रों का सहारा लेना पड़ता है। उपन्यासकार को नाटककार की भाँति समय और आकार का भी प्रतिबन्ध नहीं है। उपन्यास का पाठक अपने कक्ष में या कक्ष से बाहर भी चाहे जितनी देर तक उसे पढ़ता रह सकता है। नाटक का द्रष्टा नियत समय तक ही नाटक-भवन में रह सकता है किन्तु इसी के साथ नाटक में उपन्यास की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। उपन्यास और नाटक में एक विशेष अन्तर यह भी है कि उपन्यासकार अपनी कृति में समय-समय पर प्रकट होता रहता है और वह स्वयं पात्रों के चरित्र अथवा उनके कार्यों के आन्तरिक रहस्यों पर प्रकाश डालता रहता है। नाटककार ईश्वर की भाँति अपनी सृष्टि में अव्यक्त ही रहता है, वह प्रत्यक्ष रूप से स्वयं कुछ नहीं कहता, जो कुछ उसे कहना होता है वह पात्रों द्वारा ही कहला देता है।

उपन्यास जीवन का चित्र है, प्रतिबिम्ब नहीं। जीवन का प्रतिबिम्ब कभी पूरा नहीं हो सकता है। मानव-जीवन इतना पेचीदा है कि उसका प्रतिबिम्ब सामने रखना

प्रतिबिम्ब नहीं वरन् चित्र है

प्रायः असम्भव है। उसके प्रतिबिम्ब उतारने के लिए जीवन-काल के बराबर ही लम्बा चित्रपट चाहिए। चलचित्रों में भी जो जीवन का चित्र खींचा जाता है उसमें चुनाव रहता है। उपन्यासकार के शब्द-चित्रों में भी चुनाव की आवश्यकता है किन्तु उसके कारण तारतम्य नहीं टूटने पाता, इसी में उपन्यासकार का कौशल है। उपन्यासकार जीवन के निकट-से-निकट आता है किन्तु उसे भी जीवन में बहुत-कुछ छोड़ना पड़ता है किन्तु जहाँ छोड़ता है वहाँ वह अपनी तरफ़ से जोड़ता भी है। जितना हम उपन्यास के पात्रों को समझते हैं उतना जीवन के पात्रों को नहीं समझ पाते। जीवन के पात्र हमारे लिए अभेद्य रहस्य ही बने रहते हैं। जीवन में मानव-विचारों के जानने के लिए कोई

मस्तिष्कवेधी, सूक्ष्म विचारों को प्रकाश में लाने वाली 'एक्स-किरण' नहीं है। उपन्यासकार अपनी दिव्य दृष्टि से पात्रों के मनोविकारों और विचारों को प्रकाश में ले आता है। वास्तविक जीवन के महाराणा प्रताप या तेजसिंह के विषय में हमको इतिहास भी उतना नहीं बतलाता जितना कि उपन्यासकार अपनी कल्पना के बल से चित्रण कर देता है। मानव-समाज के चित्रण में इतिहास और उपन्यास की समानता है। इतिहास और उपन्यास दोनों ही भूत का वर्णन करते हैं किन्तु इन दोनों के दृष्टिकोण में भेद है।

उपन्यास और इतिहास

हमारा बहुत-सा वास्तविक जीवन अव्यक्त रहता है। उपन्यासकार व्यक्त का बहुत सा हिस्सा छोड़कर अव्यक्त को व्यक्त करता है। इतिहासकार व्यक्त का भी उतना ही हिस्सा लेता है जितना कि राष्ट्र व जाति के उत्थान-पतन से सम्बन्ध रखता है। इतिहासकार के लिए बाह्य घटनाएँ मुख्य हैं। आन्तरिक भावनाओं का भी वह कभी-कभी वर्णन करता है किन्तु उतना ही जितना कि बाह्य घटनाओं से अनुमेय हो सके। उपन्यासकार पात्रों के मन का विश्लेषण ही नहीं करता वरन् वह एक विश्वास-पात्र की भान्ति पात्रों के मन का आन्तरिक रहस्य भी बतलाता है। इतिहासकार के लिए राष्ट्र मुख्य है, व्यक्ति गौण। उपन्यासकार के लिए व्यक्ति ही सब-कुछ है। वह भी राजसिंह, दुर्गादास, महाराणा प्रताप, संयोगिता, छत्रसाल आदि का वर्णन करता है, किन्तु वह उनके व्यक्तित्व की ओर अधिक ध्यान देता है। समाज और राष्ट्र को वह पृष्ठभूमि के रूप में ही अङ्कित करता है। इतिहासकार केवल यह लिखकर संतुष्ट हो जावेगा कि अमरसिंह, महाराणा प्रताप के उसके साथ खाने में न बैठने से अपमानित हुआ था किन्तु वह उस अपमान के भाव का स्वरूप नहीं खींचेगा। उपन्यासकार उसके भावों के उत्थान-पतन का पूरा चित्र खींच देगा। उसके लिए यह बात इतना महत्त्व नहीं रखती कि शिवाजी इस किले में बन्द हुए अथवा उस किले में (यह इतिहासकार का विषय है) जितना कि किले में बन्द होने पर उनके भाव और विचार। इस किले अथवा उस किले में बन्द होने से शिवाजी के व्यक्तित्व में हम अधिक अन्तर नहीं पाते। उपन्यासकार अपने पात्रों को मनुष्य के दृष्टिकोण से देखता है, इतिहासकार राष्ट्र के सम्बन्ध से देखता है, इसलिए उसका क्षेत्र इतना व्यापक नहीं होता है। उपन्यासकार के लिए गंगू तेली और राजा भोज बराबर हो जाते हैं (यदि गंगू तेली के हृदय का कोई भाव मानव-हृदय के लिए कोई विशेष महत्त्व रखता हो)।

इतिहासकार केवल खोज करता है, परिस्थिति और घटना का वर्णन करता है, उसका निर्माण नहीं करता। उपन्यासकार वैज्ञानिक की भान्ति नई परिस्थितियों का निर्माण कर सामाजिक प्रयोग भी करता है। यह बात इतिहासकार के क्षेत्र से बाहर है, इसलिए कहा जाता है कि इतिहास में मौलिकता के लिए स्थान नहीं। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ

ठाकुर ने भी अपने ऐतिहासिक उपन्यास' नामक निबन्ध में कहा है कि "उपन्यास इतिहास मिल जाने से एक विशेष रस संचारित हो जाता है, उपन्यासकार एकमात्र उसी ऐतिहासिक रस के लालची होते हैं, उसके सत्य की उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती।"......"काव्य में जो भूलें हमें ज्ञात होंगी, इतिहास में हम उनका संशोधन कर लेंगे। किन्तु जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास को पढ़ने का अवसर नहीं पायेगा, वह हतभाग्य है और जो व्यक्ति केवल इतिहास को ही पढ़ेगा और काव्य के पढ़ने के लिए अवसर नहीं पायेगा, सम्भवतः उसका भाग्य और भी मन्द है"—पृष्ठ १२५ और १२७।

एक अंग्रेजी लेखक ने कहा है, "उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं, इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती है।"[१]—साहित्यालोचन (पृष्ठ २२८)। यह बात अत्युक्ति अवश्य है किन्तु इससे उपन्यास और इतिहास की प्रवृत्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपन्यास में हृदय के सत्य की अपेक्षा नाम और तिथियों को कम महत्त्व दिया जाता है। इतिहास की दृष्टि में भावों की अपेक्षा नाम और तिथियों को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है। इतिहास में एक तिथि निश्चित् करने के लिए पन्ने-के-पन्ने रंगे जाते हैं किन्तु उपन्यास में ऐसा नहीं होता। उसके दृष्टिकोण में शाश्वतता और व्यापक मानवता का अधिक मान है, इसी उसमें तिथियों का कम महत्त्व रह जाता है।

उपन्यास में व्यक्ति की अधिक प्रधानता के कारण वह जीवनी के अधिक निकट आता है किन्तु जीवनीकार इतिहासकार की भाँति सत्य से अधिक बँधा रहता है। उपन्यासकार सत्य का आदर करता हुआ भी अपने आदर्शों की पूर्ति तथा कथा को अधिक रोचक या प्रभावशाली बनाने के लिए कल्पना से काम ले सकता है। वह घटना के सत्य से नहीं बँधता वरन् संगति और सम्भावना से नियन्त्रित रहता है। इसलिए उपन्यास, जीवनी और काव्य के बीच की वस्तु है। कहीं-कहीं उसमें जीवन-सम्बन्धी मीमांसा का दार्शनिक तत्व भी आ जाता है। उसमें जीवनी-का-सा व्यक्तित्व का महत्त्व और सत्य का भी आग्रह रहता है किन्तु उसका सत्य का मान-दण्ड काव्य के मान-

उपन्यास की सीमाएँ

---

१. ये पंक्तियाँ Hudson के *An Introduction to Literature* (पृष्ठ १६६) की निम्नोलिखित पंक्तियों का अनुवाद है—

A Wit has said: "In fiction everything is true except names and dates; in history nothing is true except names and dates."

दण्ड से मिलता है। उसमें सत्य को सुन्दर और रोचक रूप में देखने की प्रवृत्ति रहती है। उपन्यास की चार सीमाएँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं। एक ओर वह इतिहास या जीवनी-की-सी वास्तविकता का अनुकरण करता है (व्यक्तित्व के साथ) दूसरी ओर उसमें काव्य-का-सा कल्पना का पुट, भावों का परिपोषण और शैली का सौन्दर्य रहता है। इसके साथ यदि एक ओर उसमें दार्शनिक-की-सी जीवन-मीमांसा और तथ्योद्घाटन की प्रवृत्ति रहती है तो दूसरी ओर उसमें समाचार-पत्रों-की-सी कौतूहल-वृत्ति और वाचालता भी रहती है।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास की दी हुई उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है—

परिभाषा

उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है—(साहित्यालोचन; पृष्ठ १८०)। मुंशी प्रेमचन्दजी उपन्यास को मानव-चरित का चित्र कहते हैं।

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"

—प्रेमचन्द—कुछ विचार; (पृष्ठ ३८)

New English dictionary को उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है—

'A fictions prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot'.

—The Quest for Literature by G. J. Shipley.

—पृष्ठ ३५४ से उद्धृत

अर्थात् एक लम्बे आकार की काल्पनिक कथा या प्रकथन है जिसके द्वारा एक कार्य-कारण शृंखला में बँधे हुए कथानक में वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया गया हो। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि *उपन्यास कार्य-कारण-शृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक वा काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।*

उपन्यास के तत्त्वों पर विचार करने से पूर्व हमको उपन्यासकार के गुणों पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि हर एक कलाकार उपन्यासकार नहीं बन सकता है।

उपन्यासकार के गुण

हेनरी फील्डिंग (सन् १७०७-१७५४) ने उपन्यासकार के चार गुण अपेक्षित माने हैं। सबसे पहला है प्रतिभा, इसकी भरपूर मात्रा में आवश्यकता है। इसके बिना तो कोई साहित्य-

सृजन हो ही नहीं सकता और न उसमें वह पारदर्शक दृष्टि आ सकती है जिससे कि मानव-हृदय के रहस्य को देख सके और उसका उद्घाटन कर सके। दूसरा गुण है विद्वता अर्थात् साहित्य और इतिहास का अध्ययन। यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे कलाकारों की नकल करे किन्तु फिर भी उनका अध्ययन आवश्यक है इसलिए कि उन लोगों ने जिन मानव-हृदय के रहस्यों का अध्ययन किया है उससे वह लाभ उठावे और उनको नई परिस्थितियों में खोजे। तीसरा गुण है, लोक-व्यवहार-ज्ञान। यह अध्ययन से नहीं वरन् निजी निरीक्षण से प्राप्त हो सकता है। उपन्यासकार को जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से परिचित होना वाँछनीय है। यह गुण मुन्शी प्रेमचन्द जी में भरपूर मात्रा में मौजूद था। चौथा है, सहृदयता जिसके बिना वह दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। दूसरों को रुलाने के पहले उसमें स्वयं रोने की क्षमता हो—**'जाके पाँय न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई'**। यदि उपन्यासकार के पैर में स्वयं बिवाई पड़ी हो तो बहुत अच्छा है। बिना बिवाई उत्पन्न हुए भी सहृदय बिवाइयों की पीर का अनुभव कर सकता है किन्तु यह अनुभव सस्ती भावुकता में न परिणत हो जाना चाहिए। उससे कलाकार को यथासम्भव बचना चाहिए।

उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास के तत्व थोड़े-बहुत मतभेद के साथ इस प्रकार पाये जाते हैं—(१) उपन्यास-वृत्त या कथावस्तु, (२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) वार्तालाप या कथोपकथन, (४) वातावरण, (५) विचार और उद्देश्य, (६) रस और भाव (७) शैली।

भिन्न-भिन्न उपन्यासकार अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुकूल भिन्न-भिन्न अंगों या तत्वों पर अधिक बल देते हैं। वास्तव में ये तत्व एक दूसरे से मिले रहते हैं और इनका एक दूसरे से अलग करना इतना ही कठिन है जितना कि किसी सुन्दर फूल से उसका रंग। आजकल के लोग कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक जोर देते हैं। संस्कृत-साहित्य में नाटक के तत्व का तो अच्छा विवेचन किया गया है किन्तु कथात्मक साहित्य के अधिक न होने से इस विषय पर उन्होंने कम लिखा है। दण्डी के काव्यादर्श आदि ग्रन्थों में कथा और आख्यायिका के भेद पर थोड़ा-बहुत विचार किया गया है। उपन्यास के तत्वों के सम्बन्ध में जो विचार हिन्दी ग्रन्थों में दिया गया है वह अधिकांश अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर है किन्तु आदर्शों के भेद और रुचि वैचित्र्य के कारण इन तत्वों के विवेचन में थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है। अब एक-एक तत्व का अलग-अलग विवेचन किया जायगा।

कथावस्तु

यद्यपि आजकल इस तत्व को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है तथापि यह उपन्यास का मूल है क्योंकि आखिर उपन्यास की गणना कथात्मक साहित्य में ही की जाती है। यह ही उपन्यास की भित्ति है जिस पर मनचाहे रंगों में चित्र अंकित किये जा सकते हैं। चित्रों की सुन्दरता में भित्ति का विशेष प्रभाव पड़ता है। उपन्यासकार का बहुत-कुछ कौशल उसके कथानक के चुनाव में है। यद्यपि वर्णन-कौशल द्वारा साधारण कथानक में भी सुन्दरता लाई जा सकती है तथापि रचना की उत्तमता अधिकांश में सामग्री की उत्तमता पर निर्भर रहती है। जो सुन्दर मूर्ति संगमरमर की गढ़ी जा सकती है वह खुरदरे कड़े पत्थर की नहीं। तुलसीदास जी की सफलता उनके चरित्र-नायक के चुनाव तथा वर्णन-कौशल में ही है। कथानक का विषय कहीं जीवन से मिलता है और कहीं इतिहास-पुराण आदि ग्रन्थों से। जीवन से लिए हुए कथानक में लेखक सहज ही में सजीवता ला सकता है। इतिहास के पात्रों में सजीवता लाने के लिए अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है। उपन्यास कथानक-घटनाओं का संकलन-मात्र नहीं है उनका कार्यकारण-शृंखला में बँधे हुए रूप में उपस्थित करना होता है जिससे कि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उन घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कर सके। यही शृंखलाबद्धता कथावस्तु के अँग्रेजी नाम प्लॉट (Plot) को सार्थकता प्रदान करता है।

अच्छे कथानक के गुण

२. कथानक का विषय चुनकर उसका उचित विन्यास उपन्यासकार का दूसरा कार्य है। वह देखता है कि कितना लिखे और कितना न लिखे। जो रक्खा जाये उसमें किस प्रकार से क्रम और कार्य-कारण की शृंखला स्थापित की जाये तथा उसे पाठकों की रुचि के अनुकूल बनाया जाये। क्रम और कार्यकारण-शृंखला ही उपन्यास-वृत्त का मूल है। यही बात उपन्यास को 'नानी की कहानी' से पृथक् करती है। उपन्यास के पढ़ने वालों में केवल कौतूहल की ही वृत्ति नहीं होती वरन् स्मृति और बुद्धि भी होती है। वे पूर्वापर सम्बन्ध लगाते हैं और उसकी युक्तिमत्ता तथा सम्भावना भी देखते हैं। पाठकगण अपने भावों और विचारों की पुष्टि के लिए मानसिक खाद्य चाहते हैं, इसके अतिरिक्त वे कथानक की रोचकता की भी अपेक्षा करते हैं। अच्छे कथानक के गुण नीचे दिये जाते हैं।

मौलिकता—अच्छे कथानक में मौलिकता, कौशल, संभवता, सुसंगठितता तथा रोचकता आवश्यक है। मौलिकता का प्रश्न बड़ा जटिल है। वैसे तो जितने उपन्यास हैं उन सबके कथानक पन्द्रह-बीस मूल समस्याओं में घटाये जा सकते हैं। अधिकतर उपन्यासों

में एक प्रेमी किसी को प्रेम करता है, फिर बाधाएँ उपस्थित होती हैं, कहीं पर वे बाधाएँ निरस्त कर दी जाती हैं और कहीं पर इतनी बढ़ जाती हैं कि दोनों ओर नैराश्य फैल जाता है। कभी मृत्यु तक हो जाती है और कभी संन्यास, समाज-सेवा आदि का सहारा लेकर नैराश्य को भुला दिया जाता है। कहीं पर त्याग की भावना अधिक दिखाई जाती है, तो कहीं पर स्वार्थ-साधन में चातुर्य की विशेषता। कुछ उपन्यासों में डाका, हत्या, चोरी आदि की खोज और कुछ में साहस के कार्य दिखलाये जाते हैं। यद्यपि आजकल उपन्यास के विषय का क्षेत्र बहुत-कुछ विस्तृत होता जाता है और उसमें विचार तथा विश्लेषण का पर्याप्त मात्रा में समावेश हो गया है तथापि अधिकांश उपन्यासों में उपर्युक्त बातों में से कोई-न-कोई बात अवश्य रहती है किन्तु इन्हीं बातों को दिखलाने के भिन्न प्रकार हैं। इन्हीं प्रकारों की भिन्नता में लेखक की मौलिकता है। एक ही भाव कई प्रकार से दरसाया जा सकता है, जैसे त्याग—कहीं तो धन-सम्पत्ति का, कहीं सिद्धान्तों का और कहीं महत्त्वाकांक्षाओं का। उसी प्रकार प्रेमियों का प्रथम दर्शन कई प्रकार से बतलाया जाता है। कोई तो नायक-नायिका का प्रथम मिलन बालक-बालिकाओं की क्रीड़ा में, जैसे गुड़ियों का घर बनाते हुए या रेत का भाड़ बनाते हुए दिखाते हैं (जैसे शरद बाबू के 'देवदास' में), कोई लेखक नायक-नायिका को ट्रामकार में मिलाते हैं, कोई तीर्थ-यात्रा में (यथा बा० जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' में) या दुर्घटना में (जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'नौका डूबी' में), तो कोई स्कूल या कालिज, सभा-सोसाइटी, व्याख्यान या सेवा-समिति में मिलाते हैं। ये सब प्रकार प्रत्येक देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल होते हैं। हमारे यहाँ समाज की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता में भी बालक-बालिकाओं में स्वतन्त्र प्रेम और एक दूसरे के प्रेमाकर्षण की इतनी लीला नहीं दिखाई जा सकती है जितनी कि पश्चिमी देशों के उपन्यासों में। हमारे देश की सामाजिक समस्याएँ योरोप की सामाजिक समस्याओं से भिन्न हैं। भारतवर्ष में जो सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा है वह योरोप में नहीं है। इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल लेखक वर्णन का नया ढंग रख सकता है। नई समस्याओं के उपस्थित होने पर नये विषय मिल जाते हैं। आजकल जैसे अछूतों का विषय नये लेखकों के लिए बड़ा उपजाऊ क्षेत्र बन गया है। वेश्याओं का उद्धार (जैसे प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' में), पूंजीपति और मजदूर (यथा मैक्सिम गोर्की के 'मदर' नामक उपन्यास में), राजा-प्रजा के सम्बन्ध (जैसे विक्टर ह्यूगो के 'ला मिज़रेबल्स' में), देश-विदेश की साहसपूर्ण यात्राएँ (जैसे स्टीवेन्सन के 'ट्रेजर आइलैन्ड' में) आदि विषय हिन्दी उपन्यासकारों की प्रतिभा को आकर्षित कर रहे हैं। बहुत से वैज्ञानिक और राजनीतिक विषय भी अपनाये जा सकते हैं। योरोप में प्रेतवाद को लेकर भी बहुत से उपन्यास लिखे गये हैं—मेरी कोरेली के उपन्यास 'दी माइटी एटम' में एक घोर नास्तिक का चित्र खींचा गया है, स्टीवेन्सन के 'डॉ० जैकेल एण्ड हाइड' में दुहरे व्यक्तित्व (Double Persona-

lity) का उदाहरण उपस्थित किया गया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' नाम के उपन्यास में एक विशेष आघात द्वारा पूर्व-जन्म की स्मृति जाग्रत कराई गई है। विषय की नवीनता हो तो बहुत अच्छी बात है किन्तु वर्णन का ढंग अवश्य नवीन होना चाहिए। समीक्षक इसी मौलिकता को देखता है। प्रेम का विषय बहुत विस्तृत अवश्य है और वह जीवन की एक मुख्य समस्या भी है किन्तु उसको छोड़कर भी संसार की बहुत सी और भी समस्यायें हैं। प्रेम में यह विशेषता अवश्य है कि उसका सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है और उसमें हाथी के पैर की भाँति जीवन की सब समस्याओं का समावेश होता है। जिस प्रकार मृत्यु जीवन का अन्त कर देती है उसी प्रकार विवाह जीवन की तैयारी है। सफल प्रेम में गृहस्थाश्रम की सफलता है। आजकल प्रेम का शाश्वत त्रिकोण (क ने ख को प्रेम किया और ख ने ग को तथा ग ने क को) ही उपन्यास का विषय नहीं रहा है। आजकल का जीवन बड़ा जटिल है। उसकी समस्यायें भी अनेक हैं, इसलिए मौलिकता के लिए बहुत गुँजाइश हो गई है। फ्रायड के प्रभाव से मनोविश्लेषण का बोलबाला हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में भी हो चुका है। इसके कारण उपन्यासकार के लिए एक नई तिलस्मी कोठरी का द्वार खुल गया है। हिन्दी उपन्यासों में गांधीवाद और मार्क्सवाद के सापेक्षित महत्त्व का भी विवेचन उपस्थित किया जाने लगा है।

कौशल—कौशल से अभिप्राय कथावस्तु में सम्बन्ध-निर्वाह, उसकी उलझनों को सुलझाने की चतुरता है। कौशल को उपन्यास या कथावस्तु का प्रधान अंग नहीं कह सकते। इस प्रकार के कौशल से बुद्धि तथा कौतूहल की तृप्ति और पुष्टि तो अधिक होती है किन्तु भाव-तत्त्व अथवा रागात्मिका वृत्ति का बहुत कम पोषण होता है और न चरित्र-चित्रण के लिए ही कुछ सामग्री मिलती है।

कुछ उपन्यासों के कथानक सादा होते हैं और कुछ के पेचीदा। पेचीदा कथानकों में विशेषकर उनमें जिनमें कि एक से अधिक कथा समानान्तर रूप से चलती है कौशल की बहुत आवश्यकता रहती है।

सम्भवता—सम्भवता कथानक का बहुत आवश्यक गुण है। असम्भव बात सुनने को कोई तैयार नहीं होता है। विरोध का आभास प्रिय होता है किन्तु वास्तविक विरोध रस का घातक है। तिलिस्मी उपन्यासकारों को भी सम्भवता का ख्याल रखना पड़ता था। उपन्यास में सम्भव ही सत्य की कसौटी है। 'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते।' आजकल यूरोप के उपन्यासों में प्रेतवाद आता है वह भी इसी कारण कि प्रेतवाद की बहुत-कुछ सम्भावना मनोवैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा प्रस्थापित हो गई है। इस युग में मनुष्य की बुद्धि का ही अधिक सहारा लिया जाता है, दैवी सहायता में लोग कम विश्वास रखते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि दैवी सहायता होती ही नहीं, दैवी सहायता

होती है किन्तु मानवी साधनों द्वारा, इसलिए उपन्यासकार को मानवी साधनों से बाहर न जाना चाहिए। कथानक की उलझनों को बौद्धिक उपकरणों द्वारा सुलझाना वाञ्छनीय है क्योंकि इस प्रकार सुलझाई हुई उलझनों में मनुष्य का गौरव बढ़ता है और उन्हीं को लोग अधिक रुचि से पढ़ते हैं।

लेखक को अपना घटना-क्रम ऐसा रखना चाहिए जिससे कि जैसे-जैसे कथानक का विकास होता जाये वैसे-वैसे ही सब बातों की व्याख्या भी होती जाये। पाठकों के मन में चाहे नैतिक समस्याएँ बनी रहें किन्तु इस बात की समस्या न रहे कि अमुक कार्य किसी पात्र ने क्यों किया। यह पहले ही बतला दिया गया है कि उपन्यास के पात्र जीवन के पात्रों से कुछ भिन्न होते हैं। जीवन के पात्रों की अपेक्षा उनके उद्देश्य और लक्ष्य अधिक स्पष्ट रहते हैं यदि नहीं होते हैं तो कर देने पड़ते हैं। उपन्यास के पात्र जब तक स्पष्ट रूप से पागल न दिखाये जाएँ तब तक वे अपनी प्रकृति के विरुद्ध काम नहीं करते। इसीलिए उपन्यासकार को लोक और शास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक है। अपने यहाँ देश-विरुद्ध और काल-विरुद्ध दूषण बतलाये गये हैं, वे कथा-साहित्य पर भी लागू हो सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में कालदूषण (Anachronism) का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। सम्भावना के साथ औचित्य का भी पूरा ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। जाड़ों में तनजेब का कुर्ता और गर्मी में ओवरकोट (यदि वह ठंडे प्रदेश में न हो) पात्र की विक्षिप्तता और उससे बढ़कर लेखक की विक्षिप्तता का परिचय देगा।

उपन्यास में सत्य की कसौटी सम्भावना ही है। उपन्यास एक कलाकृति है। उसमें सत्य का सुन्दर रूप से प्रदर्शन किया जाता है। इस कारण उपन्यास घटनात्मक सत्य से नहीं बँधता किन्तु वह कोई ऐसी बात भी नहीं कहता जो सम्भव और घटनीय न हो—**'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते'**। उपन्यास की काल्पनिक घटनाएँ भी वास्तविक घटनाओं की प्रतिच्छाया होती हैं। यही बात उपन्यास को दन्त-कथाओं से पृथक् करती है। परी लोक की कथाओं (Fairy Tales) में सम्भावना का प्रश्न नहीं उठता है। उनमें कल्पना ही वास्तविकता होती है किन्तु उपन्यास में कल्पना वास्तविकता का अनुसरण करती है किन्तु उसकी मक्खीमार नकल नहीं करता। कलाकार फोटोग्राफर नहीं वरन् चित्रकार होता है। वास्तविकता में संकुलता के कारण बहुत से रंग हलके दिखाई देते हैं। साधारण लोग पर्याप्त सहृदयता के प्रभाव के कारण अपने को उस कोने में नहीं रख सकते जहाँ से सत्य की सुन्दरतम झाँकी मिल सके। उपन्यास हलके रंगों की रूपरेखा स्पष्ट करता है और पाठक को भी ऐसे कोने पर ले आने का प्रयत्न करता है जहाँ से वह सत्य के उसके सुन्दर रूप में दर्शन कर सके। साधारण मनुष्य जिन बातों में बेखबर रहता है कलाकार उनके विषय में सचेत रहता है। वह चलती दुनिया के

परिवर्तनशील दृश्यों में शाश्वतता को पकड़ता है । उसकी दृष्टि व्यापक होती है । वह ऐसा चित्र देता है जिसमें मनुष्य का आत्म-भाव निखर आये । उसके चरित्र के आवश्यक पहलू प्रकाश में आ जायँ । उपन्यासकार जीवन पर आधारित चित्र देता है किन्तु वह चित्र ऐसा होता है जिसके आलोक में हम जीवन को अच्छी तरह समझ सकें । वह चित्र के साथ पाठक को एक पारदर्शक चश्मा भी देने का प्रयत्न करता है । कलाकार जीवन का सत्य ही नहीं देता है वरन् सत्य के हार्द समझने की दृष्टि भी देता है ।

संगठितता—उपन्यास एक कला-कृति है । यद्यपि जीवन का प्रवाह किसी कटे-छटे ढाँचे के अनुकूल नहीं है तथापि उपन्यास के कथानक में संगठन, क्रम और संगति का होना आवश्यक है । आजकल अंग्रेजी भाषा में कुछ उपन्यास ऐसे लिखे गये हैं कि जिनमें जीवन का ब्यौरा पूरा-पूरा दिया गया है और वे पूरे जीवन की सिनेमा-रील से बन जाते हैं किन्तु वे नियम नहीं कहे जा सकते वरन् अपवाद ही माने जायँगे । अधिक ब्यौरा देने के कारण आजकल के उपन्यास में समय का विस्तार संकुचित कर दिया जाता है अर्थात् उसका सम्बन्ध वर्षों की घटनाओं से नहीं वरन् एक या दो दिन का ही होता है (जेम्स जॉयस का उलीसस' नामक उपन्यास इसका उदाहरण है) ।

संगठन से अभिप्राय यह है कि न तो कोई आवश्यक बात छूटे और न कोई अनावश्यक बात आये । इसके साथ यह भी वाञ्छनीय है कि घटनाएँ कार्य-कारण-शृङ्खला में बँधकर क्रमागत रूप में दिखाई दें । कार्य-कारण-शृङ्खला में बँधना ही घटना-चक्र को कथावस्तु का रूप देता है । बहुत से कथानकों में दो कथाएँ साथ-साथ चलती हैं अथवा अनेक घटनाओं का गुम्फन किया जाता है । कलाकार का कौशल इस बात में है कि वे सब घटनाएँ एक दूसरे के साथ कार्य-कारण-शृङ्खला में बँधी हुई साथ-साथ चलें और टूटी हुई माला के दानों की भाँति विच्छिन्न न दिखाई पड़ें । इस गुण की भी आजकल उपेक्षा होने लगी है । बहुत से कथानकों में एकसूत्रता केवल इसी बात की रहती है कि वे एक ही पात्र से सम्बन्धित हैं ('अज्ञेय' जी का 'शेखर—एक जीवनी' नामक उपन्यास इसका उदाहरण है) ।

संगठन के साथ ही क्रम और संगति का भी प्रश्न लगा हुआ है । हम घटनाओं को काल-क्रम अथवा स्थान-क्रम में ही ले सकते हैं । क्रम, वर्णन के सौष्ठव तथा कथानक के समझने के लिए और संगति, कथा-वस्तु की एकता और पात्रों के व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक है किन्तु इन गुणों को सीमा के भीतर ही रहना चाहिए । संगठन क्रम और संगति का आधिक्य कथा-वस्तु की कृत्रिमता का आभास देने लगता है । कथावस्तु में जीवन-की-सी स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता वाञ्छनीय है किन्तु इसको उच्छृङ्खलता की सीमा तक न ले जाना चाहिए । यहाँ पर भी मध्यम मार्ग का अनुसरण करना श्रेयस्कर है ।

रोचकता—रोचकता जीवन के लिए चाहे आवश्यक न हो किन्तु उपन्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जीवन में ऊब पैदा करने वाली वस्तुओं से कभी-कभी भाग नहीं सकते हैं और न हमेशा जी उबाने वाली बात चीत को टाल सकते हैं किन्तु उपन्यास को हम बन्द करके रख सकते हैं। यदि उसकी अरोचकता की कुख्याति फैल जाय तो उसकी बिक्री भी बन्द हो सकती है। रोचकता के लिए कौतूहल और नवीनता आवश्यक है। एक बार कौतूहल यदि शान्त हो गया तो उसका दुबारा जाग्रत करना कठिन हो जाता है। पुनरुक्ति तो आजकल लोग राम-नाम की भी पसन्द नहीं करते हैं, कथानक की बात ही क्या है। क्षण-क्षण में नवीनता प्राप्त करते रहना सौन्दर्य का व्यापक गुण है। 'नाविल' (Novel) शब्द का ही अर्थ है नवीन। उपन्यास में रोचकता बनाये रखने के लिए उपन्यासकार को चाहिए कि वह घटनाओं को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखता भी आकस्मिक और अप्रत्याशित को कथानक में स्थान दे। वह अप्रत्याशित ऐसा हो जो कार्य-करण-शृङ्खला से बाहर न होता हुआ भी पाठक की कल्पना से बाहर हो। इसलिए उपन्यासकार को अपने पात्रों का परिचय क्रमागत रूप से कराना चाहिए। उसका कौशल इस बात में है कि वह ऐसी कोई बात तो छिपाये नहीं कि जिसके कारण घटनाओं के समझने में बाधा पड़े किन्तु वह सब बात एक साथ भी न कह दे कि जिससे आगे जानने की उत्सुकता न रहे। पाठकों को जितना वह बतलावे इस ढग से बतलावे कि उत्सुकता जाग्रत होती जाय। यद्यपि जीवन में बहुत से आकस्मिक संयोग होते हैं और ठीक अवसर पर वाञ्छित व्यक्ति कहीं-न-कहीं से आ जाता है तथापि इस बात का सहारा लेकर उपन्यासकार को हर समय ऐसे संयोग को न लाना चाहिए। उनके बाहुल्य से कृत्रिमता दिखाई देने लगती है। रोचकता के लिए न तो अधिक ब्यौरे की आवश्यकता है और न उसकी उपेक्षा की। विविधता में एकता का गुण शैली का ही प्राण नहीं है वरन् रचना-मात्र का जीवन-रस है।

कथानक के रूप—उपन्यास का कथानक कई प्रकार से लिखा जा सकता है—

(१) एक द्रष्टा द्वारा कही हुई कथा के रूप में, जैसे मुन्शी प्रेमचन्द जी का 'सेवा-सदन', श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विकास'।

(२) आत्मकथा के रूप में, जैसे सियारामशरण का 'अन्तिम आकांक्षा' नामक उपन्यास।

(३) पत्रों के रूप में, जैसे उग्रजी के 'चन्द हसीनों के खतूत' और अनूपलाल मंडल का 'समाज की वेदी पर'।

आत्मकथा के रूप में जो उपन्यास लिखे जाते हैं उनमें उपन्यासकार को अपनी ओर से कुछ कहने की गुञ्जाइश नहीं रहती है। इसमें एक गुण अवश्य आ जाता है, वह यह कि कभी-कभी हमको उपन्यासकार की सर्वज्ञता पर जो सन्देह होने लगता है वह

इसमें नहीं होता क्योंकि आत्मकथा-लेखक अपने विषय में तो सब कुछ जानता ही है। अन्य व्यक्तियों के विषय में नायक उतना ही कहता है जितना कि साधारण मनुष्य जीवन में दूसरे व्यक्तियों के बारे में जानते हैं।

चरित्र-चित्रण

यदि उपन्यास का विषय मनुष्य है तो चरित्र-चित्रण उपन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व उसके चरित्र में है। चरित्र के ही कारण हम एक मनुष्य को दूसरे से पृथक् करते हैं। चरित्र द्वारा ही हम मनुष्य के आपे (Personality) को प्रकाश में लाते हैं। चरित्र में मनुष्य का बाहरी आपा और भीतरी आपा दोनों ही आ जाते हैं। बाहरी आपे में मनुष्य का आकार-प्रकार, वेश-भूषा, आचार-विचार, रहन-सहन, चाल-ढाल, बातचीत के विशेष ढंग (तकिया-कलाम, सम्बोधन आदि) और कार्य-कलाप भी आ जाता है। भीतरी आपा इन सब बातों से अनुमेय रहता है। पात्र के भीतरी आपे का चित्रण बाहरी आपे के चित्रण से कहीं अधिक कठिन होता है। उसकी बाहरी परिस्थितियों के प्रति संवेदनशीलता, उसके राग-विराग, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ, उसके अन्ध विश्वास, पक्षपात, मानसिक संघर्ष, दया, करुणा, उदारता आदि मानवी गुण अथवा नृशंसता, क्रूरता, अनुदारता आदि दुर्गुण सभी बातों का चित्रण रहता है। पात्र अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ समाज में आता है। सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति के गुण प्रकाश में आते हैं और उनका विकास भी होता है। व्यक्ति अपने निजी गुणों और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिफलन होता है। चरित्र-चित्रण की अच्छाई और बुराई चरित्र को जीता-जागता बनाने, उसे विशिष्टता और व्यक्तित्व प्रदान करने तथा उसका उत्थान-पतन दिखाने में है, उतनी नैतिक अच्छाई-बुराई दिखाने या विवेचन करने में नहीं। बुरे पात्र के चरित्र-चित्रण की अच्छाई उसकी बुराई के ही सफल उद्घाटन में है—'सुधा सराहिए अमरता गरल सराहिए मीचु'। उपन्यासकार जब एक बार पात्रों की सृष्टि कर लेता है तब वे अपनी चारित्रिक विशेषताओं के अनुकूल ही काम करते हैं। फिर यदि वह उनको अपनी इच्छाओं के अनुकूल चलाना चाहे तो उनकी सजीवता में अन्तर आ जायगा। सजीव पात्र कठपुतली की भाँति सूत्र-सञ्चालित नहीं हो सकते।

महत्त्व

चरित्रों के प्रकार—चरित्रों के विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न प्रकार होते हैं। चरित्रों में एक मुख्य भेद तो सामान्य या वर्गगत (Type) और व्यक्ति का है। जो पात्र अपनी जाति के प्रतिनिधि होते हैं, वे टाइप, या सामान्य, वर्गगत या प्रतिनिधि-पात्र कहे जायँगे—जैसे 'गोदान' के राय साहब—वे अपनी जाति अर्थात् जमींदारों के प्रतिनिधि

हैं। प्रायः बड़े जमींदार ऐसे ही होते हैं। उन पात्रों के प्रतिरूप बहुत से मिल जाते हैं। व्यक्तित्व-प्रधान पात्र वे होते हैं जो अपनी निजी विशेषता लिये समाज में आते हैं। वे साधारण लोगों से कुछ विलक्षण होते हैं। जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न या सुनीता, अज्ञेयजी का शेखर इसी प्रकार के पात्र हैं। वास्तव में न कोई पात्र नितान्त सामान्य होता है और न नितान्त व्यक्तित्वप्रधान। किसी में सामान्य गुण अधिक होते हैं और किसी में विशेष गुण। व्यक्ति को जो गुण समाज से मिलते हैं वे उसके सामान्य गुण कहे जाते हैं और जो वह अपने साथ लाता है वे विशेष। सामान्य और विशेष गुणों के सफल सम्मिश्रण में ही चरित्र-चित्रण की सफलता है। पात्र में न तो इतनी सामान्यता होनी चाहिए कि उसमें व्यक्तित्व ही न रहे और न इतनी विशेषता कि वह सनकी बन जाय। यदि सनकी पात्र का ही चित्रण करना हो तो दूसरी बात है किन्तु सनकी पात्र एक ही हो सकता है। दुनिया में सब सनकी नहीं होते।

चरित्रों का दूसरा विभाजन स्थिर और गतिशील या परिवर्तनशील का है। स्थिर चरित्रों में बहुत कम परिवर्तन होता है और गतिशील चरित्रों में उत्थान और पतन अथवा पतन और उत्थान दोनों ही बातें होती हैं। सुनीता, हरिप्रसन्न, होरी ये सब स्थिर पात्र हैं किन्तु 'सेवासदन' की सुमन और सदन अथवा 'ग़बन' की जालपा और उसका पति रामनाथ गतिशील हैं। इनका पतन भी होता है और उत्थान भी।

उपन्यासकार कई प्रकार से चरित्र-चित्रण कर सकता है, स्वयं अपनी ओर से पात्र का वर्णन करके अथवा पात्रों के भाषण या क्रिया-कलाप द्वारा। इन सभी विधियों द्वारा हम पात्रों का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ उपन्यासकार स्वयं चरित्र पर प्रकाश डालता है, उस विधि को विश्लेषात्मक (Analytical) कहते हैं और जहाँ वह स्वयं नहीं करता है वरन् पात्रों द्वारा अथवा उसके वार्तालाप या क्रिया-कलाप से कराया जाता है उसे नाटकीय या अभिनयात्मक (Dramatic) या परोक्ष कहते हैं।

चित्रण की विधियाँ

नाटकों में चरित्र-चित्रण दूसरे प्रकार का ही होता है। उनमें नाटककार का अस्तित्व प्रकाश में नहीं आता है। वह अपनी ओर से कुछ नहीं कहता है वरन् जो कुछ उसे कहना होता है वह पात्रों द्वारा ही कहलाता है। कभी-कभी पात्र अपने चरित्र का स्वयं भी विश्लेषण कर देता है। यह भी नाटकीय विधि कहलायगी। आजकल नाटकीय विधि का ही अधिक प्रचलन है। इस प्रकार के चित्रण में पात्रों के चरित्र के समझने और मूल्याङ्कन करने में पाठक की स्वतन्त्रता रहती है। नाटककार न तो सर्वज्ञ बनता है और न वह पाठकों पर अपना मत लादना चाहता है। उसके पात्र भी स्वतन्त्र रहते हैं और पाठक भी। विश्लेषात्मक पद्धति कभी-कभी गुत्थियाँ सुलझाने में सहायक होती है किन्तु उसकी अतिशयता अच्छी नहीं। उपन्यासकार को बार-बार बीच में आ जाने से एक तो कथा-

प्रवाह में बाधा पड़ती है और दूसरे पाठक भी कथा का आस्वाद स्वयं चर्वण करके नहीं ले पाते हैं। उनकी पाचन-शक्ति इतनी दुर्बल नहीं होती है कि उनको पूर्व-पाचित खाद्य मिले। जिस प्रकार मनुष्य अपने साथियों का परिचय रहन-सहन से ही प्राप्त करना चाहते हैं वैसे ही उपन्यास-जगत् के पात्रों का भी परिचय उनके क्रिया-कलाप और वार्तालाप द्वारा ही प्राप्त करना चाहते हैं। चरित्र-चित्रण में वार्तालाप के साधन को सावधानी से काम में लाना चाहिए। वार्तालाप और कार्य ऐसे ही होने चाहिएँ जिनमें चरित्र की कुञ्जी निहित हो।

विश्लेषात्मक विधि का उदाहरण—गोदान में मुन्शी प्रेमचन्द जी मिस्टर खन्ना और मिर्जा खुर्शेद के चरित्र के सम्बन्ध में अपनी राय इस प्रकार जाहिर करते हैं—

"मिस्टर खन्ना भी साहसी आदमी थे, संग्राम में आगे बढ़ने वाले, दो बार जेल हो आये थे। किसी से दबना न जानते थे। खद्दर पहनते थे; और फ्रांस की शराब पीते थे। अवसर पड़ने पर बड़ी-बड़ी तकलीफें झेल सकते थे। जेल में शराब छुई तक नहीं, और 'ए' क्लास में रहकर 'सी' की रोटियाँ खाते रहे, हालांकि उन्हें हर तरह का आराम मिल सकता था; मगर रण-क्षेत्र में जाने वाला रथ भी तो बिना तेल के नहीं चल सकता। उनके जीवन में थोड़ी रसिकता लाज़िमी थी।"

—गोदान (पृष्ठ ११८)

"मिर्जा खुर्शेद के लिए भूत और भविष्य सादे कागज की भाँति था। वह वर्तमान में रहते थे। न भूत का पछताना था, न भविष्य की चिन्ता। जो कुछ सामने आ जाता था उसमें जी-जान से लग जाते थे। मित्रों की मण्डली में वह विनोद के पुतले थे। कौंसिल में उनसे ज्यादा उत्साही मेम्बर कोई न था ..... गुस्सेवर भी ऐसे थे कि ताल ठोककर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत् करते थे, लेकिन जहाँ किसी ने शान दिखाई और यह हाथ धोकर उसके पीछे पड़े। न अपना लेना याद रखते थे, न दूसरों का देना। शौक था शायरी और शराब का ....।'

—गोदान (पृष्ठ १२४, १२५)

मिर्जा साहब के बाहरी आपे, आकार-प्रकार और रहन-सहन का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

"मिर्जा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे, भूरी-भूरी मूंछे, नीली आँखें, दुहरी देह, चाँद के बाल सफाचट। छकलिया अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहनते थे। ऊपर से हैट लगा लेते थे। वोटिङ्ग के समय चौंक पड़ते थे और नेशनलिस्टों की तरह से वोट देते थे। सूफी मुसलमान थे। दो बार हज कर आये थे, मगर शराब खूब पीते थे।"

—गोदान (पृष्ठ ८२)

नाटकीय विधि का उदाहरण—इस प्रकार के चित्रण में दो प्रकार के उदाहरण

मिलते हैं, पहले वे जिनमें कि पात्र स्वयं अपने चरित्र का परिचय दे देता है और दूसरे वे जिनमें दूसरे पात्र किसी के विषय में अपना मत प्रकट कर उसका चरित्र-चित्रण करते हैं, दोनों ही प्रकार के उदाहरण 'गोदान' से यहाँ पर दिये जाते हैं।

(१) रायसाहब अपने बारे में कहते हैं—

"मेरी ओर ! मैं उस रसिक-समाज से बिलकुल बाहर हूँ मिस्टर खन्ना, सच कहता हूँ। मुझ में जितनी बुद्धि, जितना बल है, वह इस इलाके के प्रबन्ध में ही खर्च हो जाता है। मेरे सारे भाई शराब-कबाब में मस्त थे। मैं अपने को रोक न सका। जेल गया और लाखों रुपये की जेरबारी उठाई, और अभी तक उसका तावान दे रहा हूँ। मुझे उसका पछतावा नहीं है, बिलकुल नहीं। मुझे उसका गर्व है। मैं उस आदमी को आदमी नहीं समझता जो देश और समाज की भलाई के लिये उद्योग न करे, और बलिदान न करे। मुझे क्या यह अच्छा लगता है कि निर्जीव किसानों का खून चूसूँ और अपने परिचय वालों की वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटाऊँ मगर करूँ क्या ? जिस अवस्था में पला और जिया, उससे घृणा होने पर भी उसका मोह त्याग नहीं सकता।" —पृष्ठ ११७

(२) मेहता जी के चरित्र का कुछ आभास हमको राय साहब और खन्ना जी के इस वार्तालाप से मिलता है—

बोले—'मेहता कुछ अजीब आदमी है, मुझे तो कुछ बना हुआ-सा मालूम होता है।'

बोले—'मैं तो उन्हें केवल मनोरंजन की वस्तु समझता हूँ। कभी उनसे बहस नहीं करता और करना भी चाहूँ तो इतनी विद्या कहाँ से लाऊँ ? जिसने जीवन के क्षेत्र में कभी कदम भी नहीं रक्खा वह अगर जीवन के विषय में कोई नया सिद्धान्त अलापता है, तो मुझे उस पर हँसी आती है।'

'मैंने सुना है चरित्र का अच्छा नहीं है।'

'बेफिक्री में चरित्र अच्छा रह ही कैसे सकता है। समाज में रहो और समाज के कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करो तब पता चले।' —पृष्ठ ११७

कथावस्तु और पात्रों में किसी एक को महत्ता दी जाय या दोनों को एक दूसरे के ऊपर आश्रित रक्खा जाय, यह उपन्यासकार के लिए महत्त्व का प्रश्न है। कथावस्तु का यदि पहले से निर्माण कर लिया जाता है तो उसमें पात्र स्वतन्त्र नहीं रहते हैं और यदि केवल पात्रों पर ही कथा का विकास छोड़ दिया जाता है तो उसमें सङ्गठन और अन्विति का अभाव हो जाता है। इसमें एक दार्शनिक प्रश्न भी लगा हुआ है, वह यह कि सृष्टि का विकास हम पूर्व निर्धारित मानते हैं अथवा स्वतन्त्र ? जो लोग कथावस्तु

कथावस्तु और पात्र

को मुख्यता देते हैं वे उन लोगों की भाँति हैं जो सृष्टि के विकास को पूर्व निर्धारित मानते हैं और जो लोग पात्रों को महत्ता देते हैं वे उन लोगों की भाँति हैं जो सृष्टि के व्यक्तियों में संकल्प की स्वतन्त्रता मानते हैं। सृष्टि-क्रम को पूर्व-निर्धारित मानने से व्यक्ति अन्यथा करने में असमर्थ हो जाता है। पूर्व-निर्धारित क्रम के अनुकूल कथा को चलाने में एक दोष यह भी आ जाता है कि कभी-कभी पात्रों को अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करने पड़ते हैं। अंग्रेजी लेखकों तथा हिन्दी लेखकों ने भी उपन्यास के पात्रों द्वारा उपन्यासकार के प्रति विद्रोह कराया है। इस सम्बन्ध में श्री नगेन्द्र जी की 'विचार अनुभूति' नामक पुस्तक में 'वाणी के न्याय-मन्दिर' शीर्षक वार्तालाप में और 'प्रेमाश्रम' के एक पात्र ज्ञानशंकर द्वारा वीणापुस्तकधारिणी भगवती शारदा के न्याय-मन्दिर में प्रेमचन्द के प्रति कई अभियोग लगवाये गये हैं। उसका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"उनका उद्देश्य यही रहा है कि स्वाभाविक या अस्वाभाविक रीति से मुझको नीचा दिखाया जाय। इसके लिए वे बराबर मेरे चरित्र की कालिमा को खूब गहरे रङ्ग में लोगों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता है कि इस प्रकार वे प्रायः परस्पर विरोधी बातें कर रहे हैं। इसीलिए मेरे चरित्र-चित्रण में विरोधी तत्वों का अस्वाभाविक मिश्रण है।"

—विचार और अनुभूति (पृष्ठ ११५)

× × ×

"मेरा अन्तिम और सबसे बड़ा अभियोग यह है कि उन्होंने मुझे बरबस आत्म-हत्या के घृणित अभिशाप का भागी बनाया जो मेरे प्राणवान् व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल है। मेरे हृदय में जीवन के प्रति असीम अनुराग है। जीवन के उपयोग के लिए मेरे मन में सदैव अदम्य उत्साह रहा है। मैंने एक पुरुषार्थी की भाँति जीवन की विषमताओं को पदाक्रान्त किया है। जीवन में एक बार भी मैंने उनके सम्मुख मस्तक नहीं झुकाया। बस, इसीलिए मेरे जन्मदाता ने मुझे जाकर गङ्गा में डुबो दिया क्योंकि उनकी इच्छाओं का दास नहीं बन सका।" —वही (पृष्ठ ११६)

ज्ञानशङ्कर की शिकायतों का सारांश यह है कि उसको प्रेमचन्द जी की गान्धीवादी नीति का शिकार बनना पड़ा है। 'प्रेमाश्रम' के तथाकथित नायक प्रेमशङ्कर के व्यक्तित्व को जो गांधीवादी आदर्श, त्याग और अहिंसा का निर्जीव प्रतीक-मात्र है, ऊँचा दिखाने के लिए ज्ञानशङ्कर के व्यक्तित्व को काला कर दिया गया है। ज्ञानशङ्कर के अभियोगों द्वारा हमको चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी कई तथ्य मिलते हैं। उपन्यासकार को किसी पात्र विशेष के प्रति अनुचित मोह न दिखाना चाहिए, कम-से-कम इतना तो नहीं कि वह दूसरों के साथ अन्याय कर बैठे।

वास्तव में कथावस्तु को उपन्यासकार नहीं वरन् पात्र बनाते हैं । पात्रों को उपन्यासकार जन्म देता है । उपन्यासकार कथावस्तु द्वारा उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर देता है जिनसे कि चरित्र प्रकाश में आये । परिस्थितियाँ भी आसमान में नहीं उतरतीं वरन् वे भी पात्रों के क्रिया-कलाप से उपस्थित होती हैं । अच्छे उपन्यास में कथानक की परिस्थितियों और पात्रों के व्यक्तित्व में आदान-प्रदान रहता है । वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । विकासशील पात्र परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होते हैं । स्थिर पात्र जहाँ के तहाँ बने रहते हैं । उपन्यासकार को चाहिए कि पात्रों की प्रकृति के अनुकूल उनको अपनी निजी प्रेरणाओं के अनुसार चलने दें । उनके व्यक्तित्व को कथानक के पूर्वनिर्दिष्ट फल के लिए नष्ट कर देना व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा । उनके चरित्र से जैसा कार्य विकसित हो सके उनसे वैसा ही काम लेना चाहिए । उपन्यासकार चाहे जो कुछ हो किन्तु उसे इस बात को न भूलना चाहिए कि दुनिया में सब एक ही टाइप के लोग नहीं होते हैं ।

अन्य आवश्यक गुण

चरित्र-चित्रण में संगति भी होना आवश्यक है । चरित्र को बिना कारण बदलना उचित नहीं है; उसका परिवर्तन उपन्यासकार की इच्छा पर न निर्भर रहकर परिस्थितियों पर निर्भर रहना वाञ्छनीय है । चरित्र को स्वयं अपने से सङ्गत रहना चाहिए और परिस्थितियों और घटनाओं से भी । 'गबन' की घटनाएँ रमा के चरित्र के ही फलस्वरूप उपस्थित हुई हैं । यद्यपि चरित्र जितना संकुल और पेचीदा होगा उतनी ही उसमें सङ्गति कम होगी तथापि सङ्गति के नियम की उपेक्षा नहीं की जा सकती है । असङ्गति में भी एक प्रकार की सङ्गति रह सकती है ।

चरित्र-चित्रण के गुणों में संगति के साथ सजीवता और स्वाभाविकता भी आवश्यक है । संगति इस सीमा तक न हो कि पात्र बिलकुल मशीन बन जाय । उसके कार्यों की विविधता होना ही उसमें ऊब पैदा करने से सुरक्षित रक्खेगा किन्तु जो कार्य हो वे चरित्र और परिस्थितियों के अनुकूल हों, इसी को स्वाभाविकता कहते हैं ।

'गोदान' में मेहता का खान बनना कुछ अस्वाभाविक सा है । यद्यपि खान का दृश्य बड़ा सजीव है तथापि वह सजीवता उस पात्र के स्वभाव के कुछ विरुद्ध पड़ती है । फिर यह भी नहीं समझ में आता कि रोज के साथ बैठने वाले आदमी की आवाज भी नहीं पहचानी गई ।

कथोपकथन

कथोपकथन का सम्बन्ध कथावस्तु तथा पात्र दोनों से ही है । वार्तालाप प्रायः

पात्रों के व्यक्तित्व के उद्घाटन और कथा-क्रम के विकास के लिए होता है। वार्तालाप में भी चुनाव की आवश्यकता है। जो वार्तालाप कथानक को अग्रसर नहीं करता या चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता वह चाहे जितना सजीव हो, उपयुक्त न होगा।

आवश्यक गुण

कथोपकथन परिस्थिति और पात्र के बौद्धिक विकास के अनुकूल होना चाहिए। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के कथोपकथन पात्रानुकूल हैं, यहाँ तक कि यह गुण कहीं-कहीं दोष भी हो गया है और इस पर बख्शी जी जैसे आलोचक ने आपत्ति भी उठाई है कि यदि कोई पात्र चीनी हो तो क्या मुन्शी प्रेमचन्द जी चीनी में बुलवायेंगे। वास्तव में भाषा का बदलना एक निश्चित सीमा के भीतर होता है। एक ही भाषा के भीतर बोलने वालों के बौद्धिक विकास के अनुकूल भी कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। मुन्शी प्रेमचन्द जी के पुलिस के पात्रों की उर्दू भी हिन्दी का ही रूप है। कुछ स्थलों में वह अवश्य दुरूह हो गई है। इसके विपरीत प्रसादजी के पात्रों की भाषा एकरस रहती है। 'कंकाल' के सभी पात्र संस्कृत-गर्भित भाषा बोलते हैं। वह उन पात्रों की भाषा नहीं है वरन् प्रसाद जी की भाषा है।

कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नहीं होनी चाहिए वरन् उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना वाञ्छनीय है। लेखक कभी-कभी अपने निजी सिद्धान्तों के उद्घाटन और गूढ़ तथा विशेष ज्ञान के प्रदर्शन का मोह संवरण नहीं कर सकते हैं। उन सिद्धान्तों के उद्घाटन के लिए वैसे ही पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए।

पात्रानुकूल वैचित्र्य के साथ ही उसमें स्वाभाविकता, सार्थकता, सजीवता और लाघव (संक्षिप्तता) के गुण होना वाञ्छनीय हैं।

वातावरण

कथानक को वास्तविकता का आभास देने के साधनों में वातावरण मुख्य है। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश-काल के बन्धन में रहते हैं। यदि वे भगवान् की भाँति देश-काल के बन्धनों से परे हों तो वे भी हम लोगों के लिए अभेद्य रहस्य बन जायँगे, इसलिए देश-काल का भी वर्णन आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति के निर्माण में वातावरण का बहुत कुछ हाथ होता है, जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नहीं देता उसी प्रकार बिना देश-काल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटना-क्रम के समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता होती है। आजकल बढ़ते हुए वस्तुवाद के समय में देश-काल का महत्त्व और भी बढ़ गया है। लेकिन देश-काल में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। कलकत्ते की सड़कों का हम बिना

आवश्यकता

कलकत्ता देखे वर्णन नहीं कर सकते। ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल का वर्णन विशेष रूप से आवश्यक होता है और प्राचीनकाल को जैसा-का-तैसा अवतरित कर देना इतिहास और पुरातत्व के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुण्डार' में बुन्देलखण्ड का चित्रण वहाँ के इतिहास से सम्बन्धित होने के कारण पठनीय है। कुछ स्थान विशेष रूप से वीरता के उद्दीपक हैं तो कुछ भयानक के घटनाओं के उपस्थित होने पर स्थल का विशेष महत्त्व रहता है। स्टीविन्सन ने लिखा है कि 'कुछ अन्धकारमय उपवन हत्या का आवाहन करते प्रतीत होते हैं, कुछ पुराने मकान भूत-प्रेतों के अस्तित्व की माँग करते हैं और कुछ भयानक समुद्रतट जहाजों के टकराने के लिए पहले से ही निर्धारित कर दिये गये हैं (Certain dark gardens cry aloud for murder. Certain old houses demand to be haunted. Certain coasts are set apart for ship-wrecks.)' जो वस्तु जहाँ की उपज नहीं उसका वहाँ दिखाना अथवा जो प्रथा जिस काल में प्रचलित न थी उसका उस काल में चित्रित करना भारतीय समीक्षा-शास्त्र में क्रमशः देश और काल-विरुद्ध दूषण माने गये हैं। आगरा की सड़कों पर देवदारु के वृक्षों को दिखाना अथवा शिमला में लू चलने या करील की कुंजों का वर्णन करना देश-विरुद्ध दूषण होगा और अकबर के समय में उनके किसी मुसाहिब को टाई सम्हालते हुए दिखाना काल-विरुद्ध दूषण होगा। श्री किशोरीलाल गोस्वामी जी के उपन्यासों के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी ने ऐतिहासिक ज्ञान की कमी दिखाते हुए लिखा है—

"गोस्वामीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न-भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसन्धान नहीं सूचित होता। कहीं-कहीं तो काल-दोष तुरन्त ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहाँ जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास (पृष्ठ ४३५)

देश-काल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे, स्वयं साध्य न बन जाय। जहाँ देश-काल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहाँ उससे जी ऊबने लगता है, लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथा-सूत्र को ढूँढ़ने लग जाते हैं। देश-काल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए।

देश-काल वातावरण का बाहरी रूप है। वातावरण मानसिक भी हो सकता है। आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है वैसा ही वह काम करने लग जाता है। प्राकृतिक चित्रण भी उद्दीपन रूप से पात्रों को मानसिक स्थिति या मूड (Mood) को निश्चित करने में सहायक होते हैं। प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामाञ्जस्य

पाठक पर अच्छा प्रभाव डालता है और उपन्यास में काव्यत्व भी ले आता है, जैसे किसी के मरते समय दीपक का बुझ जाना, सूर्य का अस्त हो जाना अथवा घड़ी का बन्द हो जाना वातावरण में अनुकूलता उत्पन्न कर शब्दों को एक विशेष शक्ति प्रदान कर देता है। इस सम्बन्ध में मुन्शी प्रेमचन्द जी के 'निर्मला' से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

"उसी समय जब पशु-पक्षी अपने-अपने बसेरे को लौट रहे थे, निर्मला का प्राण-पक्षी भी दिनभर शिकारियों के निशानों, शिकारी चिड़ियों के पञ्जों और वायु के प्रचण्ड झोंकों से आहत और व्यथित अपने बसेरे की ओर उड़ गया।"

—निर्मला (पृष्ठ १८९, १९०)

जिस प्रकार अनुकूलता प्रभाव को बढ़ाती है उसी प्रकार कभी-कभी प्रतिकूलता भी प्रभाव को तीव्रता प्रदान करती है, जैसे '**इधर सूर्य का उदय हो रहा था उधर उसकी जीवन-प्रभा विलीन हो रही थी**' किन्तु आजकल इन साधनों से कम काम लिया जाता है। उपन्यासकार अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण उपस्थित कर देता है, अपनी ओर से कुछ कहता नहीं।

विचार और उद्देश्य

उपन्यास कहानी-मात्र नहीं है, उसमें पात्रों के भाव और विचार भी रहते हैं। उपन्यास के पात्रों के विचार लेखक के ही विचारों की प्रतिध्वनि होते हैं। लेखक का जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होता है, उसी दृष्टिकोण से वह जीवन की व्याख्या करता है और उसी के अनुकूल उसके विचार होते हैं। उपन्यास में बिखरे हुए विचारों में भी एक विशेष अन्विति रहती है। विचारों के विभिन्न पक्ष दिखाये जाते हैं किन्तु उनमें मुख्यता उन विचारों की ही होती है जो लेखक के दृष्टिकोण के अनुकूल होते हैं। कभी-कभी लेखक का उद्देश्य जानना कठिन हो जाता है। विचारों में प्रायः लेखक और नायक का तादात्म्य होता है। यह बात नाटक और महाकाव्य में भी होती है। रामायण में जितने विचार आये हैं वे सब तुलसीदास के सिर नहीं मढ़े जा सकते '**ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥**' यह समुद्र के दीनता में कहे हुए वचन हैं, गोस्वामी जी के सिद्धान्त-वचन नहीं हैं किन्तु रामचन्द्र जी अथवा वशिष्ठ जी द्वारा कही हुई बातों के साथ हम गोस्वामी जी का तादात्म्य कर सकते हैं। उपन्यास के पात्रों के चरित्र-चित्रण की भाँति उद्देश्य-निरूपण के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक सीधा या विश्लेषात्मक जिसमें कि लेखक अपने दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या स्वयं करता है और दूसरा परोक्ष सव्यवधान या नाटकीय जिसमें वह जीवन की झाँकी-मात्र ही देता है। उसके कुछ विचार तो पात्रों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं और कुछ जीवन-

सम्बन्धी घटनाओं के प्रस्थापन में तथा कथा के परिणाम में व्यञ्जित रहते हैं। उपन्यास केवल मनोरञ्जन की वस्तु नहीं है वरन् उसके द्वारा मनुष्य के जीवन-विज्ञान के तथ्यों को समझने का प्रयत्न किया जाता है। जीवन के ये तथ्य सूक्ति-रूप से यत्र-तत्र बिखरे रह सकते हैं। 'प्रेम केवल हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका कोई वश नहीं'—प्रेमाश्रम। **'अनुराग स्फूर्ति का भण्डार है'**—गबन। **'कायरता भी वीरता की भाँति संक्रामक होती है'**—कर्मभूमि। **'निराशा में प्रतीक्षा अन्धे की लाठी है।)** ऐसी सूक्तियाँ मुँशी जी के सभी उपन्यासों में बिखरी पड़ी हैं। गोदान में भी इस प्रकार की सूक्तियाँ प्राचुर्य के साथ मिलती हैं—**'डरपोक प्राणियों में सत्य भी गूंगा हो जाता है।' 'रूप अपमान नहीं सह सकता।' 'परीक्षा गुणों को अवगुण सुन्दर को असुन्दर बनाने वाली चीज है, प्रेम अवगुणों को गुण बनाता है और असुन्दर को सुन्दर।'**—कभी-कभी ये व्यक्त न होकर कथानक में व्यञ्जित ही रहते हैं।

उपन्यास में ऐसे जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का रहना नितान्त अनिवार्य तो नहीं है (क्योंकि आजकल बहुत-से उपन्यासकार किसी नीति का उद्घाटन कर मनुष्य का विश्लेषण-मात्र करते हैं। इस विश्लेषण में नीतिकार के लिए सामग्री अवश्य रहती है) किन्तु लोग प्रायः यह चाहते हैं कि उनको कुछ स्थायी विचार मिलें। इन विचारों के प्रकाशन में उपन्यासकार को बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। कथाकार का पद त्यागकर उपन्यासकार जब स्वयं कुछ कह सकने के विशेषाधिकार का दुरुपयोग करने लगता है और वह उपदेशक का पद ग्रहण कर लेता है तभी वह आलोचना का विषय बन जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में यही आक्षेप किया है कि वे उपन्यासकार से उपदेशक बन जाते हैं। उपन्यास के कथानक के चौखटे में जड़ा हुआ निबन्ध या व्याख्यान उपन्यास नहीं बन जायगा, वह निबन्ध या व्याख्या नहीं रहेगा यद्यपि अब लोग उपन्यासों को विचारधारा के प्रकाशन का माध्यम बनाते जाते हैं (जैसे यशपाल, नरोत्तम नागर, अञ्चल, राहुल सांकृत्यायन आदि लेखक उपन्यासों द्वारा गांधी-वादी विचारधारा के विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं) तथापि उपन्यास में विचार और उपदेश एक सीमा के भीतर ही समाविष्ट हो सकते हैं। जिस प्रकार गीति-काव्य में कथानक एक सीमा के भीतर ही रहता है उसी प्रकार उपन्यास के कथानक में विचार और भाव की मात्रा एक मर्यादा के भीतर रहनी चाहिए। लोग इस सिद्धान्त का अतिक्रमण करें तो उनका उत्तरदायित्व है। प्रसाद जी ने 'कंकाल' में अपने पात्रों द्वारा गम्भीर ऐतिहासिक समस्याओं पर विचार कराकर अपने इतिहास-प्रेम का अवश्य परिचय दिया है किन्तु उन पात्रों पर भारी बोझ लद गया है। उपन्यासकार का काम 'थीसिस' लिखना नहीं है किन्तु वह अपने विचारों के प्रवाह से बच भी नहीं सकता। इसमें उसको औचित्य और मर्यादा का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

हम लोग उद्देश्य के साथ निरुद्देश्यता को भी महत्त्व देते हैं किन्तु तभी जब उसमें शैली का महत्त्व हो या बीच-बीच में कुछ व्यङ्ग्य हों, केवल कौतूहल की तृप्ति या मनोरञ्जन खोखलापन है। उद्देश्य के सम्बन्ध में मुंशी प्रेमचन्दजी इस प्रकार लिखते हैं—

"हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे 'कला के लिये कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों से जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है उधर दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ?"

—कुछ विचार (पृष्ठ ४२)

उपन्यासकार को इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से ही व्यञ्जित हों जिससे कि उपन्यास की स्वाभाविकता में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े। ऐसा करने से उसका उपन्यास नीरस हो जाएगा। उपन्यासकार को जीवन-मीमांसा करते हुए या नीति का प्रचार करते हुए यह न भूलना चाहिए कि वह कलाकार है और कला का उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि है। वह सत्य और शिव का उपासक अवश्य है किन्तु उसकी उपासना सुन्दर के रूप में करता है। धार्मिक या नीतिकार अप्रिय सत्य भी कह सकता है किन्तु कलाकार सदा 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्' का ध्यान रखता है। कलाकार का उपदेश कान्ता-का-सा मधुर तथा प्रेमपूर्ण होता है। जो लोग यह कहते हैं कि उपन्यास में नीति की आवश्यकता नहीं यदि हमको नीति की चाह है तो कोई नीति ग्रन्थ ही क्यों न पढ़े उनको यह ध्यान रखना चाहिए कि नीति-ग्रन्थ में कोरी नीति रहती है और उपन्यास में काव्य-ग्रन्थों की भाँति वह नीति रस के मधुरावेष्टन द्वारा शर्करावेष्टित कुनीन की गोलियों की भाँति ग्राह्य बना दी जाती है।

उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह है कि उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं (मिल-मालिक और मजदूर, अछूतोद्धार, दहेज-प्रथा, ग्रामसुधार आदि) का ही उद्घाटन करे अथवा शाश्वत समस्याओं (पति-पत्नी-सम्बन्ध, सन्तान अथवा दाम्पत्य और वात्सल्य का संघर्ष, जैसा कि टाल्स्टाय के 'आना कार्नीना' नाम के उपन्यास में है) को ही अपनावे। कुछ समीक्षकों का ऐसा विचार है कि उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को न रखना चाहिए क्योंकि उन समस्याओं के समाप्त हो जाने पर उनके सम्बन्ध में लोक-रुचि भी समाप्त हो जाती है। गुलामी-प्रथा अब

सामयिक और शाश्वत समस्याएँ

हट जाने से 'अन्किल टॉम्स केबिन' जिसका हिन्दी अनुवाद 'टाम काका की कुटिया' नाम से हुआ है अब कम पढ़ी जाती है इसी प्रकार दहेज-प्रथा-सम्बन्धी उपन्यासों का भी चलन कम हो रहा है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मत है कि सामयिक समस्याएँ भी शाश्वत समस्याओं के बदलते हुए स्वरूप हैं। अछूतोद्धार, विधवा-विवाह अथवा दहेज-प्रथा आदि का विवेचन व्यापक मानवता का ही रूप है। उपन्यासकार को यह उचित नहीं है कि वह केवल इसलिये कि सामयिक समस्याओं में लोक-रुचि चिरस्थायी नहीं होती है, समाज को अपनी सेवाओं से वंचित रखे। उसको चाहिए कि सामयिक समस्याओं को चिरन्तन और शाश्वत से सम्बन्धित कर दे।

आजकल पाठकगण उपन्यासकार से यह आशा रखते हैं कि वह न केवल समस्याओं का उद्‌घाटन ही करे वरन् उनकी तह में बैठकर सामाजिक रोगों का निदान कर उनके शमन का मार्ग भी निर्दिष्ट करे। यह सर्वथा सम्भव नहीं है कि उपन्यासकार समस्याओं का हल भी दे सके। बहुत से हल जो उपस्थित किये जाते हैं वे केवल आदर्शवाद से सम्बन्ध रखते हैं (जैसे 'सेवासदन' में) उनमें वास्तविक जीवन की कठिनाइयों का ध्यान नहीं रखा जाता। कठिनाइयों को स्वीकार करते हुए उनका उद्‌घाटन कर देना भी लोगों को उनके हल में सहायता देना है। कठिनाइयों का सहानुभूतिपूर्ण ज्ञान उनके शमन की ओर अग्रसर होना है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में किसानों की समस्या का कोई हल नहीं बतलाया है किन्तु उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर दी है। उन्होंने झोंपड़ियों में रहने वालों को महलों के स्वप्न दिखाये हैं।

उपन्यासकार के लिए यह समस्या बड़ी ही कठिन है कि वह जीवन की व्याख्या के लिए जीवन की बिलकुल प्रतिलिपि कर दे अथवा उसका कुछ सुधरा हुआ रूप दे।

यथार्थ और आदर्श

जीवन के ज्यों-के-त्यों अर्थात् बिना कल्पना का रङ्ग चढ़ाये हुए यथातथ्य चित्रण को यथार्थवाद कहते हैं और अपनी कल्पना के आधार पर उसका सुधारा हुआ रूप उपस्थित करने को आदर्शवाद कहते हैं। यथार्थवाद और आदर्शवाद की कई श्रेणियाँ हैं और इन वादों का दुरुपयोग भी पर्याप्त होता है। यथार्थवाद की अच्छाई-बुराई तथा उनकी मात्रा लेखक के उद्देश्य पर आश्रित रहती है। जीवन की धूप-छाँहमय जैसे ताना-बाना, पाप-पुण्य, गुण-दोष के तन्तुओं से मिला हुआ है। वास्तविक यथार्थवाद तो गुण और दोषों को उचित अनुपात में दिखाना है किन्तु प्रायः लोग यथार्थवाद के नाम पर मनुष्य की बुराइयों और दुर्बलताओं का उद्‌घाटन करते हैं। इसमें भी यदि बुराइयों का उद्‌घाटन इसलिए किया जाता है कि उनके प्रति ध्यान आकर्षित कर लोगों को सुधार की ओर प्रवृत्त किया जाय तब तो वह क्षम्य हो जाता है किन्तु जब बुराइयों का उद्‌घाटन लोगों की कुरुचि से लाभ उठाने अथवा उसके आधार पर उपन्यास की बिक्री बढ़ाने अथवा

मानव-समाज से अपना बदला लेने के लिए किया जाता है तब वह निन्द्य हो जाता है। लोग प्रायः सुधारक के नाते ही मानव-दुर्बलताओं का उद्घाटन करते हैं किन्तु वास्तव में उनका उद्देश्य कुरुचि का पोषण होता है, यथार्थवाद निन्दनीय है। इसके अतिरिक्त यथार्थवाद में दो दोष और भी हैं। एक तो यह कि जब लोग बुराई को फलते फूलते और साधुता को दुःख उठाते देखते हैं तब हम एक प्रकार से निराशावादी हो जाते हैं और उद्योग, उत्साह और सदाचार के लिये आकर्षण कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वयं जीवन में यथार्थवाद एवं दुःख और संघर्ष की मात्रा इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है कि हम साहित्य में उसकी पुनरावृत्ति देखकर अपने मन को भाराक्रान्त नहीं करना चाहते हैं। आदर्शवाद ऊबे हुए जीवन के लिए एक सुखद वैविध्य उत्पन्न कर देता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम पलायनवादी बन जायँ। इस प्रकार कुरुचिपूर्ण यथार्थवाद के पनपने का कारण यही है कि लोग मनुष्य की बुराइयों का सहज में विश्वास कर लेते हैं, भलाइयों के विश्वास करने में वे थोड़े संशयात्मक रहते हैं।

कोई उपन्यासकार शुद्ध यथार्थवादी नहीं हो सकता है। पूरे जीवन या जीवन के साल या दो साल के पूरे चित्रण में पाठक को उतना ही समय लग जायेगा जितने काल में कि घटनाएँ घटित हुई हैं। चुनाव कला के लिये आवश्यक है, लेखक यदि उज्ज्वल पक्ष को चुनता है तब वह आदर्शवादी कहलाने लगता है और जब वह अन्धकारमय पक्ष की ओर अधिक ध्यान देता है तब वह यथार्थवादी गिना जाता है। कला में 'जो है' वह उसके साथ 'होना चाहिये' का भी प्रश्न रहता है। यदि हम 'जो है' उसी का चित्रण करते हैं तो साहित्य से जीवन को कोई दिशा नहीं मिलती है।

कविवर मैथिलीशरण जी ने साकेत में ठीक ही कहा है—

> "हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
> यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
> किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
> व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
> मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
> स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
> वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
> चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये।"

—साकेत (प्रथम सर्ग, पृष्ठ २७)

आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों की ही सीमाएँ हैं, यथार्थवाद की ऊब और अकर्मण्यता से बचना चाहिए। साहित्य में शालीनता का परित्याग करना आत्महत्या है। कुछ लोग यह अवश्य कहेंगे कि जब वास्तविक जीवन ही गिरा हुआ है तब साहित्य

में शालीनता कहाँ से आयेगी ? किन्तु जीवन में सब कुछ बुरा ही बुरा नहीं है और न सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा है। इसलिए आदर्शवाद को भी अतिवाद के दोष से बचाने की आवश्यकता है, इस सम्बन्ध में उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्दजी के नीचे लिखे अमर वाक्य स्मरणीय हैं—

"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शङ्का है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हों—जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

"इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी का है।"

—कुछ विचार (पृष्ठ ४१)

सारांश यह है कि उपन्यास की आधार-भूमि यथार्थ की होनी चाहिए। उस यथार्थ को आकर्षक बनाने के लिए थोड़े चुनाव की आवश्यकता है। चुनाव में यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपन्यासकार बुराइयों का केवल उद्घाटन कर पाठकों की मानव-समाज से आस्था न उठा दे और घृणा का प्रचारक न बन जाये। *उपन्यासकार को चाहिए कि वह यथार्थवाद के भीतर छिपे हुए आदर्श का उद्घाटन कर लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करे। इस प्रकार वह उसके द्वारा मानव-समाज के विकास-क्रम में सहायक बन सकता है। हमारे आदर्श संभावना की सीमा से बाहर न होने पायँ, नहीं तो उनसे कोई लाभ न उठा सकेगा। इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना यही यथार्थवाद की देन है।*

पाश्चात्य देशों में उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया गया है किन्तु हमारे देश में रस को प्रधानता दी गई है। हमारे उपन्यास भी काव्य ही की कोटि में आते हैं। इसलिए उनमें भी काव्य-के-से रस और भाव होने चाहिएँ। रस और भाव को स्वीकार करने से विचार का तिरस्कार नहीं होता है। हमारे विचार भी हमारे जीवन के प्रति रागात्मक या विरागात्मक दृष्टिकोण के ही फल-फूल होते हैं। विचारों के मूल में भी भाव ही रहते हैं अर्थात् वे प्रायः भाव-प्रेरित होते हैं। काव्यों में चाहे वे महाकाव्य की भाँति पद्यात्मक हों

भाव और रस

या उपन्यास की भाँति गद्यात्मक हों विचार-सिकता के कण रस के सहारे ग्राह्य बनाये जा सकते हैं। उपन्यासों में भी महाकाव्य-का-सा शृङ्गार, वीर, हास्य, करुणा का समावेश होता है। प्रारम्भिक काल के कौतूहल-वर्धक जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों में अद्भुत रस का प्राधान्य था। आजकल के राजनीतिक उपन्यासों में करुण के साथ वीर का सम्मिश्रण रहता है। वर्तमान समाज की करुणाजनक परिस्थिति दिखलाकर उसको मिटाने के लिए उत्साह का संचार किया जाता है। करुण में वीर का आना अस्वाभाविक नहीं है—**'आय गये हनुमान ज्यों करुणा में वीर रस।'** कभी-कभी उपन्यासों में पूँजीवाद या साम्राज्यवाद के प्रति घृणा भी उत्पन्न की जाती है। वहाँ वीभत्स की प्रधानता होती है किन्तु वीभत्स की मात्रा सीमित ही होनी चाहिए, शालीनता को छोड़े और घृणा के उत्पन्न किये बिना भी बात को बल-पूर्वक कहा जा सकता है। उपन्यासों में मनोभावों का चित्रण रहता ही है। 'गबन' में रमाकान्त के कलकत्ते जाते समय भय की मनोवृत्ति का अच्छा चित्रण हुआ है। 'गोदान' में बनावटी 'खान' के आ जाने पर शहरी लोगों की कायरता की तुलना में होरी का साहस और उत्साह निखर आता है। 'रंगभूमि' में सूरदास का वीरोत्साह सराहनीय है। थोड़ी बहुत भावुकता के बिना वाणी में बल नहीं आता है किन्तु करुणा को केवल थोड़ी सहानुभूति जाग्रत करने के लिए प्रलाप की सीमा तक पहुँचा देना सस्ती भावुकता कही जायगी। उपन्यास को इस सस्ती भावुकता से बचाना वाञ्छनीय है। संयम और नियन्त्रण कला का जीवन-प्राण है। उपन्यास को उस संयम से वञ्चित न रहना चाहिए।

शैली

उपन्यास कथा-साहित्य का मुख्य अङ्ग है। इसकी वस्तुगत विशेषताओं और आवश्यकताओं पर प्रकाश डाला जा चुका है। खाद्य-सामग्री चाहे जितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो किन्तु जब तक उसको सजा-सम्हालकर न रखा जायगा वह ग्राह्य न होगी। काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेश-भूषा का है। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी होते हैं तथापि आकृति और वेश-भूषा गुणों के मूल्याङ्कन में बहुत कुछ प्रभावित करते हैं। यद्यपि हम विष-भरे कनक-घटों के पक्ष में नहीं हैं तथापि दूध को भी स्वच्छ और उज्ज्वल पात्रों की अपेक्षा रहती है। चित्त का प्रसादन जितना कथा की मौलिकता और रोचकता से होता है उतना ही शैली से। पद-पद पर प्रसन्नता प्रदान करना और उत्सुकता को कायम रखना जो कथा-वस्तु की आवश्यकताओं में से है, बहुत-कुछ शैली पर निर्भर रहता है। कथा-वस्तु के और भी गुण—जैसे संगठन, क्रम, सङ्गति और शैली के आन्तरिक पक्ष से

आवश्यकता

सम्बन्ध रखते हैं।

यद्यपि उपन्यास नाटक की अपेक्षा कक्ष के अध्ययन की वस्तु अधिक है और उसमें गाम्भीर्य का बहिष्कार भी नहीं है तथापि वह जन-मन-रञ्जन की वस्तु अधिक है।

शैली के गुण — उसके द्वारा सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्य समझ में जनता के लिए बोधगम्य बनाये जा सकते हैं। इसलिए प्रसाद-गुण इसका मुख्य गुण होना चाहिए और ओज तथा माधुर्य का विषयानुकूल यथास्थान समावेश होना अपेक्षित है। भाषा को सुबोध और प्रसादमय बनाने के लिए मुहावरों का प्रयोग वाञ्छनीय है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार उचित मात्रा में शैली को आकर्षक बनाने में सहायक होता है किन्तु इनके प्रयोग में मौलिकता अपेक्षित रहती है। इनके द्वारा सफल व्यङ्ग्य भी हो सकता है। कविता की बराबर तो उपन्यास में लक्षणा-व्यञ्जना का महत्त्व नहीं है फिर भी काव्य के ये प्रसाधन उपन्यास में उपेक्षा योग्य नहीं। ये सब काव्य के पारिवारिक गुण तो उपन्यास में आवश्यक हैं किन्तु कौतूहलपूर्ण प्रकथन जो कथा-साहित्य की विशेषता है इसका भी विशेष गुण है। कल्पना को सत्य का रूप देना उपन्यास की मुख्य कला है। उपन्यास की भाषा की कई शैलियाँ हैं किन्तु उनमें दो मुख्य हैं। एक प्रेमचन्दजी जैसी चलती शैली और दूसरी प्रसाद और हृदयेश जी जैसी संस्कृतगर्भित शैली। उपन्यास में व्यास-शैली के लिए अधिक गुञ्जाइश है। नाटक और कहानी दोनों से ही अधिक इसमें फैलाव की क्षमता है किन्तु उसको सीमा से बाहर न जाना चाहिए।

विशेष—उपन्यास-साहित्य के वर्तमान विकास ने इन तत्वों की परम्परा को बहुत अंश में निरर्थक-सी कर दी है। अब न तो कथानक में व्यवस्था और शृङ्खला का पहला-सा मान रहा है और न चरित्र-चित्रण में संगति और सम्बद्धता का आग्रह है। मनुष्य क्षणिक मनोदशाओं (Moods) का समूह-सा दिखाई देता है और अवचेतना का द्वार खुल जाने से मानसिक जीवन और भी संकुल हो गया है। वह व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। यह विधा नितान्त नियमहीन तो नहीं है किन्तु एक गतिशील वस्तु को नियमों में बाँधना कठिन है। पिछले नियमों और तत्वों में बहुत-कुछ सार है। विद्यार्थियों को उनका जानना आवश्यक है किन्तु उन सबको पत्थर की लकीर समझ लेना या उनके आंशिक अभाव के कारण किसी कलाकृति को निन्द्य ठहरा देना कलाकार के साथ अन्याय होगा। नये कलाकारों को सहृदयतापूर्वक समझने की आवश्यकता है।

उपन्यासों के प्रकार—डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी ने अपने साहित्यालोचन (पृष्ठ १८०-१८६) में उपन्यासों का कोटिक्रम इस प्रकार निश्चित किया है—

(१) घटना-प्रधान उपन्यास—जिनमें कौतूहल उत्पन्न करने वाली कथाएँ होती हैं, जैसे—तिलिस्मी उपन्यास, 'गुलीवर्स ट्रेविल्स', 'डान क्विकज़ेट' आदि।

(२) सामाजिक अथवा व्यवहार-सम्बन्धी उपन्यास—ऐसे उपन्यासों में चरित्र-सम्बन्धी और व्यवहार-सम्बन्धी आख्यान होते हैं जो हमारी सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं।

(३) अन्तरंग जीवन के उपन्यास—इनमें घटना और पात्र कम किन्तु चिन्तन और भावनाओं का आधिक्य रहता है।

(४) देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष—कुछ उपन्यासों में देशकाल का निश्चित ध्यान रखा जाता है और कुछ में इसका बिलकुल ध्यान नहीं रखा जाता, इनमें 'एकदा' या 'एकस्मिन् देशे' से काम चल जाता है, संस्कृत के उपन्यास प्रायः ऐसे ही होते थे। ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल का विशेष ध्यान रखा जाता है।

यह विभाग दूषित सा है। घटना-प्रधान उपन्यासों में भी सामाजिक उपन्यास हो सकते हैं और सामाजिक भी घटना-प्रधान हो सकते हैं। घटना-प्रधान देशकाल के सापेक्ष या निरपेक्ष का बहिष्कार नहीं करते।

उपन्यासों का विभाजन कई प्रकार से किया गया है। एक तो वास्तविकता-प्रधान और दूसरे कल्पना-प्रधान। इन्हीं कल्पना प्रधान उपन्यासों को Romance भी कहते थे। एक विभाजन इस प्रकार से भी किया जा सकता है। एक घटना-प्रधान जैसे तिलिस्मी आदि, दूसरे चरित्र-प्रधान जैसे जैनेन्द्रजी आदि के और तीसरे घटना-चरित्र-प्रधान जैसे मुँशी प्रेमचन्दजी के।

उपन्यासों का विषयानुकूल विभाजन भी हो सकता है, जैसे ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्रेम-प्रधान, मनोवैज्ञानिक आदि। विभाजन जो हो प्रायः एक ही आधार पर होना चाहिए और पूरा होना चाहिए।

उपन्यास का विकास

अंग्रेज़ी भाषा में उपन्यास का उदय रोमांस कथाओं से हुआ। ये रोमांस कथाएँ कौतूहलमय घटनाओं से पूर्ण हुआ करती थीं और इनमें चरित्र-चित्रण का भी अभाव रहता था। इन रोमांसों का आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में मेलोरी (Malory) द्वारा लिखी हुई 'मार्ट डी आर्थर' (Morte D'Arthur) नाम की कथाओं से होना माना जाता है। उन कथाओं से नाटकों को भी बहुत-कुछ सामग्री मिलती थी और उनके अनुकरण में अन्य कथात्मक रचनाएँ भी लिखी गईं।

अंग्रेजी उपन्यास

इंगलिस्तान में भी गद्य का विकास कुछ पीछे ही हुआ। सत्रहवीं शताब्दी में गद्य-लेखकों में जॉन बनियन (१६२८-१६८८) बहुत प्रसिद्ध है। उनका लिखा हुआ 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (Pilgrims Progress) एक प्रकार की अन्योक्ति (Allegory)

है। उसमें एक कल्पित यात्री की कथा के सहारे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में अधिक की कठिनाइयों का उल्लेख हुआ है। असली अर्थ में 'राबिनसन क्रूसो' (सन् १७१६) का लेखक डैनियल डीफो (सन् १६५६-१७३१) अंग्रेजी का पहला उपन्यासकार कहा जा सकता है। उसके वर्णन बड़े सजीव हैं और उसमें चरित्र-चित्रण का भी प्रयास है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध सामाजिक व्यङ्ग्य-लेखक स्विफ्ट (Jonathan Swift सन् १६६७-१७४५) भी डीफो (Daniel Defoe सन् १६६५) के ही समकालीन थे। स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रैविल्स' (Gullivers Travels) वास्तव में तत्कालीन समाज पर अच्छा व्यङ्ग्य है किन्तु उसमें रोचकता और कौतूहल भी पर्याप्त मात्रा में हैं। डेनियल डीफो के रॉबिनसन क्रूसो ने बड़ी ख्याति पाई। उसमें एक जहाज के डूब जाने के कारण निर्जन टापू में शरण लेने वाले नायक की साहसिक कथा है। उपन्यास को चरित्र-चित्रण की ओर अग्रसर करने में उस समय 'स्पेक्टेटर' में निकलने वाले 'रोजर्ली की कवर्ली' आदि चरित्र-सम्बन्धी निबन्धों को भी बहुत श्रेय है। उस समय के उपन्यासकारों की समस्या पात्रों को रोमांस के आकाश से पृथ्वी की ओर लाने की रही।

अट्ठारहवीं शताब्दी में उपन्यास-साहित्य के स्तम्भ-स्वरूप चार नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे नाम हैं—रिचर्ड्सन (Richardson), फील्डिंग (Henry Fielding, सन् १७०७-१७५४), स्मोलेट (Smollett) और स्टर्न (Lawrence Sterne, सन् १७१३-१७६८)। सेम्युअल रिचर्ड्सन (१६८६-१७६१) के उपन्यासों में 'पमीला' (Pamela) बहुत प्रसिद्ध है। उसने आजकल के से चरित्र-प्रधान उपन्यासों का श्रीगणेश किया किन्तु उसमें कुछ भावातिरेक अधिक था। फील्डिङ्ग ने उस भावातिरेक का उपहास किया। स्मोलेट और स्टर्न ने उसको मुख्यता दी। अट्ठारहवीं शताब्दी के उपन्यासों में 'गोल्ड स्मिथ' (Oliver Goldsmith, सन् १७२८-१७७४) का 'विकार आफ़ वेकफील्ड' (Vicar of Wakefield) ने बहुत ख्याति पाई। उसमें हास्य-व्यङ्गपूर्ण चरित्र-चित्रण के साथ पारिवारिक जीवन की झाँकी है। अट्ठारहवीं शताब्दी में पारिवारिक उपन्यासों (Domestic Novels) का सूत्रपात हो गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्कॉट (Sir W. Scott सन १७७१-१८३२) ने 'वेवर्ली नौविल्स' (Waverly Novels) के रूप में ऐतिहासिक उपन्यासों को एक अच्छी देन दी और 'जेन ऑस्टिन' (Jane Austin, सन् १७७५-१८१७) ने 'प्राइड एण्ड प्रेज्यूडिस' (Pride and Prejudice) और 'सेन्स एण्ड सेन्सिबिलिटी' (Sense and Sensibility) के रूप में सामाजिक अथवा सामाजिक व्यवहार-सम्बन्धी उपन्यास (Novel of Manners) दिए। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में 'डिकिन्स' (Charles Dickens, सन् १८१२-१८७०) और 'थैकरे' (W. M.

Thackeray, सन् १८११-१८६३) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डिकिन्स ने अपने उपन्यासों में स्मरणीय चरित्र दिये। उसके उपन्यासों में चरित्रों का वैविध्य भी पर्याप्त है। उसमें वस्तुवाद के साथ भावातिरेक था। डिकिन्स ने (जैसे हमारे यहाँ प्रेमचन्द जी ने) मध्य और निम्न श्रेणी के पात्रों को अपनाया था। 'थैकरे' ने (जैसे हमारे यहाँ प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने) उच्च वर्ग के लोगों का चित्रण किया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उपन्यासों में चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रथा चल पड़ी थी। उस प्रथा के अग्रसर करने वालों में 'जार्ज इलियट (सन् १८१६-१८८०), जार्ज मेरेडिथ (सन् १८२८-१६०६), टामस हार्डी (सन् १८४० १६२७) तथा 'मिसेज हम्फरीवार्ड' हैं। ये लोग आधुनिकता के अग्रदूत हैं। इनके हाथ में पात्र सामान्य की अपेक्षा वास्तविक रूप से व्यक्ति बन गये हैं।

बीसवीं शताब्दी में विशेषकर पहले महायुद्ध के पश्चात् लोगों के उपन्यास-सम्बन्धी आदर्श बदले। महायुद्ध के पूर्व साहित्य में जिस प्रकार प्राचीन आदर्शों के प्रति असन्तोष रहते हुए भी उसके भीतर छिपी हुई एक क्षीण आकर्षण-रेखा के दर्शन हो जाते थे वह रेखा भी विलीन हो गई। नैतिक आदर्शों में घोर परिवर्तन हुए। सभ्यता एक कृत्रिम आवरण के रूप में दिखाई देने लगी। सिग्मंड फ्रॉयड का यह प्रभाव पड़ा कि लोग उपचेतना को अत्यधिक महत्त्व देने लगे और उनकी यह धारणा हो गई कि वासनाओं को जितना दबाया जायेगा वे उतना ही विकृत रूप धारण करेंगी। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के चरित्र-चित्रण में सङ्गति एक आवश्यक गुण के रूप में न रही। चरित्र का ऊपरी भाग जितना हम देखते हैं वही सब कुछ नहीं। भीतरी तहों में से अवसर पाने पर न जाने कौन-सी तह ऊपर आये और व्यक्ति अपने साधारण दृश्यमान चरित्र के विरुद्ध कोई काम कर जाय। डी० एच० लारेंस (D. H. Lawrence, सन् १८८५ १६२६) के उपन्यासों में प्रवृत्ति की झलक है। आत्मा की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्त्व मिलने लगा। एडोल्फ हक्सले में इस ओर अधिक झुकाव है। आजकल के उपन्यासकारों में लोरेंस, हक्सले, वर्जिनिया वुल्फ, जेम्स जाइस प्रमुख हैं। रूसी उपन्यासकारों ने उपन्यास-साहित्य की श्रीवृद्धि की है, (उनमें गोर्की जिसका 'माँ' नाम का उपन्यास हिन्दी में अनुवादित हो चुका है) आजकल के नामों में शोलोखव (Mikhael Sholokheva) का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

नवीन प्रवृत्तियाँ

पाश्चात्य देशों, विशेषकर इंगलिस्तान के उपन्यासों की प्रवृत्ति-मात्र दी जा सकी है। वहाँ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यहाँ पर यह विवरण इसलिए नहीं दिया है कि हम पाश्चात्य देशों के कथात्मक साहित्य के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेंगे वरन् इसलिए कि हम उसके आलोक में अपने यहाँ की प्रवृत्तियों को भली प्रकार समझ सकें

और पाठक यह भी जान लें कि वहाँ उपन्यास लिखने की विद्या कब से चली आ रही है। अब अपने यहाँ का भी कथा-साहित्य बहुत प्रौढ़ और पुष्ट हो गया है। उसमें हर प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। ऊपर जो वर्तमान उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ दी गई हैं वे अपने यहाँ के आधुनिक उपन्यासों में भी प्राचुर्य के साथ मिलती हैं।

हिन्दी के उपन्यास

संस्कृत में कहानी-साहित्य तो पर्याप्त रूप में था, यहाँ तक कि इस दिशा में भारतवर्ष अन्य देशों का गुरु कहा जा सकता है किन्तु उपन्यास की कोटि में केवल बाण की 'कादम्बरी' और दण्डी का 'दशकुमारचरित्' ही आ सकते हैं। 'कादम्बरी' की तो ख्याति इतनी बढ़ी कि वह मराठी भाषा में उपन्यास के लिए एक व्यापक शब्द बन गया है। अर्थ-विस्तार का वह एक अच्छा उदाहरण है। कादम्बरी में घटना और चरित्र की अपेक्षा शैली का अधिक महत्त्व है। हमारे यहाँ की कहानी में थोड़े-बहुत कौतूहल के पुट के साथ उपदेशात्मकता अधिक रहती थी। यही बात इन बड़ी कथाओं में भी है। इनमें शैली की भी विशेषता है।

हिन्दी में संस्कृत के आधार पर लिखी गई 'किस्सा तोता मैना', 'सिंहासन बत्तीसी' आदि कुछ बड़ी कथाएँ लोगों का मनोरंजन करती रहीं किन्तु ये जनता की वस्तुएँ थीं, साहित्य की वस्तुएँ न थीं। साहित्यिक कथाओं का प्रारम्भ मुन्शी इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' जिसका दूसरा नाम 'उदयभान चरित्' था और सदलमिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' से होता है (ये दोनों पुस्तकें संवत् १८६० के लगभग लिखी गई थीं)। इनमें एक चलती भाषा में साहित्यिक सौष्ठव लाने का अधिक प्रयत्न है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल में लिखे गये उपन्यासों में श्री निवासदास (१६०२-१६४४) के 'परीक्षा-गुरु' ने विशेष ख्याति पाई, इसको हम हिन्दी का पहला उपन्यास कह सकते हैं। 'परीक्षा-गुरु' में एक सेठ के लड़के के बिगड़ने और अपने एक मित्र की सहायता से सुधरने के कथानक के सहारे व्यावहारिक उपदेश दिया गया है। उसमें 'हितोपदेश' और 'पंचतन्त्र' की शैली है। बीच-बीच में नीति-सम्बन्धी उद्धरण हैं। यह प्रवृत्ति पं० बालकृष्ण भट्ट (सं० १६०१-१६७१) के 'सौ अजान एक सुजान' में और भी बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है। इन उपन्यासों में वर्णन की विशेषता और यथार्थता के साथ उस समय की हास्य-व्यङ्ग्य की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। उस समय के उपन्यासों में राधाकृष्णदास (सं० १६२२-१६६४) का 'निःसहाय हिन्दू' भी उल्लेखनीय है उसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व दिया गया है। उसमें मुन्शी प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की भाँति राजनीतिक आन्दोलनों के स्थान में गौ रक्षा आन्दोलन का चित्रण मिलता है। बंगाल के लोग हमारी अपेक्षा अंग्रेजों के सम्पर्क में अधिक आये थे। उनके यहाँ उपन्यास का जन्म पहले हुआ था। बंगाल के उपन्यासों के अनुवाद द्वारा हिन्दी के

उपन्यास-साहित्य की कलेवर-बृद्धि हुई और इस ओर लोगों की रुचि जाग्रत हुई।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल में बालरुचि की भाँति लोक-रुचि कौतूहल और तिलस्म की ओर अधिक थी। उसमें आजकल-का-सा उतावलापन भी नहीं था और अध्ययन और लेखन का एकमात्र उद्देश्य था कौतूहल-तृप्ति द्वारा मनोरंजन। इस प्रवृत्ति की तृप्ति के लिए बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इनके उपन्यासों में कल्पना का अत्यधिक प्राधान्य था। ये उपन्यास फारसी के 'अलिफ लैला' आदि के दास्तानों से प्रभावित थे। उनके उपन्यासों का संसार जादू का संसार था। उनमें तिलस्म और अय्यारी का प्राधान्य रहा।

इसी बहिर्मुखी प्रवृत्ति का दूसरा रूप है जासूसी उपन्यास। इनमें भी कौतूहल की तृप्ति है। एक लाश पड़ी मिल गई और फिर उसके रहस्य खोलने में ही सारा उपन्यास शेष हो जाता है। ये भी घटना-प्रधान उपन्यास की कोटि में आते हैं। तिलस्मी उपन्यासों में घटना का क्रम आगे की ओर बढ़ता है पर जासूसी उपन्यासों में पीछे की ओर जाता है। जासूसी उपन्यास लेखकों में गोपालराम गहमरी (जन्म संवत् १६२३) का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वे हमारे यहाँ के 'कानन डायल' कहे जा सकते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में कल्पना के साथ बुद्धि-तत्त्व का भी पुट रहता है।

हिन्दी-उपन्यासों के विकास में दूसरी श्रेणी पं० किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १६२२-१६८१) से प्रारम्भ होती है। उन्होंने कौतूहल की वृत्ति को तो कायम रखा किन्तु ऐतिहासिक और सामाजिकता के साथ मनुष्य की सहज रुचि को जाग्रत करने वाली विलासिता और प्रेम का पक्ष अधिक चित्रित किया। उनके पात्र चाहे विलासी हों पर वास्तविक थे। इसमें सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण भी हुआ है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१६५६) इसी समय का है, इसमें औपन्यासिकता की अपेक्षा भाषा का प्रयोग अधिक है। उनके 'वेनिस के बाँके' में संस्कृत तत्समता का प्राधान्य है और 'ठेठ हिन्दी के ठाठ' में हिन्दी के ठेठ और निजी रूप की ओर प्रवृत्ति है। इसके पश्चात् पं० लज्जाराम मेहता के 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार' आदि उपन्यास भी १६५६ से लगाकर १६६२ तक प्रकाश में आये। मेहता जी के उपन्यासों में सांस्कृतिक पक्ष अधिक है और चरित्र-चित्रण की भी प्रवृत्ति है। हिन्दी में बँगला से जो उपन्यास आये उनमें से कुछ तो दहेज आदि कुप्रथाओं से सम्बन्धित थे और कुछ ऐतिहासिक। ऐतिहासिक उपन्यासों में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों की बड़ी धूम रही। 'बन्दे मातरम्' वाला राष्ट्रीय गीत बंकिम बाबू के 'आनन्द मठ' से ही प्रचार में आया है। इन उपन्यासों ने राष्ट्रीय संगठन में बड़ा योग दिया।

चरित्र-चित्रण और सोद्देश्य उपन्यास लिखने की दृष्टि से मुन्शी प्रेमचन्दजी (सं० १६३७-१६६३) ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके उपन्यासों में सामाजिकता

थी किन्तु बङ्गाली उपन्यासों-का-सा भावातिरेक न था और न वे बङ्गाली उपन्यासों की नकल कहे जा सकते हैं। 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन' आदि उपन्यास सामाजिक हैं। 'गबन' में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम का और 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है किन्तु उनकी दृष्टि सामाजिक समस्याओं में ही सीमित नहीं रही। 'रंगभूमि' में एक विस्तृत चित्रपट पर राजनीतिक आन्दोलन का चित्रण है। उनके और भी उपन्यासों में शोषित और दलित जनता के प्रति सहानुभूति का मानवता-प्रधान पक्ष लिया गया है। 'गबन' में उन्होंने प्रसंगवश पुलिस के हथकण्डों का अच्छा दिग्दर्शन किया है। प्रेमचन्द जी न सामाजिक अत्याचार सह सकते थे और न राजनीतिक। ब्राह्मणों तथा उच्च कुलाभिमानी लोगों के भण्डाफोड़ करने में उनकी विशेष रुचि थी किन्तु वे किसी उग्र क्रान्ति के पक्ष में न थे। वे गांधीवाद की समझौतेपूर्ण नीति के अनुयायी थे। जिस प्रकार कविता में गुप्त-बन्धु गांधीवादी नीति के प्रतिनिधि हैं उसी प्रकार उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द जी ने गांधी जी के आदर्शों का प्रतिनिधित्व किया है। उनका ध्यान हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की ओर भी गया है।

कुछ लोग उनको जनवादी कहते हैं। उनके पात्रों में विद्रोही और हिंसा की भावनाएँ अवश्य आ जाती हैं किन्तु वे उन्हें क्रियात्मक रूप नहीं दे पाते।

पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक (१६४८-२००३) का क्षेत्र यद्यपि सीमित था तथापि उनके आदर्श मुन्शी जी के आदर्शों से भिन्न न थे। वे निम्न कोटि के पात्रों में जैसे, भिखारियों में मानवता के दर्शन कराने में सिद्धहस्त थे किन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि वे मुन्शी जी की अपेक्षा भावुक अधिक थे और भावों के सञ्चारित करने की कला में भी वे निपुण थे। इनके कथानक अपेक्षाकृत सरल और सुलझे हुए हैं। इनके दो उपन्यास हैं 'माँ' और 'भिखारिणी'। 'माँ' में दो माताओं (सुलोचना तथा सावित्री) द्वारा अपने-अपने पुत्रों पर पड़े हुए प्रभावों की तुलना है। सुलोचना का प्रभाव सच्चरित्रता की ओर ले जाता है और सावित्री का प्रभाव दुराचार की ओर ले जाता है। 'सुलोचना' में आदर्शवाद का प्राधान्य है। 'भिखारिणी' में दिखाया गया है कि भावों की उच्चता उच्च वर्ग का ही एकाधिकार नहीं है।

'प्रसाद' जी (१६४६-१६६४) ने 'कंकाल' और 'तितली' नाम के दो उपन्यास लिखे। 'इरावती' नाम का एक उपन्यास अधूरा ही रह गया था किन्तु वह अब उसी रूप में छप गया है। कंकाल में समाज को भव्यता के भीतर छिपा हुआ खोखला कंकाल दिखाया गया है। देखने में तो उस उपन्यास में यथार्थता की पराकाष्ठा लगती है किन्तु वह निरुद्देश्य नहीं है। उसमें तथाकथित उच्चता के प्रति गर्व की भावना पर व्यङ्गपूर्ण चोट है। उसमें एशियायी संघ के रचनात्मक कार्य की भी आदर्शवादी रूपरेखा है। 'तितली' में प्रसाद जी के पात्र शहर में रहकर ही ग्राम की चिन्ता करते हैं। 'कंकाल'

और 'तितली' की तुलना में 'इरावती' प्रसाद जी के स्वभाव के अधिक निकट प्रतीत होती है। वह ऐतिहासिक भी है और उसके भाव तथा भाषा-शैली भी प्रसाद जी के व्यक्तित्व तथा अन्य रचनाओं के अनुकूल है। प्रसाद जी के उपन्यास में प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की अपेक्षा भावना का उत्कर्ष अधिक है। भाषा में तो अन्तर स्पष्ट ही है। प्रसाद जी की भाषा संस्कृत-गर्भित और एकरस रही है। प्रेमचन्द जी की भाषा पात्रों के अनुकूल बदलती है और अपेक्षाकृत सुबोध है।

वृन्दावनलाल वर्मा (जन्म सं० १६४५) ने थोड़े रोमांस के साथ 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' आदि ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी जगत् को दिये। इनके उपन्यासों में ऐतिहासिकता के साथ-साथ स्थानीय गौरव, स्थानीय रंगत (Local Colour) और प्रकृति-चित्रण की विशेषता है। इनके पात्र परिस्थिति के अनुकूल अपनी स्वाभाविक गति से चलते हैं और उनकी व्याख्या देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अंग्रेजी के उपन्यासकार सर वाल्टर स्काट की भाँति हिन्दी में वर्मा जी अकेले ही उपन्यासकार हैं जिनमें लोकवार्ता का पूरा-पूरा स्थान मिला है। 'विराटा की पद्मिनी' अधिकतर जनश्रुति और कल्पना पर आश्रित है। उसका वातावरण ऐतिहासिक है, पात्र अधिकांश में कल्पित हैं। 'गढ़कुण्डार' का वातावरण भी ऐतिहासिक है और पात्र भी। 'गढ़कुण्डार' में हमको बुन्देलखण्ड की वीरगाथाकाल-की-सी मानापमान तथा वीर-दर्प से प्रेरित पारस्परिक मारकाट की प्रवृत्ति मिलती है। बुन्देले ऊँचे और खंगार नीचे, इस संघर्ष में न बुन्देले ही रहे न खंगार ही। खंगार की बढ़ती हुई शक्ति का भी ह्रास हो गया। ऐतिहासिकता की दृष्टि से वर्मा जी की नवीनतम कृति 'झाँसी की रानी' बहुत उत्कृष्ट है। उसमें सन् १८५७ की घटनाओं और कारणों पर काफी अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसमें रोमांस है किन्तु अत्यन्त संयत और दबा हुआ।

उषादेवी मित्रा ने भारतीय नारियों के ऊँचे आदर्श उपस्थित किये हैं। उनकी नारियाँ जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल की भाँति परिस्थितियों के कारण भारतीय आदर्श से च्युत नहीं हुई हैं। देश-सेवा या तीर्थ-यात्रा में अपनी वासनाओं का उन्नयन (Sublimation) कर लेती हैं। कजरी, पिया, सविता जैसी सहनशील नायिकाएँ आजकल के उपन्यासों में कम मिलेंगी। उषादेवी मित्रा के उपन्यासों में बङ्गाली भावुकता और अलंकृत शैली के भी दर्शन होते हैं।

सियारामशरण (जन्म संवत् १६५२) अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों के कारण सामाजिक रूढ़ियों से (बुरे अर्थ में नहीं) बँधे हुए हैं। उनमें नैतिकता का मान है। वे भी गांधीवाद के प्रभाव में हैं किन्तु उपन्यासों में उसकी उपदेशात्मकता अधिक व्यक्त होने नहीं पाई है। उन्होंने भी प्रेमचन्द जी की भाँति मध्यवर्ग और निम्नवर्ग को अपनाया है। उनका 'गोद' नामक उपन्यास सामाजिक है। उन्होंने धर्म-नीति को अपनाते हुए भी

थोड़ी उदारता का परिचय दिया है। कट्टरपंथी तो किसी स्त्री में कलङ्क की झूठी चर्चा हो जाने पर भी उसे सदा के लिये कलङ्कित समझ लेता है। उसकी निर्दोषता प्रमाणित हो जाने पर भी उसका भाव नहीं बदलता और सुधारक सदोषता प्रमाणित हो जाने पर भी उसे अपनाने को तैयार रहता है। गुप्तजी किशोरी की निर्दोषता प्रमाणित हो जाने के पश्चात् दयाराम का हृदय परिवर्तन कराते हैं। 'अन्तिम आकांक्षा' में घर के एक नौकर (रामलाल) को नायक बनाया गया है। इसमें आजकल का जनवादी तत्व है। उसमें आजकल की छूआछूत और संकुचित धार्मिकता पर अच्छा व्यङ्ग्य है। 'नारी' में वे कुछ आगे बढ़े हैं किन्तु मर्यादा के साथ। उनकी नारी वास्तव में उनके अग्रज के नारी-चित्रण का समर्थन करती है।

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

—यशोधरा

अपने लड़के 'हल्ली' के प्रति वह सदा स्नेहार्द्र रही और पति 'वृन्दावन' के लिए हमेशा रोती रही। अन्त में वह अपने पति की खोज में सहायता देने वाले अजीत चौधरी को (अपनी जाति की प्रथा के अनुसार ही) स्वीकार कर लेती है। इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन की प्रतिद्वन्द्विताओं का भी उद्घाटन हुआ किन्तु उन सब घटनाओं में गुप्त जी की हास्य-व्यङ्ग्य की एक क्षीण रेखा की झलक मिलती है। इसकी नैतिक समस्या यह है कि क्या स्त्री कृतज्ञता में अपना आत्म-समर्पण कर सकती है? 'जमुना' के आत्म-समर्पण के लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसने अपने पति के प्रतिद्वन्द्वी को नहीं वरन् ऐसे ही व्यक्ति को स्वीकार किया जो ईमानदारी से उसके पति वृन्दावन की खोज करता रहा। इस प्रकार वृन्दावन के प्रति जमुना की पतिव्रत-भावना अक्षुण्ण रहती है। यदि इसमें कुछ काम-वासना है तो अति क्षीण।

चण्डीप्रसाद हृदयेश जी ने अपने 'मंगल-प्रभात' में एक उपदेशात्मक आदर्शवाद के सहारे बाण-की-सी अलंकृत शैली का चमत्कार दिखलाया है।

प्रेमचन्द जी के बाद हिन्दी उपन्यास ने सामाजिकता और राजनीतिकता से आगे बढ़कर मनोवैज्ञानिकता की ओर कदम बढ़ाया और उपन्यास की वृत्ति अन्तर्मुखी हुई। यह प्रवृत्ति उनके जीवन काल में ही आरम्भ हो गई थी। नये उपन्यासों में समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व मिला। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आजकल के उपन्यासकारों ने समाज को भुला दिया है। अब सामाजिक समस्याओं के सीधे चित्रण की अपेक्षा व्यञ्जना से अधिक काम लिया जाता है। व्यक्ति की मनोवृत्तियों में सामाजिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया द्वारा उस व्यवस्था की भलाई-बुराई की ओर संकेत रहता है। मार्क्सवाद से प्रभावित उपन्यासों में व्यक्ति के विश्लेषण के साथ समाज का सीधा चित्रण भी रहता

है और उसकी विषमताओं पर अधिक बल दिया जाता है। प्रेमचन्द जी के पात्रों में वर्ग का प्रतिनिधित्व अधिक रहता था। उनमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज की झलक अधिक दिखाई देती थी। आजकल के उपन्यासों में व्यक्ति के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन की कुँजी से उसके चारित्रिक रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है। व्यक्ति की दुर्बलताएँ सामाजिक और मानसिक कारणों के आलोक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई हैं। इसके अतिरिक्त आजकल के उपन्यास में प्राचीन नैतिक रूढ़ियों के प्रति भी विद्रोह है। आचार और अनाचार के नये अर्थ खोजे जाने लगे हैं। आज का मनुष्य अपने को राजनीतिक बन्धनों से ही नहीं वरन् सामाजिक बन्धनों से भी मुक्त देखना चाहता है। प्रेमचन्द में जो गांधीवादी मर्यादा थी वह आजकल के उपन्यासों में नहीं रही है।

जैनेन्द्र जी (जन्म सं० १९६२) इस नये वैयक्तिक अध्ययन के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। जैनेन्द्र जी की 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' की नारियाँ साधारण नैतिक मापदण्ड से बाहर की वस्तु बन गई हैं। उनका व्यक्तित्व रहस्यमय है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में घटनाएँ चरित्र और मानसिक उथल-पुथल के उद्घाटन के लिये ही आती हैं। उनका सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से अधिक है। कल्याणी में अन्तर और बाह्य गार्हस्थ्य और सामाजिकता का संघर्ष है। अन्तर को पूरा प्रसार न मिलने के कारण ही उसका मरण होता है। 'त्यागपत्र' की मृणाल दयनीय है। उसमें अन्तस् की प्रेरणा की अपेक्षा सामाजिक विवशता है किन्तु उसने जिस मार्ग का अनुसरण किया उसमें भी उसका त्राण नहीं होता है। इसमें समाज की कठोरता पर गहरा व्यङ्ग्य है। मृणाल की अवस्था के लिए सामाजिक कठोरता ही उत्तरदायी है किन्तु जैनेन्द्र जी ने अपनी नायिका में परिस्थितियों से ऊपर उठने की शक्ति नहीं दिखाई है। उनके द्वारा लिखे हुए 'विवर्त' नाम के उपन्यास में पूर्व-प्रेम और वैवाहिक प्रेम का एक प्रकार से समझौता कराते हुए एक क्रान्तिकारी की कथा दी गई है।

जैनेन्द्र जी ने जहाँ नैतिक मानदण्डों के परिवर्तन की पुकार कथाकार की व्यङ्ग्यात्मक शैली से की है और अपनी सफाई कथा से बाहर निबन्धों में दी है वहाँ श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपनी 'चित्रलेखा' में कथा के भीतर ही संवाद-रूप से पाप-पुण्य की नयी मीमांसा की है। इससे पूर्व युग में कु और सु अर्थात् पाप और पुण्य की निश्चित सीमाएँ थीं। टाल्सटाय और गांधीजी के प्रभाव से पापी को सहृदयता के साथ देखा जाने लगा है और उसके बहुत कुछ दोषों की व्याख्या सामाजिक दुर्व्यवस्था से की जाने लगी किन्तु उन लोगों ने व्यक्ति के श्रेय और प्रेय में भेद रखा था। उनका सिद्धान्त था पाप से घृणा करो पापी से नहीं। आजकल के युग ने श्रेय को प्रेय बनाने के स्थान में श्रेय और प्रेय का अन्तर मिटा दिया। जो स्वाभाविक वही सत्य और कर्त्तव्य है।

फ्रॉयड के मनोविश्लेषण ने इस प्रवृत्ति को कुछ बल दिया। उसने उन्नयन (Sublimation) का पथ बतलाया किन्तु उस ओर लोगों का ध्यान कम गया। उसके प्रभाव से मनुष्य को व्यक्ति के चरित्र के मूल स्रोतों तक पहुँचने की दृष्टि मिली। कारण के जान लेने पर व्यक्ति का दोष घट अवश्य जाता है फिर भी उत्थान के लिए उसका उत्तरदायित्व रहता है किन्तु जहाँ इसमें ही सन्देह हो कि क्या उत्थान है और क्या पतन वहाँ उत्तरदायित्व कैसा? उत्थान और पतन के सन्देह को 'चित्रलेखा' के लेखक ने कुछ गहरा रङ्ग दे दिया है। महाप्रभु रत्नाम्बर के द्वारा स्वाभाविकता के आधार पर पाप-पुण्य की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—"जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके प्रभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, केवल साधन है, फिर पुण्य और पाप कैसा?" गीता में भी मनुष्य को साधन या निमित्त ही माना है—'**निमित्तमात्रं भव त्वं सव्य-साचित्।**' गीता की साधना अहंकार के नाश के लिए थी किन्तु रत्नाम्बर की व्याख्या में अहंकार का निषेध नहीं है।

श्री भगवतीप्रसाद बाजपेयी जी ने नारी और प्रेम के उपन्यास लिखे हैं। उनमें (विशेषतः 'प्रेमपथ' और 'पिपासा' में) कर्तव्य और वासना का संघर्ष अवश्य है और कर्तव्य तथा समाज-नीति की विजय होती है किन्तु नारी के शारीरिक सौन्दर्यपूरक आकर्षण और उसके निमन्त्रण की अधिक चर्चा है। 'दो बहिनों' में उन्होंने एक प्रेमी की दो प्रेमिका बहिनों को एक साथ रख मनोविश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री उपस्थित की है। 'निमन्त्रण' में पूर्वीय और पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष, कुछ राजनीतिकता और सामाजिकता भी है; इसी के साथ जीवन-मीमांसा के रूप में मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष रीति से प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि बाजपेयी जी सामाजिक आदर्शों से हटे नहीं हैं तथापि वासना के चित्रण में कमी नहीं रखी है।

आजकल के उपन्यासों में फ्रॉयड के प्रभाव से तथा मानव-जाति की सहज रूप-लालसा के कारण यौन-आकर्षण बहुत बढ़ गया है, यद्यपि उसमें जो सामाजिक रूढ़ियों के विद्रोह का नैतिक पुट दिया जाता है वह विकृति की अवस्था तक पहुँचता जा रहा है। सर्वदानन्द वर्मा का 'नरमेध' इसी का उदाहरण है। उसमें विवाह-प्रथा और पारिवारिक सम्बन्धों पर ही कुठाराघात किया है। वर्मा जी तो पतिव्रत को पूँजीवादी संस्था समझते हैं। 'नरमेध' में उर्मिला और ज्योति नाम की दो विवाहित स्त्रियों के एक ही व्यक्ति द्वारा पतन की कहानी है। उर्मिला का पति नारी-स्वातन्त्र्य का पक्षपाती होने के कारण उसको क्षमा कर देता है। प्रसादजी के 'कंकाल' में जिस वर्णसंकरीसृष्टि का उद्घाटन हुआ है उससे भीषण सामाजिक दुर्व्यवस्था 'नरमेध' में मिलती है। वर्माजी ने वैवाहिक जीवन को एक प्रकार का नरमेध ही व्यञ्जित किया है। हम सामाजिक

अत्याचारों के पक्ष में भी नहीं हैं और हम यह भी नहीं कहते हैं कि समाज में विकृत पुरुष नहीं होते हैं किन्तु वे हाँडी के चावल की भाँति सारे समाज के परिचायक नहीं होते। यथार्थवाद की यह दूषित सीमा है। वर्मा जी स्त्री-स्वातन्त्र्य को पराकाष्टा तक ले गये हैं।

मनोविश्लेषण का प्रभाव हिन्दी-उपन्यासकारों पर कुछ अधिक मात्रा में पड़ा है। व्यक्ति के अवचेतन मानस को प्रत्येक विकारों के लिए खोजा जाता है। उसके घोर अन्धकारमय गहन कक्ष में पैठकर वहाँ की दूषित भावनाओं पर सर्चलाइट डाली जाती है। मनोविश्लेषण-सम्बन्धी उपन्यासों में व्यक्ति के ऊपरी टीमटाम और विडम्बना का पर्दा उठ जाता है और हम उनका सामाजिक परिधान हटाकर उघरा हुआ नग्न कंकाल देख सकते हैं। बड़ाई एवं अहंमन्यता की विडम्बना जाती रहती है। यहाँ तक भी गनीमत है किन्तु सिद्धान्तों के प्रतिपादन और उद्भूत करने के लिए जानबूझकर ऐसी परिस्थितियाँ भी उपस्थित की जाती हैं जो भारतीय समाज में कुछ कठिनता से मिलती हैं। रीतिकालीन नायिकाओं की भाँति इनकी सृष्टि केवल उदाहरणों के लिए ही होती है। हमारे यहाँ के उपन्यासकारों में पं० इलाचन्द जोशी और श्री नरोत्तम नागर इस प्रवृत्ति के उदाहरण कहे जा सकते हैं। जोशी जी द्वारा 'प्रेत और छाया' में तो मनोविश्लेषण अवश्य है किन्तु विश्व की पहेली का हल उतना ही है जितना कि किसी व्यक्ति के समझने में हो सकता है। यद्यपि समाज व्यक्तियों का ही बनता है तथापि जोशी जी ने समाज की अपेक्षा व्यक्ति को समझने की अधिक कोशिश की है। व्यक्ति के समझ लेने पर समाज का समझ लेना सहज हो जाता है। इसी को विश्व की पहेली का हल कह सकते हैं। जोशी जी ने मनोविश्लेषण के सहारे सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया और नागर जी ने राजनीतिक जीवन पर। जोशी जी के तीन उपन्यास 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' विशेष प्रसिद्ध हुए हैं। 'संन्यासी' में दो स्त्रियाँ शाँति और जयन्ती क्रमशः नन्दकिशोर की ईर्ष्या और अहंकार-वृत्ति की शिकार बनती हैं। एक प्रकार से यह उपन्यास ईर्ष्या-मनोवृत्ति की कथा है। 'पर्दे की रानी' में जन्मजात संस्कारों तथा शिक्षा-दीक्षा का संघर्ष है। इसकी नायिका 'निरञ्जना' में वेश्या माता से अज्ञात में प्राप्त आकर्षण का मायाजाल फैलाने का कुसंस्कार उसकी शिक्षा-दीक्षा दबा न सकी फिर भी उसमें निजी आकर्षणजन्य वासना, स्त्रीसुलभ कोमलता और नैतिकता की भावशवलता दिखाई देती है। नारी का स्वाभिमान और वैयक्तिक अहंभाव हीनता ग्रंथि के कारण और भी पुष्ट हो जाता है। वास्तव में उसका चरित्र बड़ा संकुल है। इसका नायक इन्द्रमोहन विलास का पुतला है। 'पर्दे की रानी' में थोड़ा-बहुत गांधीवाद और समाजवाद का राजनीतिक विवेचन भी है।

'पर्दे की रानी' में जहाँ जन्मजात संस्कार व्यक्ति को छाया-रूप में घेरे रहते हैं

वहाँ 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ अपने पिता द्वारा यह बतलाये जाने पर कि वह अपने पिता की संतान नहीं है ऐसी हीनता-ग्रंथि से आविभूत हो जाता है कि उसके मन में सच्चरित्रता का कोई मूल्य नहीं रहता और जब तक वह भावना उसके मन में असत्य नहीं प्रमाणित कर दी जाती है तब तक उसका जीवन सामान्य धरातल पर नहीं आता है।

नरोत्तम नागर जी ने 'दिन के तारे' में मनोविश्लेषण के साथ गांधीवाद की हँसी उड़ाकर उसको नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। इसमें मनोविश्लेषण-सम्बन्धी तत्व भी आये हैं, जैसे उसका नायक शशि अपनी माता के अधिक प्रभाव में रहा है, इस कारण वह पत्नी से प्रसन्न न रह सका। अधिकांश लोगों में ऐसी वृत्ति देखी जाती है। उसका अपनी भगिनी के प्रति भी कुछ अव्यक्त-सा आकर्षण रहा है। वह अंश ऐसा है कि मानो फ्रॉयड के सिद्धान्तों के उदाहरण में ही उपस्थित किया गया हो।

अञ्चल जी अपनी 'चढ़ती धूप' में गांधीवाद के खण्डन में इतने उग्र नहीं हुए हैं जितने कि नागर जी तकली के अर्थशास्त्र पर व्यङ्ग्य करने के लिए लट्टू का अर्थ-शास्त्र प्रतिपादित करने में नायक एक विशेष मानसिक दौर्बल्य से ग्रस्त हैं। उसमें समाज के प्रति जो विद्रोह है वह उन पारिवारिक परिस्थितियों में कुछ मनोवैज्ञानिक हो जाता है। वह निष्क्रियता और असफलता का प्रतीक है। नागर जी ने स्वयं ही लिखा है कि जहाँ प्रेमचन्द जी 'एक्शन' का प्रतिनिधित्व कर सके थे वहाँ इन पंक्तियों के लेखक ने 'इन-एक्शन' का चित्रण किया है। प्रसङ्गवश प्रेस के मालिक 'बाबू जी' का अच्छा चित्रण हुआ है। ऐसे दिखावटी सैद्धांतिक लोगों की समाज में कमी नहीं है।

मार्क्सवाद से प्रभावित उपन्यास-लेखकों में यशपाल और राहुल जी (जन्म सन् १८६५) अग्रगण्य हैं। यशपाल जी के उपन्यास हैं—'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' और 'दिव्या'। इन उपन्यासों में राजनीति के साथ रोमांस भी चलता है। 'दादा कामरेड' में 'देशद्रोही' की अपेक्षा सिद्धांतों और जीवन का अधिक समन्वय है। 'देशद्रोही' का नायक डाक्टर खन्ना कम्यूनिस्ट अवश्य है किन्तु उसका चरित्र कम्यूनिस्ट सिद्धांतों को बल देने वाला नहीं है। उसमें पलायनवाद अधिक है। पात्रों के वार्तालाप में कम्यूनिस्ट सिद्धांतों का प्रतिपादन और काँग्रेस का विरोध अवश्य हुआ है। काँग्रेस सोशलिस्ट शिवनाथ कहता है—"जनमत पैदा करने के साधन सब पूँजीपतियों के हाथ में हैं। ये शोषित जनता के 'हाय रोटी' कहने को संकीर्णता, स्वार्थ और श्रेणी-हिंसा कहते हैं और अपनी श्रेणी के अधिकार बढ़ाने के आन्दोलन को 'हाय देश' कह उसे त्याग बताते हैं। यदि काँग्रेस-आन्दोलन में सहयोग दे आने की शर्त ईश्वर में विश्वास होना हो सकती है तो फिर जनता को मूर्ख बनाये जाने की कोई सीमा नहीं।" इस प्रकार उपन्यास सिद्धांतों के प्रोपेगंडा का साधन बनता जा रहा है। यशपाल जी अपने 'पार्टी कामरेड' में काँग्रेस कार्यकर्ताओं और उनके

प्रोग्राम पर व्यंग्य करते हुए कम्यूनिस्ट पार्टी में काम करने वाली उपन्यास की नायिका गीता को शारीरिक प्रलोभनों से ऊँचा उठाकर एक आदर्शवाद की ओर चले गये हैं। नायिका और सेठ भामरिया जी दोनों के ही वैयक्तिक आकर्षण पार्टी के कठोर अनुशासन की आग में भस्म हो जाते हैं। इसका अन्त एक ऐसी करुणा में होता है जो पार्टी के अनुशासन की दृढ़ता को और भी उभार में ले आता है। हमको गीता और सेठ के साथ हार्दिक सहानुभूति उत्पन्न होती है। इस उपन्यास में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व दिया गया है। कम्यूनिस्ट उपन्यासों का जो यथार्थवाद के प्रति स्वाभाविक झुकाव होता है वह इसमें नहीं दिखाई देता है। लेखक गांधीवाद को सफाई देने का अवसर नहीं देता और मार्क्सवाद की महत्ता दिखलाने के लिए सक्रिय-सा हो जाता है।

जहाँ यशपाल जी ने वर्तमान वातावरण में सामाजिक आन्दोलनों के साथ मार्क्स-वाद का प्रतिपादन किया है वहाँ राहुल सांकृत्यायन जी ने अपने 'सिंह सेनापति' में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उन सिद्धांतों का उद्घाटन किया है उसमें गणतन्त्रों का वर्णन है और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण हुआ है। इस उपन्यास में मार्क्सवादी सिद्धातों पर एक आदर्श समाज (Utopea) का वर्णन है।

राजनीतिक वादों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से श्रीभगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नाम का उपन्यास पठनीय है। इसमें वानपुर के ताल्लुकेदार रमानाथ तिवारी के तीन लड़के अपनी-अपनी रुचि और परिस्थितियों के अनुकूल तीन विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। दयानाथ काँग्रेसी नेता बनकर जेल जाता है। उमानाथ जर्मनी से कम्यूनिस्ट विचारधारा अपने साथ लाता है और वह मजदूर आन्दोलन में भाग लेता है और प्रभानाथ वीणा मुकर्जी नाम की एक लड़की के सम्पर्क में आने से आतंक-वादी बन जाता है। वह राजनीतिक डाकों में भाग लेता है और उन्हीं में उसका अंत होता है। इस उपन्यास में यद्यपि तीनों ही नायक जीवन में असफल रहकर करुणाजनक अवस्था को प्राप्त होते हैं तथापि तीनों मार्गों के झाड़-झंखारों का परिचय मिल जाता है। साथ ही हमको रमानाथ के चरित्र में एक रूढ़िवादी ताल्लुकेदार के अहंवादी मनोवृत्तियों का अध्ययन मिल जाता है। उनमें यदि कहीं कामलता की स्वर्ण-रेखा है तो पुत्र-स्नेह के कारण।

सामाजिक उपन्यासों में वर्ग-द्वन्द्व और विषमता के चित्रण का इधर बहुत प्रयत्न हो रहा है। 'जहाज़ का पंछी' (इलाचन्द्र जोशी), उद्भ्रान्त (जैनेन्द्र कुमार जैन), परिवार (यज्ञदत्त शर्मा), निशिकान्त व तट के बन्धन (विष्णुप्रभाकर), बड़ी-बड़ी आँखें (अश्क) आदि उपन्यासों में यह प्रवृत्ति मिलती है। साथ ही प्रेम की समस्या पर भी विचार किया गया है। मध्यवर्गीय स्वप्नों का चित्रण भी इनमें मिलता है। इधर हिन्दी में आंचलिक उपन्यास बहुत लिखे गए हैं, इनमें "मैला आँचल" (फणीन्द्र नाथ रेणु)

"सागर लहरें और मनुष्य" (उदयशंकर भट्ट) उल्लेखनीय हैं। इनमें किसी प्रदेश का पूरा चित्र वर्णित होता है।

उपन्यासों के नये 'टैकनीकों' का प्रयोग करने की ओर भी हिन्दी के महारथियों की दृष्टि गई है। इसमें अज्ञेय जी का 'शेखर : एक जीवनी' अभूतपूर्व है। यह एक जीवनी के रूप में है जिसमें औपन्यासिकता का चमत्कारिक आरम्भ और नाटकीय प्रवेश और घटना का प्रबन्धपूर्वक विनियोग सभी को त्याग दिया गया है। इसमें घटनाएँ एक दूसरे से कार्य-कारण-श्रृंखला में आबद्ध नहीं वरन् वे एक व्यक्ति के व्यक्तित्व में अनुस्यूत हैं। उपन्यास का घटना-क्रम, फाँसी के पूर्व एक व्यक्ति को अपने अतीत के पर्यवेक्षण की जो अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई उसके द्वारा जाग्रत स्मृति का फल है। लेखक का कथन है कि वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। यह आत्मकथा के रूप में ही नहीं लिखा गया है वरन् इसमें वे आत्मकथात्मक तत्व भी हैं जो लेखक के जीवन से भी किसी-न-किसी प्रकार से सम्बद्ध हैं किन्तु उनका समावेश बड़े कौशल से हुआ है। 'शेखर' उपन्यास के रूप में जीवन के निर्मायक तत्वों की विषद व्याख्या है। समाज और व्यक्ति के आचारों और सम्बन्धों की मौलिक विवेचना तो पहले हो चुकी थी पर व्यक्ति के निर्माण करने वाले तत्वों की परीक्षा (बालकपन से आगे की अवस्था तक) शेखर में हो सकी है। अज्ञेय जी ने 'नदी के द्वीप' में मनोविश्लेषण के सहारे सामाजिक अनाचार और उच्छृंखलता को पोषण दिया है। उदयशंकर भट्ट के 'वह जो मैंने देखा' में भी यही नया रूप मिलता है। यह भी एक जीवन कहानी है—'शेखर : एक जीवनी' की भाँति विषद तो नहीं पर स्पष्ट और विशेष सुलझी हुई है। पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक प्रयोगों का भी आजकल के उपन्यासों में समावेश होता जाता है। सेठ गोविन्ददास जी के 'इंदुमती' नाम के उपन्यास में 'टैस्ट-ट्यूब बेबी' उत्पन्न कराकर नारी की पति-भक्ति दिखाई गई है, फिर उसी नारी में वासना का प्राबल्य दिखाया गया है। उसमें नारी के व्यक्तित्व की समस्या है।

इन सब प्रभावों में से होती हुई उपन्यासों की जो धाराएँ चल रही हैं उनमें से कुछ ऐसे भी उपन्यासकार हैं जो मानव के राजनीतिक अथवा मनोविश्लेषणात्मक पहलुओं को केवल मानव-संविधान के एक-एक अंग जैसा महत्त्व देते हैं। ये न समस्याओं के लिये उपन्यास लिखते हैं न किन्हीं घटनाओं के लिए। ये मानव के चरित्र की सामयिक परिस्थितियों में रूप-रेखा प्रस्तुत कर देते हैं—और वह क्या है? उसका नाम क्या रक्खा जाय?—इन प्रश्नों को पाठकों पर छोड़ देते हैं। ऐसे लेखकों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम उल्लेखनीय है। उनके उपन्यास 'गिरती दीवारें' के पात्रों में रोमांस और रसिकता का भाव विशेष रूप से आ जाता है। इसका नायक चेतन गिरती हुई दीवारों का द्रष्टा है और उनके गिरने में थोड़ा-बहुत सहायक भी होता है किन्तु वह जीवन के साथ समझौता करने को तैयार रहता है। उसका समझौता बेबसी का है। इस पुस्तक में निम्न मध्य वर्ग

इसी मौलिक भेद के कारण दोनों प्रकार की रचनाओं के शिल्प-विधान (Technique) में भी अन्तर पड़ जाता है। वातावरण का विस्तार, जीवन की अनेकरूपता, प्रासङ्गिक कथाओं के तारतम्य के कारण कथा-प्रवाह का बहुशाखा होकर अन्त की ओर अग्रसर होना, पात्रों का बाहुल्य आदि बातें जो उपन्यास में श्लाघ्य या कम-से-कम क्षम्य समझी जाती हैं, कहानी में अग्राह्य हो जाती हैं।

शिल्प-विधान की तुलना

कहानी में चरित्र के विकास के लिए अधिक गुन्जाइश नहीं रहती। उसमें गढ़े-गढ़ाये चरित्र की एक केन्द्रित आलोक में झलक दिखाई जाती है, जिससे पूरे चरित्र का भी कुछ आभास मिल जाता है। वास्तव में वह चित्रण नहीं होता वरन् क्षणिक प्रकाश होता है। कहानी के किसी पात्र में यदि चरित्र-परिवर्तन भी होता है तो प्रायः एक ही प्रभाव पूर्ण घटना से ही हो जाता है। उनमें सुनार की सौ चोटों की जरूरत नहीं वरन् लुहार की एक गहरी चोट ही काम कर जाती है। मुन्शी प्रेमचन्द की 'आत्माराम', 'शंखनाद' (जिसमें बेफिक्र, मन-मौजी गुमान पैसे के अभाववश अपने बच्चे को खिलौना खरीदने की असमर्थता और निराशा से प्रभावित हो अपना रवैया बदल देता है और बच्चे का रोना ही उसके लिए कर्त्तव्य का शंखनाद बन जाता है) कौशिक जी की 'ताई' और श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार लिखित 'डाकू' शीर्षक कहानियाँ हिन्दी-कहानी-साहित्य में चरित्र परिवर्तन के अच्छे उदाहरण हैं किन्तु ये सब हैं एक ही चोट के प्रभाव। कहानी में कथानक चरित्र-चित्रण और वातावरण (वह चाहे वाह्य हो या आन्तरिक) होते सब हैं किन्तु मुख्यता एक को ही मिल सकती है। शेष दो बहुत गौण हो जाते हैं उपन्यास में मुख्यता चाहे एक की ही रहे किन्तु तीनों को उचित विस्तार मिल जाता है। उपन्यास की सफलता सभी तत्वों के यथोचित समावेश में है।

कहानी की शैली अपनी संक्षिप्तता के कारण अधिक व्यञ्जना-प्रधान होती है। उसमें 'गागर में सागर' भरने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। व्यञ्जना, जो काव्य का प्राण है, उपन्यास की अपेक्षा कहानी में अधिक मात्रा में वर्तमान रहती है इसलिए वह काव्य के अधिक निकट आ जाती है। इसके अतिरिक्त उपन्यास का काव्यत्व बिखरा-सा रहता है, किन्तु कहानी का गुण उसकी एक-ध्येयता के कारण अंतिम बिन्दु में स्थित रहता है।

कहानी में व्यञ्जना की मात्रा पाठकों के मानसिक धरातल के अनुकूल घटती-बढ़ती रहती है। जो कहानियाँ निम्न श्रेणी के लोगों के लिए अथवा पढ़कर सुनाये जाने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं उसमें घटना की प्रधानता रहती है किन्तु जो अपेक्षाकृत सुपठित समाज के लिए शांति-पूर्वक अध्ययन-कक्ष के या शयनागार के भीतर पढ़े जाने के लिए लिखी जाती हैं उनमें व्यञ्जना और विचार की मात्रा अधिक रहती है।

कहानी में प्रगीत-काव्य का संगीत तो नहीं होता किन्तु वह अपनी एक-ध्येयता और वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण उसके अधिक निकट आ जाती है। कहानी का अन्तिम बिन्दु या तथ्य कहानीकार के मन में पहले से झलक जाता है। वह प्रायः किसी घटना विशेष को देखकर स्फुरित होता है और कभी-कभी वैसे भी बिजली की भाँति चमक जाता है। यदि उसका स्फुरण आन्तरिक हुआ तो वह उसको मूर्त्त रूप देने के लिए घटना का कल्पना से आविष्कार कर लेता है। कहानीकार का लक्ष्य तो उस तथ्य को ही प्रकाश में लाना रहता है फिर भी वह भाव को निरालम्ब नहीं रखता है वरन् उसकी पुष्टि में घटना-चक्र का आवश्यक मात्रा में समावेश कर देता है।

कहानी और प्रगीत काव्य

संगीत के अभाव के कारण कहानी गद्य-काव्य के अधिक निकट है किन्तु गद्य-काव्य के साथ भी उसका वही भेद है जो प्रगीत काव्य के साथ। गद्य की एक विधा होने के कारण तो कहानी भी गद्य-काव्य है किन्तु काव्य के विशेष अर्थ में (जैसे राय कृष्णदास या वियोगी हरि के गद्य-काव्य) वह गद्य-काव्य के निकट होता हुआ भी उससे भिन्न है। उसमें घटना की अपेक्षा रहती है, गद्य-काव्य में नहीं।

कहानी और गद्य-काव्य

गद्य-काव्य में घटनाओं का अभाव-सा रहता है और यदि घटनाएँ रहती हैं तो उनको महत्त्व न देकर उनसे जाग्रत हृदयोद्गारों को ही मुख्यता दी जाती है। कहानी में उद्गारों के साथ घटनाओं को भी समान महत्त्व का अधिकार रहता है।

रेखा-चित्र या स्कैच कहानी के बहुत निकट होते हुए भी उससे भिन्न हैं। रेखा-चित्र में एक ही वस्तु या पात्र का चित्रांकन रहता है और वह एक प्रकार से स्थायी होता है। कहानी में गत्यात्मकता रहती है। स्कैच में वर्णन (Description) का प्राधान्य रहता है। कहानी में वर्णन के साथ कुछ प्रकथन अर्थात् प्रबन्धात्मक कथन (Narration) भी रहता है। हिन्दी में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने बहुत सुन्दर रेखा-चित्र लिखे हैं। उनमें जिन वस्तुओं या व्यक्तियों (जैसे 'लैटरबक्स', 'पेट्रोल टैंक' या 'लालाजी') का चित्र खींचा जाता है, उनमें उस वस्तु के स्थायी सम्बन्ध को ही उपस्थित किया जाता है। कहानी में एक विशेष गति रहती है। उसमें काल-क्रम का विकास रहता है अर्थात् वह चलता हुआ दिखाई देता है। रेखा-चित्र में इस बात का अभाव-सा रहता है। कहानी में जितना काल-क्रम घटता जाता है उतनी ही वह रेखा-चित्र के निकट आ जाती है।

कहानी और रेखा-चित्र

कथा-साहित्य के अन्तर्गत होने के कारण वस्तु (Plot), चरित्र-चित्रण,

कथोपकथन, वातावरण, उद्देश्य और शैली ये छः तत्व तो उपन्यास की भाँति ही होते हैं किन्तु रचना के रूप विशेष के कारण उनके प्रयोग में थोड़ा अन्तर होता है। शरीर के अवयवों की भाँति ये तत्व भी अन्योन्याश्रित हैं।

कहानी के तत्व

कहानी की कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त होती है। उसमें शहर के रहने वाले अल्प-संख्यक परिवार के कक्ष की भाँति प्रसंगागत मेहमानों के लिए समाई नहीं। कहानीकार अपने पाठक को अन्त तक पहुँचाने में इधर-उधर घूमने या 'चिलम-तमाकू पीने' का अवकाश नहीं देता। घटनाओं के सम्बन्ध में 'बिना प्रयोजन अन्दर आने की इजाजत नहीं' कहानीकार का मूल-मन्त्र कहा गया है (No admittance except on business must be the short story writer's motto)। इसी के साथ घटनाओं को परस्पर-सम्बद्ध होना भी आवश्यक है। उनका तारतम्य ऐसा हो कि वे एक कौतूहल की शृङ्खला में बँधी हुई आगे बढ़ती चली जायँ और ऐसी भी न मालूम हों कि वे जबरदस्ती ढकेल दी गई हैं।

कथावस्तु

कहानी का कथानक आरम्भ होकर प्रायः किसी-न-किसी प्रकार के संघर्ष द्वारा क्रमशः उत्थान को प्राप्त होता हुआ 'चरम' या तीव्रतम स्थिति (climax) को पहुँचता है, वहाँ पर कौतूहल क्रमशः अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है और कौतूहल का चमत्कारिक और कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से अन्त हो जाता है। वहाँ पर आकर ऊँट एक निश्चित करवट से बैठ जाता है। इसके पश्चात् कहानी का परिणाम या अन्त आता है, जिसमें पूरे तथ्य का उद्घाटन हो जाता है। चरम या तीव्रतम स्थिति परिणाम को अधिक महत्त्वपूर्ण बना देती है। यह कहानी के लिए अनिवार्य नहीं किन्तु इसके द्वारा कहानी को अधिक उत्कर्ष प्राप्त होता है। किन्हीं-किन्हीं कहानियों में यह चरम बिन्दु बड़ा स्पष्ट और नुकीला होता है और किन्हीं में कुछ फैला-सा रहता है। प्रसाद जी की 'मधुआ' नाम की कहानी में यह कुछ फैला-सा दिखाई देता है।

कहानी के आरम्भ में अन्त का थोड़ा-सा संकेत रहना वांछनीय रहता है, जिससे अन्त अप्रत्याशित होते हुए भी नितांत आकस्मिक न लगे। यद्यपि कहानी की गति उपन्यास-की सी वक्र नहीं होती तथापि एक-दो घुमाव उसकी रोचकता को बढ़ा देते हैं। जीवन का प्रवाह भी संघर्षमय है। वह भी भुजगम गति से चलता है। कहानी उससे भिन्न नहीं हो सकती। कहानी में कई घटनाएँ हो सकती हैं और होती हैं किन्तु उनमें एकता और अन्विति आवश्यक होना चाहिए। चरम-सीमा का सम्बन्ध प्रायः मूल घटना से होता है।

यद्यपि आज का मानव पुरुषार्थ को महत्त्व देता है फिर भी जीवन में ऐसे अवसर

आ जाते हैं, जबकि कहना पड़ता है कि 'मेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और' (Man Proposes God Disposes) कहानीकार को भी ऐसा अवसर उपस्थित करना पड़ता है, इसी को विधि का विधान कहते हैं। केवल करुणोत्पादन के लिए विधि के विधान का आश्रय लेना अवांछनीय है किन्तु यदि पुरुषार्थ की सीमा बतलाने के लिए ऐसा किया जाय तो कोई हानि नहीं। इस प्रकार कहानी का कथानक बहुत अंश में कलाकार के उद्देश्यों और जीवन मीमांसा पर निर्भर रहता है।

आजकल कथानक को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता, जितना कि चरित्र-चित्रण और भावाभिव्यक्ति को। चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध पात्रों से है। कहानी में पात्रों की संख्या न्यूनातिन्यून होती है। कहानी में पात्रों के चरित्र का पूर्ण विकास-क्रम नहीं दिखाया जाता वरन् प्रायः बने-बनाये चरित्र के ऐसे अंश पर प्रकाश डाला जाता है जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व झलक उठे।

चरित्र-चित्रण

कहानी के पात्र चाहे कल्पना-लोक के हों और चाहे वास्तविक संसार के किन्तु वे सजीव और व्यक्तित्वपूर्ण होने चाहिएँ। जो पात्र मिट्टी के थूमे की भाँति अपना कोई व्यक्तित्व न रखते हों, वे पाठकों में रुचि नहीं उत्पन्न कर सकते हैं। पात्र होते तो हैं लेखक के मानस-सन्तान किन्तु वे लेखक हाथ की कठपुतली नहीं बन जाते। लेखक पात्र को जो व्यक्तित्व प्रदान करता है, बिना पर्याप्त कारणों के उसे बदलता नहीं है और पात्र एक बार कल्पना-लोक में जन्म लेकर अपने व्यक्तित्व के अनुकूल ही कार्य कलाप करते हैं। वे कथानक की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र नहीं करते। सिवाय इस बात के कि कहानी में चरित्र के विकास की कम गुँजाइश रहती है उसमें बने-बनाये चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और यदि परिवर्तन होता है तो एक साथ, क्रमशः नहीं और सब बातें प्रायः उपन्यास-की-सी हैं।

चरित्र-चित्रण कई प्रकार से होता है। उसके दो मुख्य प्रकार हैं—एक तो प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक (Dircct or Analytical) जिसमें कि लेखक स्वयं पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालता है और दूसरा है परोक्ष या नाटकीय (Indirect or Dramatic) ढंग, जिसमें चरित्र या तो पात्रों के वार्तालाप या कार्य-कलाप से अनुमेय रहता है। इसमें भी कभी-कभी लेखक किसी पात्र-द्वारा सीधे या संकेतात्मक रूप से टीका-टिप्पणी करा देता है। सांकेतिक चित्रण वह होता है जिसमें गुणों की अपेक्षा उनके द्योतन करने वाले कार्यों का अधिक वर्णन रहता है। प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण में भी प्रायः सांकेतिक ढंग ही अधिक पसन्द किया जाता है। सांकेतिक रूप से प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण का मुंशी प्रेमचन्द जी की 'लाञ्छन' शीर्षक कहानी से

चरित्र-चित्रण के प्रकार

एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"वह पढ़ी-लिखी गरीब बूढ़ी औरत थी; देखने में सरल, बड़ी हँसमुख; लेकिन जैसे किसी चतुर प्रूफ-रीडर की निगाह गलतियों पर ही जा पड़ती है, उसकी आँखें बुराइयों पर ही जा पड़ती थीं। शहर में ऐसी कोई महिला न थी, जिसके विषय में दो-चार लुकी-छुपी बातें न मालूम हों। उसकी चाल में बिल्लियों-का-सा संयम था। दबे पैर धीरे-धीरे चलती; पर शिकार की आहट पाते ही, जान से मारने को तैयार हो जाती थी। उसका काम था महिलाओं की सेवा-टहल करना; पर महिलायें उसकी सूरत से काँपती थीं।"

परोक्ष चित्रण में आजकल वार्तालाप द्वारा चरित्र-चित्रण को मुख्यता दी जाती है। इसमें लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कहता। पात्रों का चरित्र उनके वार्तालाप द्वारा अनुमेय रहता है और कभी-कभी पात्र स्वयं अपने चरित्र का विश्लेषण कर देता है या दूसरा पात्र उसके विषय में कुछ शब्द या वाक्य सीधे या सांकेतिक रूप से कह देता है। देखिये—

"हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ। तुम मुझे दरिद्र युवक समझकर मेरे ऊपर कृपा रखते थे; किन्तु उसमें कितना तीक्ष्ण अपमान था, इसका मुझे अब अनुभव हुआ।"

"... न अभी न फिर कभी। मैं दरिद्रता को दिखला दूँगा, कि मैं क्या हूँ। इस पाखण्ड-संसार में रहूँगा, परन्तु किसी के आगे सिर न झुकाऊँगा। हो सकेगा, तो संसार को बाध्य करूँगा झुकने के लिए।"

—प्रसाद जी की 'व्रतभङ्ग' नाम की कहानी से

दूसरे पात्र के मुख से किसी चरित्र के सम्बन्ध में कुछ कहाने का एक छोटा-सा उदाहरण उसी कहानी से दिया जाता है। नन्दन के क्षमा माँगने पर राधा कहती है—

"स्वामी यह अपराध मुझ से न हो सकेगा। उठिए, आज आपकी कर्मण्यता से, मेरा ललाट उज्ज्वल हो रहा है। इतना साहस कहाँ छिपा था नाथ!"

मुन्शी प्रेमचन्द जी की 'गिला' नाम की कहानी में एक स्त्री अपने पति का चरित्र-चित्रण करती है। उसमें केवल एक ही पात्र है और उसके चित्रण में स्वयं उसके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। वर्णन कहीं तो बिलकुल सीधा है और कहीं सांकेतिक। सीधे वर्णन का उदाहरण देखिये—"महाशय अपने दिल में समझते होंगे, 'मैं कितना परोपकारी हूँ।' शायद उन्हें इन बातों का गर्व है। मैं इन्हें परोपकारी नहीं समझती, न विनीत ही समझती हूँ। यह जड़ता है, सीधी-साधी निरीहता; इसलिए मैं तो इन्हें कृपण कहूँगी, अरसिक कहूँगी, हृदय-शून्य कहूँगी, उदार नहीं कह सकती।"

फिजूलखर्ची का सांकेतिक उदाहरण नीचे दिया जाता है। यह भी उसी स्त्री द्वारा किया हुआ पतिदेव का चित्रण है।

"सच कहती हूँ, कभी-कभी तो एक-एक पैसे की तंगी हो जाती है और इन भले आदमी को रुपये जैसे घर में काटते हैं जब तक रुपये के वारे-न्यारे न कर लें, इन्हें चैन नहीं। इनकी करतूत कहाँ तक गाऊँ। मेरी तो नाक में दम आ गया है। एक-न-एक मेहमान रोज यमराज की भाँति सिर पर सवार रहते हैं। न जाने कहाँ के बेफिक्रे इनके मित्र हैं। कोई कहीं से आकर मरता है, कोई कहीं से। घर क्या है, अपाहिजों का अड्डा बना हुआ है ?"

वार्तालाप के अतिरिक्त पात्रों का कार्य-कलाप भी उनके चरित्र-चित्रण का एक साधन होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कहानी में गढ़े-गढ़ाये चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है, उसमें विकास की कम गुँजाइश रहती है। यदि परिवर्तन होता है, तो प्रायः एक साथ ही होता है, जैसा कि कौशिकजी की 'ताई' अथवा प्रेमचन्द जी की 'शङ्खनाद' आदि कहानियों में हुआ है।

कथोपकथन या वार्तालाप द्वारा ही पात्रों के हृदयङ्गत भावों को जान सकते हैं। यदि वार्तालाप पात्रों के चरित्र के अनुकूल न हो तो हम पात्र के चरित्र का मूल्याङ्कन करने में भूल कर जायँगे। कहानीकार 'घर के मौतबिर नाई' की भाँति विश्वास-पात्र अवश्य है किन्तु मार्मिक स्थलों पर पात्रों के वार्तालाप को ज्यों-का-त्यों उपस्थित कर देने में हमको दूसरे आदमी द्वारा बताई हुई बात की अपेक्षा परिस्थिति का ठीक अन्दाज लग जाता है; कहानी में कथोपकथन का तिहरा काम रहता है। उसके द्वारा पात्रों के चरित्र का परिचय ही नहीं मिलता वरन् उसके सहारे कथानक भी अग्रसर होता है और एक जी उबाने वाले प्रकथन के भीतर आवश्यक सजीवता उत्पन्न हो जाती है। कथोपकथन को संगत, सजीव, चमत्कार-पूर्ण और परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए। हम साधारण जीवन में बहुत-सा निरर्थक वार्तालाप भी करते हैं किन्तु कहानी में इसकी गुँजाइश नहीं। हाँ, वार्तालाप में यथार्थता और सजीवता लाने के लिए दो-चार इधर-उधर की भी बात खप सकती है किन्तु कुशल कलाकार उनको भी सप्रयोजन और चरित्र का परिचायक बना देता है।

कथोपकथन

कहानी में उपन्यास की भाँति वातावरण के चित्रण के लिए अधिक गुँजाइश नहीं होती है फिर भी कहानी में देश-काल की स्पष्टता लाने के लिए तथा कार्य से परिस्थिति की अनुकूलता व्यंजित करने के अर्थ इसका चित्रण आवश्यक हो जाता है। वातावरण भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है और भौतिक वातावरण भी प्रायः ऐसा होता है कि जो पात्रों की स्थिति की व्याख्या में सहायक हो। वातावरण के चित्रण में प्रसाद जी ने विशेषता प्राप्त की है। 'पुरस्कार' कहानी के प्रारम्भिक दृश्य में प्रकृति और जनता की

वातावरण

मानसिक स्थिति में बहुत सुन्दर साम्य है। देखिए—

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देवदुन्दुभी का गम्भीर घोष, प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा—देखने लगा महाराज की सवारी। शैल-माला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चमरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा, वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरे लेने लगा।"

एक और उदाहरण कौशिक जी की 'विद्रोही' शीर्षक कहानी से दिया जाता है—

"एक महत्त्वपूर्ण अभियान के विध्वंस करने की तैयारी थी। प्रकृति काँप उठी। घोड़ों और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसाती हवा के थपेड़ों से जंगल के वृक्ष रणनाद करते हुए झूम रहे थे। पशु-पक्षी त्रस्त होकर आश्रय ढूँढ़ने लगे, बड़ा विकट समय था।"

"उस भयानक मैदान में राजपूत सेना मोरचाबन्दी कर रही थी। हल्दीघाटी की ऊँची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाये उन्मत्त गज समान खड़े थे।"

ऐसे स्थलों में वातावरण का वर्णन रसशास्त्र की दृष्टि से उद्दीपन कहलाएगा। इस प्रकृति-चित्रण ने युद्ध की भयानकता को और भी गहरा कर दिया है।

उद्देश्य

प्रत्येक कहानी में कोई उद्देश्य या लक्ष्य अवश्य रहता है कहानी का ध्येय केवल मनोरंजन या लम्बी रातों को काट कर छोटा करना नहीं है वरन् जीवन-सम्बन्धी कुछ तथ्य देना या मानव-मन का निकट परिचय कराना है किन्तु वह उद्देश्य या तथ्य हितोपदेश या ईसप (Aesop) की कहानियों की भाँति व्यक्त नहीं किया जाता है। वह अधिकांश में व्यंजित ही रहता है। कहानी के अध्ययन में उसका उद्देश्य समझना एक आवश्यक बात होती है। कहीं पर यह उद्देश्य स्पष्ट रूप से व्यंजित होता है; जैसा—सुदर्शन की 'एलबम' शीर्षक कहानी में। उसका उद्देश्य बहुत ऊँचा है? वह है याचक का स्वाभिमान नष्ट किये बिना उसकी सहायता करना। प्रसादजी की 'मधुआ' नाम की कहानी का उद्देश्य यही है कि जब मनुष्य पर चिन्ता करने का भार पड़ जाता है तब उसका सुधार हो जाता है। शराबी के जीवन में 'मधुआ' के आ जाने से परिवर्तन हो गया। उसको खिलाने की चिन्ता हो गई। वह शराब न खरीदकर लड़के के लिए मिठाई खरीद लाता है और सान चलाने का अपना छोड़ा हुआ रोजगार करने लगता है। कहीं-कहीं यह कुछ गूढ़ हो जाता है। यह उद्देश्य कभी-कभी अन्तिम वाक्य में भी सूक्ति-रूप से रख दिया जाता है और उसकी उक्ति का चमत्कार ही उसमें काव्यत्व ले आता है, जैसे—अज्ञेयजी की 'शत्रु' शीर्षक कहानी का अन्तिम वाक्य—"**जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।**"

कहानी के उद्देश्य में जीवन-मीमांसा तो नहीं किन्तु प्रायः जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण का भी परिचय मिल जाता है। कुछ लेखक समझौते को पसन्द करते हैं तो कुछ संघर्ष को। कुछ लोग संसार को जैसा-का-तैसा स्वीकार कर लेते हैं तो कुछ उसमें आमूल-चूल परिवर्तन चाहते हैं। प्रगतिवादी कहानियों में क्रान्ति द्वारा आमूल परिवर्तन की व्यञ्जना रहती है। कुछ कहानीकार उद्देश्य को महत्त्व देते हैं तो कुछ केवल जीवन के विश्लेषण और मन की अन्धतम गुफाओं में प्रकाश की रेखा पहुँचाने को। मनुष्य को भली प्रकार समझा देना ही उनका उद्देश्य हो जाता है।

जिन कहानियों में चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता रहती है, या रेखाचित्र दिया जाता है, उनमें उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट तो नहीं रहता किन्तु उसमें भी चित्रण का दृष्टिकोण रहता है। उसी को उद्देश्य समझना चाहिए, जैसे—प्रेमचन्दजी की 'बड़े भाई साहब' शीर्षक कहानी में अग्रज होने की बड़ाई दिखाकर अपनी कुन्दज़हनी छिपाने वाले लोगों की कमजोरी का उद्घाटन है।

'कफन' या 'शतरञ्ज के खिलाड़ी' जैसी कहानियों में चित्रण की ही मुख्यता है किन्तु उनमें भी अलमस्त बेफिक्रे जीवन पर एक व्यङ्ग्य रहता है जो पाठक पर उस स्थिति से अपने को बचाये रखने का प्रभाव डालता है। यही उसका उद्देश्य हो जाता है।

शैली का सम्बन्ध कहानी के किसी एक तत्त्व से नहीं वरन् सब तत्त्वों से है और उसकी अच्छाई या बुराई का प्रभाव पूरी कहानी पर पड़ता है। कला की प्रेषणीयता अर्थात् दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति शैली पर ही निर्भर रहती है। किसी बात के कहने या लिखने के विशेष प्रकार को शैली कहते हैं। इसका सम्बन्ध केवल शब्दों से ही नहीं है वरन विचार और भावों से भी है।

शैली

शैली के कुछ गुण जैसे—संगति, तार्किकक्रम आदि तो विचार से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ भाषा से। कलाकार का उद्देश्य किसी बात को केवल बोधगम्य करना ही नहीं है वरन् प्रभाव डालना भी है। बात तो जो 'शुष्कं कष्ठं तिष्ठत्यग्रे' में है वही **'नीरस तरुवर पुरभाति या विलसती पुरतः'** में भी है लेकिन प्रभाव वैसा नहीं है। अच्छी शैली के लिए लक्षण-व्यंजना आदि भाषा की सभी शक्तियों से लाभ उठाना पड़ता है। वैसे तो प्रत्येक लेखक की अलग शैली होती है किन्तु मोटे तौर से दो प्रकार की शैलियाँ हैं—एक चलती मुहावरेदार भाषा की, जिसके प्रतिनिधि और नायक हैं मुंशी प्रेमचन्द, दूसरी अलंकृत, संस्कृत-प्रधान शैली, जिसके उत्कृष्ट उदाहरण हमको चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा 'प्रसाद' जी की कहानियों में मिलते हैं। 'प्रसाद' जी साधारण जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों में भी एक-रस हैं। मुन्शी प्रेमचन्द की मुहावरेदार भाषा का अच्छा उदाहरण हमको उनकी 'बड़े भाई साहब' शीर्षक कहानी में मिलता है। उससे

एक छोटा-सा उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"मेरे फेल होने पर मत जाओ, मेरे दर्जे में आओगे तो दाँतों पसीना आ जायगा, अलजबरा और जामेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे और इङ्गलिस्तान का इतिहास पढ़ना पड़ेगा।...मेरे दर्जे में आओगे लाला, तो ये सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे और तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा। इस दर्जे में अव्वल आ गए हो, तो जमीन पर पैर नहीं रखते, इसलिए मेरा कहना मानिये। लाख फेल हो गया हूँ लेकिन संसार का मुझे तुम से कहीं ज्यादा अनुभव है। जो कुछ कहता हूँ उसे गिरह बाँधिये, नहीं पछताइयेगा।"

इस अवतरण में चलते मुहावरों के अतिरिक्त हिन्दी-उर्दू के शब्दों का बड़ा सुखद सम्मिश्रण है। मुन्शी प्रेमचन्द जी इस मुहावरेदानी के शौक में कहीं-कहीं अंग्रेजी के मुहावरे ले आये हैं; जैसे—'हमेशा सर पर एक नङ्गी तलवार-सी लटकती मालूम पड़ती है।' मुहावरों में भाषा की लक्षणा-शक्ति के प्रयोग से कुछ चमत्कार आ जाता है और कुछ अपनी बात को एक बँधी-बधाई प्रचलित शब्दावली के भीतर ले आने का सामाजिक सुख मिलता है। इन मुहावरों में चित्र-से रहते हैं, जो बात को शीघ्र ही हृदयङ्गम करा देते हैं।

'हृदयेश' जी की शैली प्रायः 'बाण' की लिखी हुई 'कादम्बरी' की शैली का अनुकरण करती है किन्तु बड़े समासों की क्षमता जितनी संस्कृत में है उतनी हिन्दी में नहीं इसलिए वह अपेक्षाकृत कहाँ सरल है, फिर भी ढङ्ग वही है। ऐसी शैली में भाव की अपेक्षा शब्दों का चमत्कार अधिक रहता है। एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए—

"पतंग-प्रिया पद्मिनी प्रोषितपतिका की भाँति, श्री-विहीन हो संकुचित हो गई। पक्षिकुल-संरक्षक-विहीन गायक समाज की भाँति, मूक हो गया। प्रकृति, परिश्रम के विश्राम की भाँति स्तब्ध हो गई। गगनांगण में विहार करता हुआ चन्द्रमा अपनी शुभ्र चन्द्रिका की शीतल धारा से धारणी देवी के दिनकर-कर-तप्त कलेवर का सिंचन करने लगा।"
—'प्रतिज्ञा' नाम की कहानी से

'प्रसाद' जी अपनी भाषा में संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से एक विशेष शालीनता ले आते हैं। संस्कृत के शब्द उनकी भाषा की गति को कुण्ठित नहीं कर देते हैं।

प्राचीन वातावरण को अवतरित करने के लिए संस्कृत-प्रधान शैली ही उपयुक्त होती है। शैली का चुनाव विषय पर भी निर्भर रहता है। घटना-प्रधान सामाजिक कहानियों में प्रेमचन्द जी की ही शैली अच्छी रहती है। भाव-प्रधान कहानियों में दोनों प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त होती हैं किन्तु मार्मिक स्थलों में साधारण शब्दों से भी भाव का अच्छा उद्रेक हो सकता है।

उपयुक्त शब्द-चयन, पद-मैत्री, सुसंगठित वाक्य-विन्यास, अकुण्ठित प्रवाह, फबती हुई अलङ्कार-योजना, भाषा की चित्रोपमता, लक्षणा-व्यंजना-शक्तियों का सफल प्रयोग,

हास्य-व्यंग्य का पुट, शैली के इन सब प्रधान गुणों के अतिरिक्त कहानी में शैली-सम्बन्धी दो विशेष शक्तियों की आवश्यकता होती है। एक है, वर्णन-शक्ति (Power of description), दूसरी है, प्रकथन या प्रबन्ध-कथन शक्ति (Power of narration) जिसके लिए उपयुक्त शब्द के अभाव में अब विवरण-शक्ति का प्रयोग होने लगा है। यदि इसके लिए प्रकथन-शक्ति शब्द गढ़ लिया जाय तो विशेष सुविधा रहेगी।

वर्णन जड़ और चेतन का होता है और उसमें प्रकृति-चित्रण भी आ जाता है। विवरण में अधिकतर घटना-वर्णन रहता है। वर्णन में स्थायी गुणों का चित्रण रहता है और विवरण में गतिशील घटनाओं या दशाओं का चल-चित्र रहता है। वर्णन-द्वारा कहानीकार वह काम करता है, जो नाटक में पर्दों और अभिनेताओं द्वारा होता है।

विवरण का सबसे बड़ा गुण है—कौतूहल को जाग्रत रखना और गति में शैथिल्य न आने देना। गति में शैथिल्य आना, बनावटीपन की शङ्का दिला देता है। कहानीकार में यह शक्ति तभी आती है जब कि उसमें गहरी अनुभूति के साथ सजीव कल्पना हो और उसके चित्र को बाहर प्रतिफलित करने की शक्ति हो। इन शक्तियों का कहानीकार में जितना योग होगा उतनी ही उसकी सफलता निश्चित होगी।

भाषा के सौष्ठव के साथ कहानी के मुख्य गुण संगति और प्रभाव की एकता को न भूलना चाहिए। अच्छी कहानी घटनाओं, भावों, विचारों तथा प्रारम्भ, प्रसार और अन्त में अन्विति लाने का प्रयत्न करती है।

कहानी का आदि और अन्त

कहानी का आदि उसका प्रवेश-द्वार है। यदि यह प्रवेश-द्वार ऐसा नहीं कि हमारी जिज्ञासा-वृत्ति को जाग्रत कर सके अथवा और किसी प्रकार का आकर्षण उत्पन्न कर सके, तो उसके पढ़ने के लिए पाठक की स्वाभाविक रुचि न होगी विवशतावश उसे चाहे जो कुछ करना पड़े। कहानी के आदि और अन्त के सम्बन्ध में अमरीकी आलोचक (Mr. Ellery Sedgewick) का कथन है कि कहानी एक घोड़े की भाँति है उसकी चाल का आरम्भ और अन्त विशेष महत्त्व रखता है 'A story is like a horse it is the start and finish that count most.' कहानी के आदि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह वास्तविक आरम्भ हो किन्तु वह ऐसा मार्मिक स्थल हो जहाँ से आगे-पीछे के अंश जोड़े जा सकें। यह आरम्भ किसी महत्त्वपूर्ण वर्तालाप से और चाहे किसी विशेष स्थिति, वातावरण या घटना और कभी चरित्र के वर्णन से भी हो सकता है किन्तु इसमें कुछ बात ऐसी हो कि जो हम में आगे जानने या रहस्योद्घाटन की इच्छा या दिलचस्पी पैदा कर सके। प्रारम्भिक वर्णनों और वर्तालाप में प्रायः कहानी की गतिविधि और दिशा का संकेत भी रहता है लेकिन वह होता बहुत सूक्ष्म है।

वातावरण की विवेचना में हमने जो 'प्रसाद' जी की 'पुरस्कार' शीर्षक कहानी से प्रारम्भिक अवतरण दिये हैं, वे बड़े सुन्दर प्रवेशक हैं। 'प्रसाद' जी ने एक आकर्षक वातावरण देकर धीरे-धीरे कहानी के विषय से परिचित करा दिया है। पाटक को ज्ञात हो जाता है कि उत्सव वर्षा के सम्बन्ध में है और सम्राट उसमें भाग ले रहे हैं। कथोपकथन से आरम्भ होने वाली कहानी का उदाहरण हमको आकाश-दीप में मिलता है।

कहानी का आरम्भ जैसा आकर्षक होना चाहिए वैसा ही उसका अन्त चमत्कार-पूर्ण और स्थायी प्रभाव डालनेवाला होना वाञ्छनीय है। कहानी के अन्त की झंकृति जितनी देर तक हमारे मानस-गगन में गूँजे, उतना ही हम कहानी को सफल समझेंगे। सुदर्शन जी की 'कवि की स्त्री' शीर्षक कहानी का अन्त बड़ा काव्यमय तथा हृदय पर गहरी चोट देनेवाला है, देखिये—

"उस रात मुझे ऐसे नींद आई जैसी इसके पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परन्तु उनके प्रेम को नहीं ठुकरा सकी। मनुष्य मर जाता है और उसका प्रेम जीता रहता है।"

कहीं-कहीं कहानी का अन्त चरम सीमा के साथ हो जाता है और कहीं-कहीं उसके बाद ही किन्तु बहुत बाद नहीं। बहुत बाद में होने से कहानी में शिथिलता आ जाती है। कहानी का शीर्षक यदि कहानी के अन्त से सम्बन्धित हो तो सोने में सुगन्ध की बात हो जाती है, जैसे कि प्रसादजी की पुरस्कार शीर्षक कहानी में अथवा चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा का सों कहों मेरी सजनी' में।

कहानी कहने का ढङ्ग—उपन्यास की भाँति कहानी कहने के भी तीन ढङ्ग हैं—

१—वर्णनात्मक या ऐतिहासिक रीति—इसमें कथाकार द्रष्टा की भाँति कहानी को कहता है। अधिकांश कहानियाँ इसी शैली में लिखी जाती हैं। प्रेमचन्द जी की 'बूढ़ी काकी' कौशिक जी की 'ताई' गुलेरी जी की 'उसने कहा था' इसके उदाहरण हैं।

२—आत्मकथा रीति—इसमें कहानी का कोई प्रमुख पात्र कहानी को आपबीती के रूप में कहता है। कभी-कभी एक पात्र दूसरे से सुनी हुई कहानी को कहता है जैसे चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार की 'पगडंडी' शीर्षक कहानी अथवा जैनेन्द्र जी की 'जाह्नवी' नाम की कहानी। सुदर्शन जी की 'कवि की स्त्री' शीर्षक कहानी में तीन पात्र हैं, सत्यवान, मणिराम और सावित्री। जिन्होंने अलग-अलग कथा का सूत्र मिलाते हुए आत्म-कथात्मक रूप से कहानी कही है। डायरी भी आत्मकथा का रूप है।

३—पत्रों के रूप में—कहानी का विस्तार पत्रों के रूप में भी प्रकाशित हो जाता है, इसमें प्रायः दो पात्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर रहते हैं। उनमें पात्र कथा का अपना-अपना अंश कहते हैं। प्रसाद जी की 'देवदासी' इसका उदाहरण है। विनोदशंकर व्यास की

'अपराधी' कहानी एक पत्र के रूप में लिखी गई है।

यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि हिन्दी की पहली कहानी कब और किसने लिखी तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनको प्रचार देने में सरस्वती का बहुत बड़ा हाथ है। हिन्दी में कहानियों का लिखा जाना संवत् १६५७ से आरम्भ हुआ। संवत् १६५७ से भी दो-चार वर्ष पूर्व कहानियाँ लिखी गईं किन्तु वे प्रायः अंग्रेजी और संस्कृत नाटकों को संक्षेप-मात्र थीं। हिन्दी-कहानी के प्रारम्भिक लेखकों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनन्दन), 'बङ्ग-महिला', पंडित रामचन्द्र शुक्ल, मास्टर भगवानदास आदि हैं। इन लोगों की लिखी हुई कहानियों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ बंगला से अनुवादित। इन प्रारम्भिक लेखकों की कहानियों में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' और बङ्गमहिला की 'दुलाईवाली' ने विशेष ख्याति पाई। वास्तव में स्वनामधन्य जयशङ्करप्रसाद जी ने इस क्षेत्र में अवतरित होकर छोटी कहानियों में एक प्रकार प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। उनकी 'ग्राम' नाम की पहली कहानी उनके द्वारा संस्थापित 'इन्दु' नाम की पत्रिका में संवत् १६६७ में निकली। उनकी 'आकाश-दीप', 'पुरस्कार', 'प्रतिध्वनि', 'चित्रमन्दिर' आदि कहानियों ने एक नया युग उपस्थित किया। उनकी कहानियों में स्वर्णिम आभा से विभूषित प्राचीनता के वातावरण को उपस्थित करने के अतिरिक्त अच्छे मनोवैज्ञानिक चित्रण आये हैं। उनमें हमको बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाई देते हैं। 'पुरस्कार' नाम की कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का संघर्ष है। आत्म-बलिदान द्वारा मधूलिका इस द्वन्द्व का शमन कर देती है।

हिन्दी-कहानी का विकास

इसके पश्चात् विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कहानी के क्षेत्र में आये। इनकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। इनकी बहुत-सी कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र आये हैं। इनकी कहानियाँ वार्तालाप-प्रधान हैं।

सुदर्शन जी का नाम भी कौशिक जी के साथ लिया जाता है। इनकी कहानियों के कुछ कथानक राजनीतिक आन्दोलनों से भी लिये गये हैं। इनकी 'न्याय-मन्त्री' नाम की कहानी ऐतिहासिक है। इसने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की है। इनकी लिखी हुई 'हार में जीत' शीर्षक कहानी में उच्च मानवता के दर्शन होते हैं। सुदर्शन जी शहरी मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। वास्तव में सुदर्शन जी कौशिक जी और प्रेमचन्द जी के साथ हिन्दी-कहानी लेखकों की बृहत्-त्रयी में रक्खे जा सकते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी-कहानियों में जान डाल दी है। उन्होंने सरल मुहावरेदार भाषा में बड़े सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र दिये हैं। ग्रामीण जीवन के दृश्य उपस्थित करने में वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा साधारण मनुष्यों में भी

उच्च मानवता के दर्शन कराये हैं। 'पंच परमेश्वर' में पद का उत्तरदायित्व दिखलाया है। 'बड़े घर की बेटी' बुरे अर्थ में भी बड़े घर की बेटी है और भले अर्थ में भी अपने नाम को सार्थक करती है। जो देवर और पति के बीच में लड़ाई का कारण बनती है वही उनमें मेल करा कर अपने हृदय की मानवता का परिचय देती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ जीवन के अच्छे चित्र हैं। 'ईदगाह' में गरीब मुस्लिम जीवन की झाँकी मिलती है। मुंशी जी की कहानियाँ अधिकांश में घटना-प्रधान हैं किन्तु उनमें भावुकता का भी पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है। मुँशी जी की कहानियों में वर्णन का यथार्थवाद है किन्तु उद्देश्य आदर्शवादी है। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। मुंशी प्रेमचन्द जी में आधुनिक कहानी में बाहरी दृश्यों में मनुष्य के अन्तर्जीवन की झलक दिखाने की प्रवृत्ति पूर्ण-रूपेण परिलक्षित होती है।

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने जो कहानियाँ लिखी हैं वे कहानी की अपेक्षा गद्य-काव्य का नाम अधिक सार्थक करती हैं। उनकी कहानियों में भाषा का चमत्कार अधिक है।

प्रेमचन्द जी के बाद कहानी-साहित्य में जैनेन्द्रजी का नाम आदर से लिया जाता है। आपकी कहानियों में युग की नई भावनाओं के दर्शन मिलते हैं। आपकी 'खेल' नाम की कहानी को पढ़कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि हिन्दी में रवि बाबू और शरद् बाबू हमको मिल गये और एक साथ मिले। जैनेन्द्र जी की कहानियों में कथानक अथवा तथ्य-निरूपण का इतना महत्त्व नहीं जितना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण का फिर भी वे बीच-बीच में बड़ी तथ्यपूर्ण बात कह देते हैं। उनकी कहानियों पर उनकी दार्शनिकता की छाप रहती है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों के पात्रों की भाँति ही उनकी कहानियों के पात्र भी कुछ असाधारण होते हैं।

चन्द्रगुप्तजी विद्यालङ्कार ने बड़ी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपकी 'तांगेवाला', 'क, ख, ग', 'डाकू' 'चौबीस घण्टे' आदि कहानियों ने अधिक प्रसिद्धि पाई है। 'चौबीस घण्टे' नाम की कहानी में क्वेटा-भूकम्प का हाल है। 'डाकू' में दरबार साहब के धार्मिक वातावरण का अच्छा चित्रण है। 'कामकाज' नाम की कहानी में सीधा उपदेश न देकर ऐसा मन पर प्रभाव डाला गया है कि पाठक अनुभव कर सकता है कि काम-काज के नाम पर मानवता की कितनी हत्या होती है। 'एक सप्ताह' नाम की कहानी पत्रों में लिखी गई है।

अज्ञेय जी अब वात्स्यायन के नाम से ज्ञेय हैं। उन्होंने कहानी-कला में विशेष निपुणता प्राप्त की है। आपकी कहानियों में विप्लव और विस्फोट-की-सी भावना रहती है। आपकी 'अमर वल्लरी' नाम की कहानी में एक विशेष काव्य-भावना को लेकर पीपल वृक्ष का जीवन-वृत्त आया है। यह एक प्रकार का शब्द-चित्र है जो जड़ चीजों को भी

सजीव बना देता है। ऐसी कहानियों में कल्पना का प्राधान्य रहता है। कमलाकांत वर्मा की 'पगडंडी' शीर्षक कहानी में पगडंडी ने आत्म-कथात्मक रूप से अपना वृत्त ऐसे ढंग से कहा है कि जिससे मनुष्य भी कुछ तथ्य ग्रहण कर सकें। उसमें उपेक्षित रहते हुए कर्तव्य-पालन में मग्न रहने की अमर शिक्षा मिलती है।

श्री अन्नपूर्णानन्द और श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने विनोदपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा की कुछ कहानियों में बड़े सुन्दर सामाजिक व्यंग्य आये हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री ने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ अच्छी लिखी हैं। उनका भाषा-प्रवाह प्रशंसनीय है। वर्तमान कहानी-लेखकों में सियारामशरण गुप्त, घनीराम प्रेम, सत्यजीवन वर्मा, विनोदशङ्कर व्यास, बेचन शर्मा 'उग्र', उपेन्द्रनाथ अश्क, पहाड़ी, यशपाल, विष्णु, राधाकृष्ण, प्रसाद प्रभृति महानुभावों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पन्तजी की पाँच कहानियों में पान वाले आदि के शब्द-चित्र देखने को मिलते हैं।

हिन्दी की स्त्री लेखिकाओं में शिवरानी देवी, सुभद्राकुमारी चौहान, कमला देवी चौधरानी, उषा देवी मित्रा, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, होमवती तथा चन्द्रवती जैन प्रभृति देवियों ने विशेष ख्याति पाई है। श्रीमती होमवती देवी की कहानियों का संग्रह 'निसर्ग' नाम से छपा है। इन देवियों की कहानियों में हिन्दू पारिवारिक जीवन के सुन्दर चित्र मिलते हैं।

इस प्रकार की कहानियों में दो प्रवृत्तियाँ हैं—प्रकृति से उपदेश ग्रहण की प्राचीन प्रवृत्ति और मानवीकरण की नवीन छायावादी प्रवृत्ति। आजकल की कहानी-साहित्य कला और भाव-व्यञ्जना दोनों ही दृष्टियों से बहुत सम्पन्न हैं।

वर्तमान कहानी यथार्थवाद से अधिक प्रभावित है। इसी प्रभाव के कारण भाषा सरलता की ओर जा रही है। अब कहानी में चरित्र-विश्लेषण और सामाजिक तथा अन्य प्रकार की विचार-सामग्री उपस्थित करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। आधुनिक कहानियाँ कौतूहल की पूर्ति करने वाली आकस्मिक संयोगों से पूर्ण घटनाओं से चलकर उनके द्वारा मानव-चरित्र और उसके अंतरङ्ग जीवन पर प्रकाश डालने की ओर अग्रसर होता है। कौतूहल की पूर्ति की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। उपदेश-ग्रहण होता है किन्तु अधिक व्यंग्यात्मक और प्रभावात्मक ढंग से कराया जाता है और वातावरण को भी प्रधानता मिलती है तो बाह्य और अन्तर प्रकृति के सामंजस्य दिखलाने के लिए। इस प्रकार आधुनिक कहानी का विकास-क्रम बाहर से भीतर की ओर रहा है।

८

श्रव्यकाव्य (गद्य) अन्य विधाएँ

निबन्ध

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—गद्य को कवियों की कसौटी कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। वास्तव में निबन्ध में ही हम गद्य का निजी रूप देखते हैं। साहित्य की अन्य विधाओं में (जैसे जीवनी आदि में) तो गद्य की भाषा एक माध्यम-मात्र है किन्तु निबन्ध में वह अपनी पूर्ण शक्ति और सजधज के साथ प्रकट होती है। निबन्ध में ही गद्य लेखक की शैली का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है और शैली ही व्यक्ति है (Style is the man himself) की उक्ति साहित्य की इस विधा के सम्बन्ध में पूर्णतया सार्थक होती है। काव्य की इस विधा में सभी तत्व रहते हैं किन्तु इसमें शैली को कुछ अधिक महत्त्व मिला है। कोई विषय निबन्ध के क्षेत्र में बाहर का नहीं है। इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन, विज्ञान, आलोचना, जीवन-मीमांसा, कथा, यात्रा सभी इसके व्यापक क्षेत्र के भीतर आते हैं। शैली की विशेषता विविध प्रकार के विवेचनों और वर्णनों को निबन्ध की संज्ञा प्रदान करती है।

गद्य-साहित्य में निबन्ध का महत्त्व

साहित्य के इतिहास में निबन्ध पीछे की कला है। वह अपने लिए साहित्य की सभी विधाओं से सामग्री ग्रहण करता है। लक्षणा-व्यंजना, हास्य-व्यंग्य आदि शैली के सभी साधन इस विधा की सेवा के लिए उपस्थित रहते हैं। निबन्ध के भीतर प्रबन्ध-का-सा तारतम्य रहता है किन्तु एक संग्रह के भीतर निबन्धों में मुक्तक-की-सी स्फुटता रहती है। यह कहानी और खण्डकाव्य के अधिक निकट है।

हिन्दी में निबन्ध शब्द 'ऐसे' (Essay) के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति में पूर्व-पश्चिम-का-सा भेद है। संस्कृत शब्द 'निबन्ध' का अर्थ है जिसमें निःशेष रूप से बन्ध या संगठन हो। 'बन्ध' शब्द का निबन्ध में भी वही अर्थ है जो बन्ध का प्रबन्ध-काव्य में है (अर्थात् तारतम्य और संगठन)। इसके विपरीत अंग्रेजी शब्द 'ऐसे' (Essay) का अर्थ है प्रयत्न। यूरोप में इस विधा के जन्मदाता फ्रांसीसी लेखक मोन्टेन (Montaigne) ने इस शब्द का इसी अर्थ में

अर्थ और परिभाषा

प्रयोग किया है। उसके निबन्धों में सम्बद्धता का अभाव-सा है। उसने अपनी कल्पना की लगाम ढीली कर रक्खी थी और उसके विचार स्वाभाविक विचार-शृङ्खला का अनुकरण करते थे। उसके निबन्ध एक कल्पनाशील मन के विचरण-मात्र हैं। डा० जॉनसन (Dr. Johnson) की परिभाषा में भी अंग्रेजी निबन्ध को असंगठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित मन का विचरण कहा गया है—'A loose sally of mind, an irregular, undigested piece, not a regular and orderly performance.' —Hudson : An Introduction to the Study of Literature. (पृष्ठ ३३२ से उद्धृत)। अंग्रेजी निबन्ध (Essay) का शाब्दिक और प्रारम्भिक अर्थ यह अवश्य था किन्तु लेखकों की रुचि शृङ्खला की ओर बढ़ती गई। इसमें अन्य तत्वों की अपेक्षा बुद्धितत्व का अधिकाधिक समावेश होने लगा है और असम्बद्धता निबन्ध का व्यावर्तक गुण नहीं रहा, वरन् वह एक दोष की कोटि में आ गया है। इस प्रकार व्यवहार में अब पाश्चात्य शब्द 'ऐसे' (Essay) और हिन्दी शब्द 'निबन्ध' प्रायः समानार्थक हो गए हैं फिर भी उसमें अपने नाम का थोड़ा-बहुत प्रभाव शेष है ही। इस बदले हुए दृष्टिकोण का परिचय हमको मरे (Murray) के अंग्रेजी कोष में दी हुई परिभाषा से मिलता है। देखिए—

'A composition of immoderate length on any particular subject or branch of subject orginally implying want of finish, (An irregular undigested piece) but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range—Hudson' : An Introduction to the study of Literature (पृष्ठ ३३१, ३३२ से उद्धृत)।

इसमें जॉनसन की परिभाषा को प्रारम्भिक बतलाकर ली को विशदता पर बल दिया है। वास्तव में यूरोप और भारत दोनों देशों में निबन्ध-साहित्य इतना विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है कि निबन्ध शब्द को कुछ लक्षणों के घेरे में बाँधना कठिन हो जाता है किन्तु फिर भी नीचे की बातें प्रायः सभी निबन्ध में पाई जाती हैं—

(१) *वह अपेक्षाकृत आकार में छोटी गद्य-रचना के रूप में होता है।* यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि निबन्ध गद्य में ही लिखा जाय (अंग्रेजी में Pope's Essay on man और हिन्दी में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' पद्य के ही निबन्ध हैं) तथापि अधिकांश निबन्ध गद्य की ही विधा माने जाते हैं। विलायत में लोक (Lock) का दार्शनिक प्रबन्ध जो करीब ४०० या ५०० पृष्ठ का होगा (An Essay on Human Understanding) के नाम से प्रसिद्ध है किन्तु इससे यह न अनुमान करना चाहिए कि निबन्ध इतना बड़ा भी हो सकता है। सम्भव है लेखक

ने शील-संकोचवश उसे 'ऐसे' का ही नाम दिया हो।

(२) उसमें लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व झलकता रहता है। पुस्तक में लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल कर सकता है किन्तु निबन्ध में यह व्यक्तित्व छिपाया नहीं जा सकता। लेखक जो कुछ लिखता है उसको अपने निजी मत के रूप में अथवा अपने निजी दृष्टिकोण से लिखता है। उसके पीछे उसकी निजी प्रेरणा दिखाई देती है। यदि लक्षणा या व्यञ्जना के विषय में कोई ऐसा लिखा जाय जिसमें केवल शास्त्रीय मत ही दिया हो तो वह किसी पुस्तक का अध्याय बन सकता है, निबन्ध न होगा। निबन्ध तभी होगा जब कि वह लेखक के निजी दृष्टिकोण से देखा गया हो।

(३) निबन्ध में अपूर्णता और स्वच्छन्दता के रहते हुए भी वह स्वतःपूर्ण होता है। वह एक प्रकार से गद्य का मुक्तक काव्य है। उसमें प्रगीत-काव्य-का-सा निजी पन रहता है। जिस प्रकार कहानी जीवन के एक पहलू की झाँकी है उसी प्रकार निबन्ध में एक दृष्टिकोण है। उसके लिए विषय का पूर्ण प्रतिपादन आवश्यक नहीं है। कहानी का उदय तथ्य की झलक से होता है उसी प्रकार निबन्ध भी एक नई झलक लेकर आता है।

(४) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। उसमें प्रतिभा की चमक-दमक रहती है और वह वर्णन-मात्र नहीं होता। दार्शनिक निबन्ध भी दार्शनिक ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक सजीव होगा। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिए ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिक प्रयोग और स्वल्प मात्रा में अलंकारों का भी समावेश किया जा सकता है। निबन्धकार अपनी प्रतिभा के बल से साधारण को भी असाधारण बना देता है। जीवन की सिकता भी उसकी प्रतिभा के प्रकाश में रजत-कणों की भाँति जगमगा उठती है।

निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।

निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं। निबन्ध 'कुछ नहीं' (Nothing) से लगाकर विश्व की अनन्तता में आने वाली जितनी वस्तुएँ, भाव और क्रियाएँ हैं उन सब पर लिखे जा सकते हैं। यद्यपि हिन्दी में निबन्ध-साहित्य अंग्रेजी-का-सा नहीं है तथापि इसका विषय-वैविध्य निराशा-जनक नहीं है (विशेषतः जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि हमारे यहाँ इस विधा की उपज को पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए हैं)। 'समझदार की मौत' 'बात', 'वृद्ध', 'माँ', 'धोखा' 'दाँत', 'आप',—(पं० प्रतापनारायण मिश्र); 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता', 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'कवि और

निबन्ध का विषय-विस्तार

चितेरे की डाँड़ामेड़ी'—(पं० बालकृष्ण भट्ट); 'रामलीला'—(पं० माधव प्रसाद मिश्र); 'कवि और कविता'; 'हंस का नीर-क्षीर विवेक', 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ', 'नल का दुस्तर दूत-कार्य'—(पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी); 'शिव-शम्भु के चिट्ठे' के निबन्ध—(श्री बालमुकुन्द गुप्त); 'कछुआ धर्म' और 'मारिस मोर कुटाऊँ'—(चन्द्रधर शर्मा गुलेरी); 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता'—(अध्यापक पूर्णसिंह); 'ऋद्धि-सिद्धि'—(श्री गोपालराम गहमरी); 'कविता क्या है' 'साधारणीकरण व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'लज्जा और ग्लानि', 'भय', 'उत्साह'—(पं० रामचन्द्र शुक्ल); 'समाज और साहित्य'—(बाबू श्यामसुन्दर दास); 'साहित्यिक चन्द्रमा'—(श्री वियोगी हरि); 'गंगाबाई', 'पद्मावत की कहानी', 'केशवदास',—(डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल); 'रामानुजाचार्य', 'लुका-छिपी'—(श्री नलिनी मोहन सान्याल); 'अनुप्रास की खोज'—(पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी); 'इक्का', 'हाँ', 'नहीं'—(पं० सद्गुरुशरण अवस्थी); 'बाल्य-स्मृति', 'अन्य भाषा के भेद', 'साहित्य और राजनीति', 'कवि-चर्चा' 'हिमालय की झलक'—(श्री सियारामशरण गुप्त); 'अशोक के फूल', 'प्रायश्चित्त की घड़ी', 'मेरी जन्म-भूमि', 'भारतीय फलित ज्योतिष'—(श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी); इन पंक्तियों के लेखक की 'साहित्य की तोसरी उपेक्षिता' (भैंस) 'मेडियाधसान', 'हीनता ग्रन्थि' (Inferiority Complex) इत्यादि-इत्यादि साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है।

निबन्धों को हम चार विभागों में बाँट सकते हैं।

(१) वर्णनात्मक (Descriptive)
(२) विवरणात्मक (Narrative)
(३) विचारात्मक (Reflective)
(४) भावात्मक (Emotional)

इन प्रकारों के मिश्रण से भी और बहुत से प्रकार हो सकते हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में वस्तु को स्थिर रूप में देखकर वर्णन किया जाता है, इसका सम्बन्ध अधिकतर देश से है। विवरणात्मक का सम्बन्ध अधिकांश में काल से है, इसमें वस्तु को उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। विचारात्मक में तर्क का सहारा अधिक लिया जाता है, यह मस्तिष्क की वस्तु है। भावात्मक, निबन्धों का सम्बन्ध हृदय से है। यद्यपि काव्य के चारों तत्त्व (कल्पना-तत्त्व, रागात्मकतत्त्व, बुद्धि-तत्त्व और शैली तत्त्व) सभी प्रकार के निबन्धों में अपेक्षित रहते हैं तथापि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में कल्पना की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि-तत्त्व को और भावात्मक निबन्धों में रागात्मक तत्त्व को मुख्यता मिलती है। शैली-तत्त्व सभी में समान रूप से वर्तमान रहता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों में कहीं विचारात्मक को

और कहीं भावात्मकता की प्रधानता हो सकती है। विचारात्मक तथा भावात्मक का भी मिश्रण होना सम्भव है।

इन निबन्धों में अलग-अलग शैलियाँ पाई जाती हैं। विचारात्मक निबन्धों में समास शैली (जैसी आचार्य शुक्ल जी की है) और व्यास-शैली (जैसी आचार्य श्यामसुन्दर दास जी की है) मिलती है। आचार्य शुक्ल जी के विचारपूर्ण निबन्धों का आदर्श इस प्रकार दिया है—

"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हों।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास (पृष्ठ ४४२, ४४३)

आचार्य शुक्लजी ने स्वयं इस आदर्श का पालन किया था किन्तु यह आदर्श विशेषतः समास-प्रधान शैली का है। समास-प्रधान-शैली में 'गागर में सागर' अर्थात् थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति रहती है और व्यास-प्रधान-शैली में वस्तु को उचित फैलाव के साथ समझा-समझाकर कहने की ओर झुकाव होता है। वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक लेखों या निबन्धों में भी प्रायः व्यास-शैली का प्रयोग होता है। भावात्मक निबन्धों में भी व्यास शैली तो रहती है किन्तु भावावेश के न्यूनाधिक्य के कारण कई श्रेणियाँ हो जाती हैं और उसमें धारा शैली के साथ विक्षेप शैली का भी समावेश हो जाता है।

विचारात्मक निबन्धों की समास-शैली के दो उदाहरण आचार्य शुक्ल जी लिखित चिन्तामणि (भाग १) मे दिए जाते हैं—

"दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रक्खी गई है। करुणा से क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार व अनुमान से उत्पन्न होता है।"

—'करुणा' शीर्षक निबन्ध से

× × × ×

"बिम्ब-ग्रहण कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृति आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम

कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी, पर जब रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है, वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आकार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किन्तु वहाँ उसे यों ही उड़ान भरना नहीं होता, उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ना है।"

—काव्य में प्राकृतिक दृश्य से

विचारात्मक निबन्धों में व्यास-शैली—

"भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचार-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेव-वाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा दृष्टिकोण भी अधिका-धिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है।"

—डाक्टर श्यामसुन्दर दास
(भारतीय साहित्य की विशेषताएँ)

"आरोग्य-रक्षा के नियम माँ-बाप को न मालूम रहने से उनके बाल-बच्चों को जो भोग भुगतने पड़ते हैं, उनकी जो दुर्गति होती है, उन पर जो आफतें आती हैं उनका ठौर-ठिकाना नहीं। हजारों बच्चे तो माँ-बाप की असावधानी और मूर्खता के कारण पैदा होते ही मर जाते हैं। जो बचते हैं उनमें लाखों अशक्त निर्बल और जन्म-रोगी होते हैं और करोड़ों ऐसे नीरोग और सबल नहीं होते जैसे होने चाहिएँ। अब इन सबको आप जोड़ डालिए तो आपको मालूम हो जायगा कि माँ-बाप की नादानी के कारण सन्तति को कितनी हानि उठानी पड़ती है, कितना दुःख सहना पड़ता है।"

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
('शिक्षा' शीर्षक निबन्ध से)

विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं। व्यास-शैली में एक ही बात को समझा-समझाकर कई रूप में कहा जाता है।

वर्णनात्मक निबन्धों में व्यास-शैली—

"निर्मल वेत्रवती पर्वत को बिदारकर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से सम भूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्ददायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर में प्रवेश करता है और जलकरण उड़-उड़कर मुक्ताहार की छवि दिखाते और रवि-किरण के संयोग से सैंकड़ों इन्द्र-धनुष बनाते हैं। नदी की थाह में नाना रङ्ग के पत्थरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं, जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जल-धारा की छटा दिखाती है।"

—कृष्णबलदेव वर्मा के बुन्देलखण्ड पर्यटन से।

(का० ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित निबन्धमाला; भाग १ पृष्ठ ८३)

यह तो बेजान चीज का वर्णन हुआ, इसमें संस्कृत तत्समता का प्राधान्य है। समास-शैली में तो प्रायः संस्कृत शब्दों का बाहुल्य रहता ही है। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा लिखा हुआ जंगबहादुर नाम के पर्वतीय कुली का वर्णन लीजिए—

"पर्वतीय पथ और पत्थरों की चोट से टूटे नाखून और चुटीली उंगलियों के बीच में ढाल बनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु बना कर भी खुर न देने-वाले परमात्मा का उपहास कर रही थी। पाँव से दो बालिश्त ऊँचा और ऊनी, सूती पैबन्दों से बना हुआ पजामा मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्बना जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट में, नीचे की मटमैले अस्तर की झाँकी देती हुई ऊपरी तह तार-तार फटकर झालरदार हो उठी थी और सब अपने पहननेवाले को एक झबरे जन्तु की भूमिका में उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रंग और अनिश्चित रूप वाली दोपलिया टोपी के छेदों से रूखे बाल जहाँ-तहाँ झाँककर मैले पानी और उसके बीच-बीच में झाँकते हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।"

—श्रीमती महादेवी वर्मा

(स्मृति की रेखा से)

विवरणात्मक—श्री सियारामशरण गुप्त के 'हिमालय की झलक' शीर्षक निबन्ध से उसका विवरणात्मक अंश दिया जाता है—

"लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी-सी जगह पा सकूँ। मित्र ने इन्टर क्लास में बैठने का आग्रह कर दिया था। वह दरजा कुलीन गरीबों का दरजा है। हम जैसे अनेक दूसरे जन भी दरजा बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इसलिए भीड़ की आशंका थी। ताँगे से उतरते ही कुली ने बताया कि इन्टर में बैठिएगा, तो आगे एक जगह गाड़ी बदलनी होगी। तीसरे दर्जे का एक डिब्बा सीधा काठगोदाम को जाता है।··· आकाश बादलों से घिरा था। रात अँधेरी थी। पता नहीं चलता था, कहाँ आकर

गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिए रवाना हो गई है। अज्ञात और अदृश्य की ओर बढ़े जा रहे थे। फिर भी निश्चिन्तता थी। सो सकते थे, पर सो नहीं सके। पानी बरस जाने से लैम्प के आसपास और पूरे डिब्बे में पतंगों की भरमार थी। इन बिना टिकटों की संख्या का प्रश्न ही क्या ? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण का अधिकार उनका था।"

—झूठ सच (पृष्ठ २१३, २१४)

साहसपूर्ण कार्यों के विवरण (जैसे पण्डित श्रीराम शर्मा के बाघ से भिड़न्त आदि शिकार-सम्बन्धी लेखों में अथवा अन्य लेखकों के एवरेस्ट की चढ़ाई या कलाश-यात्रा-सम्बन्धी लेखों में मिलते हैं) विवरणात्मक लेखों की ही संज्ञा में आते हैं।

थोड़ी भावुकता लिए हुए विवरणात्मक निबन्ध के उदाहरण महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के 'राजपूतों का उत्थान' आदि ऐतिहासिक निबन्धों में मिलेंगे।

भावात्मक निबन्धों में प्रायः तीन प्रकार की शैलियाँ होती हैं—एक धारा-शैली, दूसरी तरङ्ग-शैली और तीसरी विक्षेप-शैली। धारा-शैली में भावों की धारा प्रवाहमय रहकर प्रायः एक गति से चलती है किन्तु तरंग-शैली में वे भाव लहराते हुए-से प्रतीत होते हैं, तरंग की भाँति वे उठते और गिरते प्रतीत होते हैं। विक्षेप-शैली में वह कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का अभाव रहता है। तीनों ही शैलियों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

भावात्मक निबन्धों की धारा-शैली—

"जो धीर है, जो उद्वेग-रहित है, वही संसार में कुछ कर सकते हैं। जो लोहे की चादर की भाँति जरा ही में गर्म हो जाते और जरा ही में ठण्डे पड़ जाते हैं, उनके लिये क्या हो सकता है, मसल है —जो बादल गरजते हैं वे बरसते नहीं।"

"धीर पुरुष का मन समुद्र के समान होता है। वह गम्भीर और अथाह होता है। समुद्र की तरह मर्यादा-पालन में उसकी यह दशा है कि आनन्द और ऐश्वर्य-रूपी अनेक नद-नदियाँ उसमें गिरती हैं; पर क्या मजाल जो वह जरा भी मर्यादा का उल्लंघन करे। उसकी परिपूर्णता को देखिए, ताप-रूपी सूर्य दिन-रात उसे तपाया करते हैं। यही नहीं, चिन्ता-रूपी विचार-बड़वाग्नि दिन-रात उसी में जला करती है, पर उसमें जरा भी कमी नहीं होती।"

राय कृष्णदास 'धीर' शीर्षक लेख की प्रारम्भिक पंक्तियाँ (निबन्धमाला; भाग १ पृष्ठ ११०)

इससे कुछ अधिक ओजमई भाषा सरदार पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्धों में दिखाई पड़ती है। उदाहरणस्वरूप सरदारजी के 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबंन्ध से एक उद्धरण दिया जाता है।

"तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा-कि-गिरा। एक कदम और, धड़ाम से नीचे! कारण केवल इसका यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सू॰ और तारागों के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ, समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस अपार संसार से कूच हुआ।"

तरंग-शैली, धारा और विक्षेप-शैली के बीच की चीज है। बीच की चीज पर लेबिल लगाना कठिन हो जाता है। फिर भी श्री माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता' का निम्नोल्लिखित उद्धरण उसका कुछ आभास दे सकेगा—

"मैं तुम्हारी एक तस्वीर खींचना चाहता हूँ।"

"मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; कलम की जीभ को बोल लेने दो, किन्तु हृदय और मसि-पात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्द्ध विराम अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम-मात्र होगा। परन्तु यह काली बूँदें, अमृत बिन्दुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक और मेरे लिए अधिक मूल्यवान् हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

"परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र? बड़ी टेढ़ी खीर है! सिपहसालार तुम देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से छनकर, धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की दौड़ हो और हो उन्माद के अतिरेक के रक्ततर्पण भी। आह! कौन नहीं जानता कि तुम कितनों की वंशी की धुन हो; धुन वह, जो 'गोकुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल, मिटाए मिटता नहीं, भुलाए भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैग़म्बरों का पैग़ाम, अवतारों की आन, युगों को चीरती, किस लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची? वह तो तुम हो, परम प्रकाश—स्वयं प्रकाश। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो? सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिए बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो, प्यारे! ऐसे समय हमारे सम्पूर्ण युग का मूल्य तो, मेल-ट्रेन में पड़ने वाले छोटे-से स्टेशन-का-सा भी नहीं होता।"

—साहित्य देवता (पृष्ठ १-६)

भावात्मक निबन्धों में विक्षेप-शैली—

वैसे भी भावात्मक निबन्धों में बुद्धितत्त्व की न्यूनता रहती है किन्तु विक्षेप-शैली के

निबन्धों में इसका और भी ह्रास-सा हो जाता है। विक्षेप-शैली का एक उदाहरण श्री वियोगी हरि के साहित्यिक चन्द्रमा से दिया जाता है।

"हे मृगलांछन ! पाप छिपाए नहीं छिपता, किसी-न-किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गए। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हाँ, मुँह बेशक काला होगया। तुम्हारा यह कलुष-कलंक मरने पर भी न छूटेगा। मदिरा-पान क्या बट्टे खाते जायगा ? वियोगियों का जला देना क्या हँसी-खेल है ? अभी तो जरासी कारिख लगी है, कुछ दिनों में मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर भी कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं।"

—हिन्दी निबन्धमाला (पृष्ठ १८०, १८१)

इससे मिली-जुली शैली का एक उदाहरण महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के 'ताज' शीर्षक लेख से दिया जाता है।

"अन्तिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था। देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बेबस बैठा अपनी किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा लेने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमंगों पर, पाला पड़ रहा था।......"

"हाय अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया ! पर प्रेमी, जीवन-यात्रा का एक-मात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़कर चल बसा, भारत-सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, साम्राज्ञी मुमताज-महल सदा के लिए इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहान का शाह था, किन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से न रोक सका।"

—पृष्ठ ६४ सं० तृतीय १९५१

विक्षेप-शैली में जब भावावेश का वेग मर्यादा से बाहर होने लगता है तब उसमें उच्छृंखलता-सी आ जाती है और वह प्रलाप की कोटि में गिनी जाती है। विक्षेप और प्रलाप-शैली में मात्रा का ही अन्तर है।

हास्य-व्यंग्यात्मक लेख भी विषयानुकूल भावात्मक या विचारात्मक लेखों की संज्ञा में आ सकते हैं। कुछ लोग इनकी पृथक् एक विधा स्वीकार करते हैं। शैलियों के विभाजन के और भी कई आधार हैं, व्यक्तिप्रधान और निर्वैयक्तिक। संस्कृत तत्सम-प्रधान और उर्दू मिश्रित इत्यादि-इत्यादि।

शैलियों के प्रकार तो बहुत से हो सकते हैं। किसी में तत्सम शब्दों का बाहुल्य

होता है तो किसी में तद्भव शब्दों का और किसी में उर्दू-हिन्दी की गंगा-जमुनी धारा बहाई जाती है। यद्यपि विषय को कठिनाई से शैली में दुरूहता आ जाती है तथापि शैली में प्रवाह के साथ प्रसाद-गुण उपादेय होता है। क्रम, संगति, संगठन और अन्विति शैली के आन्तरिक गुण हैं। शैली में भी अनेकता में एकता उत्पन्न करना वाञ्छनीय रहता है। निबन्ध के एक-एक वाक्य में आकांक्षा, (एक शब्द दूसरे की प्रतीक्षा-सा करता मालूम हो और वाक्य की पूर्ति अन्त में हो, ऐसे वाक्य को अंग्रेजी में Period अर्थात् वाक्योच्चय कहते हैं), योग्यता (शब्द एक दूसरे के अनुकूल हों, सींचना पानी से ही होता है, अग्नि से नहीं) आदि गुण अपेक्षित होते हैं। सार्थक उपयुक्त शब्दों की पद-मैत्री और क्रम से उतार-चढ़ाव (भाव का भी उतार-चढ़ाव और ध्वनि का भी, जैसे बड़े शब्द पीछे आवें) ये गुण शैली को प्रसादमय बना देते हैं और मुहावरों का प्रयोग और हास्य-व्यंग्य का पुट उसे चलतापन प्रदान करता है। लक्षणा-व्यंजना के प्रसाधन जो कि काव्य को उत्तमता प्रदान करते हैं गद्य-शैली में भी उचित मात्रा में आदरणीय समझे जाते हैं। शैली को न तो अलंकारों से बोझिल बनाना चाहिए और न उसमें तुकबन्दी लाकर उसे पद्य का आभास देना चाहिए। वाक्यों के एक-से संगठन जब तक विशेष रूप से समीकृत वाक्यों द्वारा प्रभावोत्पादन अभीष्ट न हों, तथा शब्दों की पुनरावृत्ति बचाना चाहिए। अधिक भावुकता-प्रदर्शन आजकल के युग को मान्य नहीं है। प्रभावोत्पादन एक विशेष कला है जो अभ्यास से ही प्राप्त होती है। जो बात थोड़े शब्दों में कही जा सकती है उसके लिए शब्दों का विस्तार-बाहुल्य वांछनीय नहीं है। लाघव का गुण गद्य में भी प्रशंसनीय है। नावक के तीर चाहिए जो 'देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर'।

अच्छी शैली के गुण

विकास

यूरोप में निबन्धों का श्रीगणेश फ्रांसीसी विद्वान् मोन्टेन (सन् १५३३-१५९२) से होता है। स्वयं उस पर प्लूटार्क (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी) [विशेषतः उसकी आचार-सम्बन्धिनी पुस्तक मोरेलिया (Morellia)] और सिनेका (६१ ई० पू० से ३० ई० पू०) का प्रभाव था। उसके निबन्धों का संग्रह फ्रांस में सन् १५८० में प्रकाशित हुआ। वे विविध विषयों पर थे किन्तु उनमें यही त्रुटि थी कि वे विचार-शृंखला (Association of ideas) के सहारे चलते थे। बीच में यदि 'भय' का उल्लेख आया तो 'भय' पर ही उसकी विचारधारा चल पड़ी और यदि 'सवारी' का नाम आया तो 'सवारियों' की विवेचना होने लगी। उसके निबन्धों में सामग्री प्रचुर और मूल्यवान् है

अंग्रेजी साहित्य में निबन्ध

पर नियन्त्रण का अभाव है।

मोन्टेन के निबन्धों का अंग्रेजी अनुवाद सन् १६०० के लगभग हुआ। इंगलैंड में बेकन (१५६१-१६२६) के निबन्ध सन् १६०० से कुछ पूर्व निकले थे किन्तु विद्वानों का ख्याल है कि बेकन ने मोन्टेन के निबन्ध फ्रांसीसी भाषा में पढ़े होंगे। बेकन के निबन्ध वास्तव में बड़े सम्बद्ध हैं और उनमें सूत्रों-की-सा समास-शैली का परिचय मिलता है। उसके वाक्य सूक्ति-रूप से व्यवहृत होते हैं जैसे—

'Reading maketh a full man, conference a ready man and writing an exact man.'

अर्थात् पढ़ने से मनुष्य में पूर्णता आती है, वार्तालाप से वह प्रत्युत्पन्न मति बनता है और लिखने से उसमें निश्चितता आती है। बेकन के निबन्धों में निर्व्यक्तीकरण अधिक है। उनमें प्रभावोत्पादन का प्रयत्न अवश्य है किन्तु तार्किक विश्लेषण का आधिक्य सरसता में बाधक होता है। बेकन के विषय भी प्रायः अमूर्त और मनोवैज्ञानिक रहे। मान्टेन के निबन्धों में उसके व्यक्तित्व की पूरी छाप थी।

सत्रहवीं शताब्दी में निबन्धकारों में बेन जॉनसन (सन् १५७३-१६३७), एब्राहम काउले (सन् १६१८-१६६७), विलियम टम्पिल (सन् १६२८-१६९९) आदि प्रमुख हैं। इनके लेखों में व्यासोन्मुख शैली और निजीपन का कुछ आभास मिलता है। काउले के 'ऑफ़ माई सैल्फ़' नाम के निबन्ध में उसकी आत्मा का प्रतिस्पन्दन सुनाई पड़ता है। निबन्ध में सजीवता लाने के लिए उसका झुकाव मूर्त विषयों की ओर हुआ। वर्ग प्रतिनिधियों (Types) जैसे कृषक (Yomen) कवि, विश्वविद्यालय का विद्यार्थी और व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण होने लगा। विचार और विश्लेषण के साथ वर्णन की प्रवृत्ति बढ़ी। निबन्ध में निजीपन का विकास 'टैटलर' (सन् १७०९) और 'स्पैक्टेटर' (सन् १७११) नाम के समाचार पत्रों से हुआ। पीछे से आइडलर और रेम्बलर ने निबन्ध-साहित्य के प्रसार में योग दिया। इनकी कलेवर-पूर्ति के लिए निबन्ध-साहित्य प्रचुरता से रचा जाने लगा। इन समाचार-पत्रों के निबन्धों के सम्बन्ध में एडीसन (सन १६७२-१७१९) और स्टील (१६७२-१७२९) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लोगों ने निबन्ध के विषय को पर्याप्त विस्तार दिया और शैली में सरलता तथा वार्तालाप-की-सी सजीवता उत्पन्न की। इन लेखकों ने सामाजिक विषयों को भी अपनाया, इस कारण वे जनता के अधिक निकट आ सके। डाक्टर जॉनसन (सन १७०९-१७८४) और गोल्डस्मिथ (सन १७२८-१७७४) भी अट्ठारहवीं शताब्दी में हुए। डाक्टर जॉनसन के लिए 'आकार सदृशप्रज्ञः' की बात बिलकुल चरितार्थ होती थी। जैसे वे भारी-भरकम आकार के थे वैसी ही उनकी शैली भी भारी-भरकम थी। उनकी शैली में गाम्भीर्य था। जो चटपटापन उनकी जीवनी में उल्लिखित वार्तालाप में दिखाई देता है उसका उनके

निबन्धों में अभाव-सा है। ओलीवर गोल्डस्मिथ (सन १७२८-१७७४) के निबन्धों में एक सुखद हल्कापन है। उनमें उपदेशात्मकता के अभाव के साथ कवि की प्रतिभा की झलक मिलती है जो हास्य-विनोद के पुट के साथ और भी चमक उठती है। गोल्डस्मिथ की शैली का पूर्ण विकास हमको चार्ल्सलैम्ब (सन १७७५-१८३४) के निबन्धों में मिलता है जो कि वैयक्तिक निबन्धों के उत्कृष्ट रूप कहे जा सकते हैं। उसमें कल्पना के साथ उत्साह और वैयक्तिक भावना के दर्शन होते हैं। उनमें आत्मकथात्मक तत्त्व की प्रधानता होने के कारण वे अधिक रुचिकर हो सके। वे अनियमित निबन्ध (Informal Essays) के चरम विकास कहे जा सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्धकारों में मैकॉले, कारलाइल, मैथ्यू आर्नल्ड, हैज़लिट, रस्किन, हक्सले, मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, इमरसन आदि प्रमुख हैं। इनकी अलग-अलग शैलियाँ हैं किन्तु इनके निबन्धों में विचारात्मकता का प्राधान्य है। आलोचनात्मक निबन्ध लेखकों में हैज़लिट (१७७८-१८३०), मैकाले (१८००-१८५९), मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-१८८८), थैकरे (१८११-१८६३) आदि प्रमुख हैं। जॉन रस्किन (१८१९-१९००) के निबन्धों में एक विशेष पाण्डित्यमयी नैतिकता और चमत्कारपूर्ण तार्किकता के दर्शन होते हैं। राल्फ वाल्डो इमरसन (१८०३-१८५०) में आध्यात्मिकता का अधिक पुट है। कारलाइल (१७९५-१८८१) आलोचनात्मक है और उनके कुछ निबन्धों में व्याख्यानदाताओं-का-सा भावावेश भी है। इनकी भाषा बड़ी ओजमयी है। साहित्यिकता और निजीपन का योग करने वाले लेखकों में राबर्ट लुई स्टीवेनसन् (१८५०-१८९४) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह रोग-ग्रस्त रहता था किन्तु उसने केवल भौतिक जीवन की अपेक्षा जीवन का अनुभव प्राप्त करने को अधिक महत्त्व दिया है। वर्तमान युग के निबन्धकारों में जी० के० चेस्टरटन (१८७४-१९३६) तथा एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६) आदि प्रमुख हैं। अंग्रेजी भाषा में निबन्ध-साहित्य पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका है और प्रमुख लेखकों की भी नामावली उपस्थित करना कठिन कार्य हो जायगा। वर्तमानकालीन निबन्धों में जीवन से तथा प्रकृति से सम्पर्क बढ़ता जाता है आजकल के निबन्धकार लक्षणा-व्यञ्जना के सहारे विवेचनशील द्रष्टा की भाँति जीवन की आलोचना करते हैं। उनमें उपदेशात्मकता का अभाव और सुखद निष्प्रयोजनता रहती है। साथ ही छिछला मनोरंजन भी उनका लक्ष्य नहीं है। गम्भीर विषयों को एक मनोरम आकर्षण के साथ उपस्थापित करने में ही निबन्ध-लेखक की चरम सफलता है।

हिन्दी-साहित्य में निबन्ध

यद्यपि संस्कृत और प्राकृत में निबन्ध और प्रबन्ध शब्दों का प्रयोग चिरकाल से

नोट—अंग्रेज लेखकों की जो तिथियाँ दी गई हैं वे ईसवी सनों में हैं।

मिलता है तथापि जिस अर्थ में आजकल इन शब्दों का प्रयोग हो रहा है उस अर्थ में पहले कभी न था। संस्कृत में गद्य का अभाव तो न था किन्तु उसका प्रयोग या तो दार्शनिक भाष्यों में था या कादम्बरी, दशकुमारचरित् आदि कथा-ग्रन्थों में। केवल एक ही विषय अथवा विषय के किसी अङ्ग-विशेष या पक्ष को ही लेकर जो छोटे-छोटे ग्रन्थ रचे गए उनको हम निबन्धों के पूर्वज कह सकते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य का 'शृंगार रस-मण्डन' अथवा गंग कवि का 'चंद-छंद-वर्णन की महिमा' इसी कोटि के ग्रन्थ कहे जायँगे। प्रबन्ध शब्द रामायण जैसे ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्वयं गोस्वामी जी ने अपने रामचरितमानस को निबन्ध कहा है—'भाषा निबन्धमति मञ्जुल-मातनोति' प्राचीन काल के इन शब्दों में संगठन, क्रम-बद्धता और तारतम्य का भाव अधिक था।

प्राचीन साहित्य में प्रबन्ध

नाटकों की भाँति निबन्धों का भी आविर्भाव हरिश्चन्द्र-युग में ही हुआ। अंग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी में भी समाचार-पत्रों (जैसे 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'ब्राह्मण', 'सार सुधानिधि' आदि) के उदय के साथ निबन्धों का प्रचार हुआ। छोटे-छोटे लेख या निबन्ध समाचार-पत्रों के एक आवश्यक अंग हो जाते हैं। निबन्ध-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास में हम प्रायः पत्रकारों को ही अग्रगण्य पाते हैं, जैसे—'हिन्दी-प्रदीप' के पं० बालकृष्ण भट्ट (जन्म सं० १६०१), 'कवि-वचन-सुधा' और 'आनन्द-कादम्बिनी' के पं० बदरीनारायण चौधरी (जन्म सं० १६१२), 'ब्राह्मण' के पं० प्रतापनारायण मिश्र (जन्म सं० १६१३), कालाकाँकर से निकलने वाले 'हिन्दुस्तान' के श्री बालमुकुन्द गुप्त (जन्म सं० १६१२), 'सुदर्शन' के पं० माधवप्रसाद मिश्र (जन्म सं० १६२७) 'सरस्वती' के प० महावीरप्रसाद द्विवेदी (जन्म सं० १६१७) सम्पादक थे। लेख या निबन्ध स्वतःपूर्ण रचना होते हुए भी इतनी बड़ी रचना नहीं होती कि एक या दो ही पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो जायँ, इनकी छोटी पुस्तिकाएँ अवश्य बन सकती हैं। समाचार-पत्र उनका स्फुट रूप से प्रकाशन कर लेखक को उनके पुस्तक रूप में संग्रहीत होने की प्रतीक्षा से बचा देते हैं।

निबन्धों का विकास

मोटे तौर से हम निबन्ध-साहित्य के इतिहास को तीन काल या युगों में बाँट सकते हैं—

(१) भारतेन्दु-युग
(२) द्विवेदी-युग
(३) आधुनिक युग या शुक्ल-युग

इस सम्बन्ध में यह न भूलना चाहिए कि इस प्रकार का विभाजन केवल सुविधा

के लिए किया गया है। न तो सभी लेखक युग-निर्माताओं के पीछे चलते हैं और न एक प्रवृत्ति किसी निश्चित काल तक ही चलती है। लेखक भी काल या युग की सीमा से नहीं बँधते हैं। बहुत से लेखकों ने द्विवेदी-युग में अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश किया था और अद्यावधि उनकी लेखनी समय के गति के साथ कदम मिलाये हुए चल रही है।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युग गद्य का प्रारम्भिक काल था इसलिए इस युग में गाम्भीर्य की अपेक्षा मनोरंजन और चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक है किन्तु यह चमत्कार-प्रदर्शन कोरी तड़क-भड़क न थी, उसमें चटपटेपन के साथ पौष्टिकता भी थी। भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के पीछे राजनीतिक और सामाजिक सुधार की भावना भी निहित थी। ये लोग नितान्त उपोगितावादी भी थे। इस काल के निबन्धों में एक विशेष सजीवता और ज़िन्दादिली के दर्शन होते हैं। उन दिनों पद्य की भाषा का तो परिमार्जन हुआ ही किन्तु गद्य की भाषा को व्याकरण की कठोर शृङ्खलाओं में बाँध रखने की अपेक्षा अपनी स्वच्छन्द गति से बढ़ने देने की ओर अधिक प्रवृत्ति रही। यह गद्य का शैशवकाल अथवा लालन-काल था। शिक्षणकाल द्विवेदी-युग में आया।

भारतेन्दु-युग में निबन्ध-साहित्य का उदय किसी बाहरी प्रेरणा से नहीं हुआ वरन् उसका जन्म परिस्थिति की आवश्यकताओं में हृदय की उमंग से हुआ। उस युग का निबन्ध-साहित्य वाणी का विलास था अवश्य किन्तु उसका सम्बन्ध तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से था। उसमें निर्वैयक्तिकता न थी। कहीं-कहीं तो उनकी स्वच्छन्दता और वैयक्तिकता दोष की सीमा तक पहुँच गई थी। वैयक्तिकता का अर्थ केवल इतना ही है कि उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप भरपूर थी किन्तु वे व्यक्ति-सम्बन्धी न थे। निबन्ध-साहित्य के प्रारम्भिक युग के लेखकों में स्वयं भारतेन्दु जी के अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवासदास, पं० केशवराम भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी और बा० बालमुकुन्द गुप्त हैं। इन लेखकों की वैसे तो अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं किन्तु ज़िन्दादिली समाज-सुधार और देशभक्ति उस युग के व्यापक गुण थे। राजनीति और समाज-सुधार की कटु-से-कटु बातें हास्य-व्यंग्य के सहारे अपेक्षाकृत कम आपत्तिजनक बन जाती हैं। उस काल के लेखकों ने इन साधनों का बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया। इनमें श्लेष, कहावतों, मुहावरों आदि की भरमार रहती थी। इनमें एक विशेष प्रकार का फक्कड़पन रहता था जो कभी-कभी उद्दण्डता का तटस्पर्शी बन जाता था। उस काल में कुछ गम्भीर लेख भी लिखे गये थे।

द्विवेदी-युग

यह युग भाषा के परिमार्जन का था। हरिश्चन्द्र-युग में वृद्धि और फैलाव था। द्विवेदी-युग में साहित्योद्यान की साज-सम्हाल आई। लालन के पश्चात् शिक्षा और ताड़न का समय आया। भाषा के शुद्ध और व्याकरण-सम्मत होने पर द्विवेदी जी ने अधिक ज़ोर दिया। उनके समय में निबन्ध का विषय समाज, राजनीति तथा चटपटेपन में सीमित न रहा। द्विवेदीजी के समय में उपयोगिता के साथ ज्ञान-विस्तार की ओर भी प्रवृत्ति आई और उनकी प्रेरणा से ऐतिहासिक पुरातत्व-सम्बन्धी एवं आलोचनात्मक लेख लिखे गए। दूसरी भाषाओं से गम्भीर विषयों के निबन्धों का (अंग्रेजी में बेकन के) 'बेकन-विचार रत्नावली' नाम से आचार्य द्विवेदी जी द्वारा तथा मराठी से चिपलूणकर के 'निबन्धमाला-दर्श' में संग्रहीत निबन्धों का पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा अनुवाद हुआ। उससे साहित्य की श्रीवृद्धि हुई और कुछ विचारशीलता जाग्रत हुई किन्तु वह कबीर के शब्दों में 'झूठी पत्तल' चाटने की ही बात रही।

द्विवेदी जी (सं० १९२७-१९९५) के वात्सल्यमय प्रोत्साहन के कारण बहुत से नये लेखक भी प्रकाश में आये और कुछ लोगों ने नवजागरण की चहल-पहल में स्वयं ही लिखना शुरू कर दिया। स्वय द्विवेदीजी के अतिरिक्त उस समय के लेखकों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रशेखर शर्मा गुलेरी, बा० गोपाल-राम गहमरी, बा० व्रजनन्दनसहाय, पं० पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह प्रभृति प्रमुख हैं। यद्यपि बा० श्यामसुन्दरदासजी तथा पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भी द्विवेदीजी के समय में लिखना प्रारम्भ किया था तथापि वे उनके ऋणी न थे और स्वयं ही प्रभाव के केन्द्र थे। गम्भीर विषयों को सरल बनाने में बाबूजी बड़े सिद्धहस्त थे। उनके विषय प्रायः साहित्यिक और सांस्कृतिक रहे। बाबू जी अपने पाठकों के मानसिक धरातल तक नीचे उतरने का प्रयत्न करते थे किन्तु इतना नीचे नहीं उतरते थे कि उसकी शालीनता और गौरव-गरिमा नष्ट हो जाय। मिश्रबन्धुओं ने भी उसी काल में लिखा किन्तु वे भी द्विवेदीजी के ऋणी न थे। उनके निबन्धों में शिक्षक का अह अनुचित रूप में तो नहीं था किन्तु वह सहज में परिलक्षित हो जाता है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी निबन्ध-लेखन द्विवेदी-युग में ही प्रारम्भ किया था किन्तु वह द्विवेदी जी का कृपापात्र न बन सका। इस युग के लेखकों में विचारात्मकता का प्राधान्य रहा किन्तु वह विचारात्मकता सूक्ष्मता और गहराई न प्राप्त कर सकी। इस समय के लेखकों में से कुछ (जैसे माधवप्रसाद मिश्र, व्रजनन्दन सहाय, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि) में भावात्मकता का पर्याप्त पुट रहता था किन्तु वह भावात्मकता किसी गम्भीर विचारधारा को लेकर ही चलती थी।

आधुनिक-युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९४१-१९९७) के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबन्ध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी-युग में विषय-विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतनी विश्लेषण-बुद्धि से काम लेने और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी। आचार्य शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध बेकन के निबन्धों से टक्कर ले सकते हैं और साथ ही उनमें हास्य-व्यंग्य की भी झलक दिखाई देती है जो उन्हें 'लोहे के चने' बनने से बचाये रखती है।

आचार्य शुक्लजी के गम्भीर निबन्ध 'चिन्तामणि' में संग्रहीत हैं। उनमें दो प्रकार के निबन्ध हैं, एक तो भावों के विश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाले निबन्ध जो भाव विषयक होते हुए भी भावात्मक नहीं हैं वरन् उच्चकोटि के विचारात्मक हैं, दूसरे साहित्यिक जिनमें कुछ सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' और कुछ व्यावहारिक आलोचना के हैं, जैसे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'। आचार्य शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की भी अन्विति उनकी आलोचनाओं से की जा सकती है, वे भारतीय रस-सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं और उनका सम्बन्ध जीवन-सागर के निजी अवगाहन से है। इन निबन्धों में भावों का विश्लेषण पर्याप्त मात्रा में हुआ है किन्तु जीवन से चुने हुए उपयुक्त उदाहरणों के कारण वह विश्लेषण दुरूह नहीं होने पाया है। 'लज्जा और ग्लानि' का आधार भारत की आत्मग्लानि है, 'लोभ और प्रीति' का अन्तर समझ लेने पर जायसी के रत्नसेन के प्रेम की आलोचना भली प्रकार समझी जा सकती है।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में भी 'क्षमा', 'आत्मनिर्भरता' आदि विषयों पर विवेचन हुआ है किन्तु वह शुक्ल जी-का-सा विश्लेषणात्मक न था वरन् प्रशंसात्मक और नैतिक अधिक था। इन निबन्धों की पद्धति में मनोविज्ञान का आत्म-विश्लेषण (आजकल का मनोविश्लेषण नहीं) चाहे हो किन्तु उनका लक्ष्य साहित्यिक है। इन निबन्धों के बहुत से वाक्य सूक्ति होने की क्षमता रखते हैं, जैसे—'बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है', 'श्रद्धा महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति है', 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम-विशेषोन्मुख'।

शुक्लजी के निबन्धों में विषय की प्रधानता है या व्यक्ति की; इसका निर्णय उन्होंने पाठकों पर छोड़ा है। उन निबन्धों में शैली का ही व्यक्तित्व है। विषय की ओर उनका पूरा ध्यान रहा है किन्तु उनमें मनोविज्ञान या साहित्य-शास्त्र की पुस्तक-का-सा निर्व्यक्तीकरण नहीं है। विषय पर शैली के व्यक्तित्व की छाप होने के कारण उनके लेख निबन्ध की कोटि में आते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें जो समस्याएं उठाई गई हैं वे मौलिक होने

के कारण निजी हो गई हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने भी हिन्दी-निबन्ध-साहित्य की भण्डारपूर्ति में कुछ अंशदान किया है। उसके मनोवैज्ञानिक निबन्धों का संग्रह 'मन की बातें' शीर्षक निबन्ध-संग्रह में है और अन्य निबन्ध 'मेरे निबन्ध' और 'कुछ उथले कुछ गहरे' नाम के संग्रहों में संग्रहीत हैं।

अन्य लेखक

आधुनिक युग के अन्य लेखकों में सर्वश्री डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, नलिनी मोहन सान्याल, इलाचन्द्र जोशी, जयशंकरप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', नन्ददुलारे वाजपेयी, बनारसीदास चतुर्वेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, सद्गुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्र, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, कन्हैयालाल सहल, प्रभाकर माचवे, महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह, श्री विनयमोहन शर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। इन महानुभावों के निबन्ध अधिकांश में आलोचनात्मक तथा साहित्यिक हैं। इनमें शैली का ही व्यक्तित्व है। निबन्धों में वैयक्तिकता की दृष्टि से सियारामशरण गुप्त तथा सुश्री महादेवी वर्मा के निबन्ध बहुत ऊँचा स्थान पाते हैं। साहित्य और समालोचना के अतिरिक्त आजकल के लेखकों ने, विशेषकर पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने सांस्कृतिक विषय भी लिए हैं। महाराजकुमार रघुवीरसिंह ने ऐतिहासिक विषयों को कुछ भावावेश के साथ अपनाया है। जैनेन्द्र की दृष्टि दार्शनिकता के साथ समाज की ओर गई है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'इक्का', 'नहीं' आदि चटपटे विषयों पर भी लिखा है और वे निबन्ध भारतेन्दु युग के लेखकों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। हास्य-व्यंग्य-प्रधान निबन्धों का भी अभाव नहीं है। सर्वश्री अन्नपूर्णानन्द जी, निर्मलजी, बेढब बनारसी, निराला जी, श्री शिवपूजन सहाय, गोपालप्रसाद व्यास, बरसानेलाल चतुर्वेदी आदि महानुभावों ने कहीं-कहीं शुद्ध निबन्ध-रूप में और कहीं-कहीं कुछ कथानक का आधार लेकर हास्य-प्रधान साहित्य उपस्थित किया है। श्री शिवपूजन सहायजी के 'दो घड़ी' शीर्षक संग्रह के निबन्ध विशेष रूप से साहित्यिक हास्य उपस्थित करते हैं। पं० हरिशंकर शर्मा ने भी अपने 'चिड़ियाघर' एवं 'पिंजरापोल' में हास्य व्यंग्यात्मक लेख लिखे हैं; उनकी शैली में अनुप्रासों की छटा दर्शनीय है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अन्य अंगों की भाँति समृद्ध होता जा रहा है। हमारे लेखकों की रुचि सामाजिक और राजनीतिक विषयों की अपेक्षा आलोचनात्मक निबन्धों की ओर अधिक है और इस विषय में वे कुछ गहराई तक भी पहुँचे हैं। इस गहराई के लिए हम गर्व कर सकते हैं किन्तु निबन्ध-साहित्य की सम्पन्नता के लिए हमारे लेखकों को सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक विषयों की ओर भी प्रतिभा को गतिशील करने की आवश्यकता है। सामाजिक, वैज्ञानिक और राज-

नीतिक विषयों पर लिखा अवश्य जाता है किन्तु उसमें साहित्यिकता की अपेक्षा विषय-प्रतिपादन की प्रवृत्ति अधिक है। केवल साहित्य-विषयक लेख ही साहित्यिक नहीं होते वरन् साहित्यिक ढग से लिखे हुए वैज्ञानिक लेख भी साहित्यिक हो जाते हैं।

जीवनी और आत्मकथा

मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण-केन्द्र मनुष्य है। पोप ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य है (The proper study of man is man)। सारा साहित्य ही मनुष्य का अध्ययन है किन्तु जीवनी और आत्मकथाओं में वह अध्ययन सत्य और वास्तविकता की कुछ अधिक गहरी छाप लेकर आता है। उपन्यास भी जीवनियों के रूप में लिखे गए हैं—जैसे अंग्रेजी में डिकिन्स का 'डेविड कापरफील्ड' और हिन्दी में अज्ञेय जी की लिखी हुई 'शेखर: एक जीवनी' अथवा डाक्टर हजारी प्रसाद द्वारा लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा'। उनमें उपन्यासकार की आत्मकथा का कहीं क्षीण और कहीं स्पष्ट आभास भी रहता है, फिर भी उपन्यास उपन्यास ही है। उसमें रचनात्मक कल्पना का कुछ अधिक पुट रहता है। जीवनीकार भी कल्पना का प्रयोग करता है किन्तु वह सामग्री के संयोजन और प्रकाशन की विधि में उससे काम लेता है फिर भी उसकी कल्पना वास्तविकता से सीमित रहती है। वह कल्पना के अलंकारों से अपने चरित्र-नायक की इतनी ही साज-सम्हाल कर सकता है जितनी में कि उसका आकार-प्रकार न बदलने पाये। वह उस माँ की भाँति है जो अपने बालक को नहला-धुलाकर, बाल सम्हालकर तथा धुले कपड़े पहना कर समाज में भेजती है। कपड़ों के चुनाव में वह अपनी रुचि और कल्पना से काम लेती है किन्तु वह आकृति की असलियत को बदलने वाले पाउडर-पेन्ट का (या प्राचीन भाषा में कहें तो अंगराग का) कम प्रयोग करती है। जीवनीकार (आत्मकथा-लेखक नहीं) उपन्यासकार को भाँति सर्वज्ञता का भी दावा नहीं करता है। वह द्रष्टा के रूप में रहता है। वह अपने चरित्रनायक के बहुत से रहस्यों को जानता है किन्तु फिर भी वह उसके मन की सब बातों को पूरी दृढ़ता के साथ नहीं कह सकता है। अज्ञात विषयों के सम्बन्ध में वह अनुमान ही से काम लेता है।

जीवनी और साहित्य की अन्य विधाएँ

जीवनीकार न तो उपन्यासकार ही है और न इतिहासकार ही। इतिहास में सत्य का आग्रह अवश्य रहता है किंन्तु उसमें व्यक्ति देश का अंग होकर आता है। अंगी देश ही रहता है। जीवनी में मुख्यता व्यक्ति को ही मिलती है, उसके सहारे देश अथवा किसी संस्था का इतिहास भले ही आ जाय। बहुत-सी आत्मकथाओं में हमको इतिहास के सूत्रों का अध्ययन मिल जाता है—जैसे डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी की

उपन्यास और इतिहास से भेद

आत्मकथा से नागरी प्रचारिणी-सभा का इतिहास सम्बद्ध है अथवा महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ला० लाजपतराय या डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद की जीवनियों में राजनीतिक इतिहास का हम अध्ययन कर सकते हैं। जीवनीकार अपने चरित्र नायक के विषय में अन्वेषण और अनुसंधान इतिहासज्ञ-का-सा ही करता है किन्तु जो बातें इतिहासज्ञ के लिए अनावश्यक होती हैं जीवनीकार के लिए आवश्यक हो जाती हैं। इसमें वह उपन्यासकार का साथी है। उपन्यासकार व्यक्ति की ही परवाह करता है। छोटी-छोटी बातें जैसे हँसी-मजाक, जादू टोने, भूत-प्रेत में विश्वास (जैसा डा० श्यामसुन्दरदास जी अथवा सी. वाई. चिन्तामणि को था) कपड़ों की लापरवाही या अधिक परवाह, सिगरेट या बीड़ी में किसको अधिक पसन्द करना, भाँग या अन्य नशीली वस्तुओं के प्रति मोह (जैसा आचार्य शुक्लजी को भाँग के प्रति था), कंधों का हिलाना (जैसा कभी श्रद्धेय टंडन जी करते हैं), पलकों का जल्दी-जल्दी मारना, सिर खुजलाना, तेज चलना या धीरे-धीरे चलना अथवा ग्लेडिस्टन की भाँति खम्बों को छूते हुए चलने में आनन्द लेना आदि ये सब बातें व्यक्तित्व के उद्घाटन में जीवनीकार के लिए अखबारों की प्रशंसा, यूनिवर्सिटी के पदक-पुरस्कारों तथा राजनीतिक विजय-पराजयों के बराबर ही महत्त्व रखती हैं। रविबाबू का 'नोबिल पुरस्कार' प्राप्त करना एक महत्त्व-पूर्ण घटना थी किन्तु उनके असली व्यक्तित्व की झलक उनके पास उस रुपये को शांति-निकेतन के लिए उत्सर्ग करने में मिलती है। इसी प्रकार रविबाबू ने अपनी आत्मकथा में अपने बचपन का वर्णन करते समय अपने कुर्ते में जेबें लगवाने की महत्त्वाकांक्षा का जो उल्लेख किया है वह भी बालमनोवृत्ति का परिचायक होने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता है।

जीवनी के साहित्यिक गुण

जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं वरन् चित्रण है। वह साहित्य की विधा है और उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण हैं। वह एक मनुष्य के अन्तर और बाह्य स्वरूप का (अर्थात् आपा या पर्सोनेलिटी का) कलात्मक निरूपण है। जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उससे विभिन्न पक्षों में ओत-प्रोत रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएँ और छटाएँ समन्वित हो जाती हैं उसी प्रकार जीवनीकार अपने नायक के आपे की कुंजी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है। इस सम्बन्ध में श्री रामनाथ 'सुमन' लिखते हैं—

"जीवनी की घटनाओं के विवरण का नाम जीवनी नहीं है। लेखक जहाँ नायक के जीवन में छिपे उसके विकास को, उसके व्यक्तित्व के रहस्य को, उसकी मुख्य जीवन-धारा को खोलकर पाठकों के सामने रख देता है वहाँ जीवनी-लेखन-कला

सार्थक होती है। ऊपर से मनुष्य के दिखाई पड़ने वाले रूप को दिखाकर ही जीवनी-लेखन-कला सन्तुष्ट नहीं होती, वह उस आवरण को भेदकर अन्तःस्वरूप और आन्तरिक सत्य को प्रत्यक्ष करती है।"

—हमारे नेता की दो बातों से

जीवनी की कृति में उसके चरित्रनायक का 'आपा' या उसकी स्वरूपता (Personality) उभर आती है। वह न भलाइयों को राजदरबार के कवीन्द्रों की भाँति राई को सुमेरु करके दिखाता है और न बुराइयों को चबाई लोगों की भाँति तिल का ताड़-रूप देता है। वह अनुपात का सदा ध्यान रखता है।

जीवनीकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि चन्द्रमा में कलंक हैं अवश्य किन्तु वे साधारण हैं। सहानुभूति अन्ध-भक्ति से भिन्न है। अंध-भक्ति दोषों को भी गुण समझती है, सहानुभूति दोष को दोष ही समझती है किन्तु उसके कारण दोषी की हँसी नहीं उड़ाई जाती। जीवनीकार छोटे-मोटे दोषों को **'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'** अर्थात् गुणों के समूह या बाहुल्य में (सन्निपात रोग है किन्तु उसका शाब्दिक अर्थ है अच्छी तरह इकट्ठा होना) एक दोष इसी प्रकार छिप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक। कलंक तो सूर्य में भी होता है किन्तु अधिक तेज-धारियों के दोषों की लोग कम चर्चा करते हैं। साधारण जनता गुणों की अपेक्षा दोषों को महाराज पृथु की भाँति सहस्रकर्ण होकर सुनने को तैयार रहती है और उसका, गुणों की अपेक्षा दोषों की सत्यता में भी अधिक विश्वास रहता है किन्तु लेखक को जनता की इस कमजोरी से लाभ उठाना उचित नहीं है। इसी के साथ बुराइयों को दबाना या छिपाना भी असत्य को आश्रय देना होता है। मनुष्य की कमजोरियाँ उसका गौरव नहीं तो उसके व्यक्तित्व की परिचायका हैं और वे चरित्र की यथार्थता को बनाये रखती हैं। कहा जाता है कि राजकवि टेनीसन को विक्टोरिया की जुबली के अवसर पर दिन-भर सिगरेट पीने को नहीं मिला तो उनको कहीं छिपकर पीना पड़ा, ऐसी बातें मनुष्य को देवता होने की भ्रान्ति से बचाये रखती हैं। दोषों के वर्णन में सहृदयता का पल्ला न छोड़ना चाहिए। इस दृष्टि से पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की लिखी हुई कविवर सत्यनारायण जी की जीवनी बड़ी सुन्दर है।

यद्यपि जीवनीकार मूर्तिरचक की भाँति अनुपातपूर्ण सुगठित और चमकदार जीवनी नहीं दे सकता है क्योंकि उसे सत्य का आग्रह रहता है और एक सजीव और संकुल चरित्र के उद्घाटन में अन्विति के साथ विरोध और व्याघात भी रहते हैं जिनके बिना जीवनी शायद निर्जीव हो जाय तथापि उसे अपनी कृति को ब्युरे के वैविध्य को खोये बिना ऐसा सुसंगठित रूप देना चाहिए कि उसमें थोड़े में बहुत प्रसादकता आजाय। इसके लिए स्ट्रेची का बनाया हुआ पहला गुण सदा ध्यान में रखना चाहिए कि कोई अनावश्यक

बात न आने पाये और न कोई आवश्यक बात छोड़ी जाय। (A brevity that excludes everything that is redundant and leaves nothing that is significant.)।

स्ट्रेची का बताया हुआ दूसरा गुण यह है कि लेखक को अपनी स्वतन्त्रता न खो देनी चाहिए। इस गुण के अभावात्मक रूप से हम अवगत हो चुके हैं कि लेखक को चरित्रनायक का अंध-भक्त होना वांछनीय नहीं है किन्तु अपनी स्वतन्त्रता रखने के ये अर्थ भी नहीं कि जीवनी-लेखक छिद्रान्वेषण को ही अपना ध्येय बना लें। लेखक को सदा यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसकी अपेक्षा चरित्रनायक का अधिक महत्त्व है।

कभ-कभी जीवनी-लेखक का जीवन चरित्रनायक के जीवन से इतना सम्बद्ध हो जाता है (जैसे स्वामी रामतीर्थ की अध्यापक पूर्णसिंह द्वारा लिखी हुई जीवनी में) कि चरित्रनायक की जीवनी के साथ लेखक की भी जीवनी आ जाती है किन्तु उसमें भी लेखक की अपनी गौणता न भूलनी चाहिए।

इन सब मस्तिष्क और हृदय-सम्बन्धी बौद्धिक, नैतिक और रागात्मक गुणों के साथ शैली का महत्त्व ध्यान में रखना आवश्यक है। शैली साधारण चरित्रनायक की जीवनी को भी आकर्षक बना देती है। सफल जीवनी के लिए या तो चरित्रनायक इतना महान् हो कि श्री रामचन्द्र जी की भाँति उसका चरित्र ही काव्य हो और किसी का कवि बन जाना गुप्त जी के शब्दों में 'सहज संभाव्य' हो या लेखक महान् हो जिसके पारस-स्पर्श और कलम के जादू से लोहा भी सोना हो जाय। डा० सूर्यकान्त जी शास्त्री ने पहले प्रकार के उदाहरण में बौसवेल की लिखी हुई जॉनसन की जीवनी बताई है और दूसरे प्रकार में जॉनसन द्वारा लिखी हुई सेवेज की जीवनी की ओर संकेत किया है। पहले का चरित्रनायक महान् था और दूसरे का लेखक महान् था। जहाँ पर चरित्रनायक और लेखक दोनों ही महान् हों वहाँ तो सोने में सुगन्ध की बात हो जायगी। यह बात तो टैगोर, गांधी और जवाहरलाल नेहरू के आत्मचरित्र में ही पाई जाती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जीवनी-लेखक अपने चरित्रनायक के अन्तर बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढङ्ग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखता हुआ सहृदयता, स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित्रनायक के गुणदोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्घाटन करता है।

जीवन-चरित्रों की कई विधाएँ और रूप हैं। लेखक की दृष्टि से तो जीवनी और आत्मकथा ये दोनों प्रधान रूप हैं। जीवनी कोई दूसरा आदमी लिखता है और आत्मकथा स्वयं लिखी जाती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'मालवीय जी के साथ तीस दिन' इन दोनों के बीच की चीज है। सामग्री

जीवनियों के प्रकार

सीधी मालवीयजी से ली गई है और उसको लिखा है दैनिकी के रूप में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने। उसमें तीस दिन की घटनाएँ नहीं हैं वरन् तीस दिन में कहा हुआ जीवन-वृत्त है। महामना मालवीयजी की जीवनियों में पं० सीताराम चतुर्वेदी की लिखी हुई जीवनी सबसे पूर्ण और कलात्मक है। उसमें लेखक की भक्ति-भावना जरूर झलकती है किन्तु औचित्य से बाहर नहीं हुई है। जीवनी-लेखक एक तो निरपेक्ष रूप से लिख सकता है जिसमें कि अच्छा और बुरा सब-कुछ आ जाय और पाठक अपनी-अपनी भावना के अनुकूल सामग्री का संकलन कर लें—"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।"—अथवा लेखक अपने एक निश्चित दृष्टिकोण से लिख सकता है और उसी के अनुकूल वह सामग्री को सँजोवेगा। पहले प्रकार की जीवनियों में बोसवेल की लिखी हुई डा० जॉनसन की जीवनी है और दूसरे प्रकार की जीवनियाँ बहुत-सी हैं। महात्मा गांधी, रवि ठाकुर आदि महापुरुषों की जीवनियाँ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। ऐसे थोड़े ही लेखक होते हैं जो बोसवेल की भाँति अपने व्यक्तित्व को बिलकुल भुला देते हैं।

आत्म-कथाएँ

साधारण जीवन-चरित्र से आत्मकथा में कुछ विशेषता होती है। आत्मकथा-लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है और किसी के साथ शील-संकोच आत्म-प्रकाश में रुकावट डालता है। यद्यपि सत्य के आदर्श से तो दोनों ही प्रवृत्तियाँ निन्द्य हैं तथापि अनावश्यक आत्म-विस्तार कुछ अधिक अवाञ्छनीय है। शील-संकोच के कारण पाठक को सत्य और उसके अनुकरण के लाभ से वञ्चित रखना भी वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। साधारण जीवनी-लेखक की अपेक्षा आत्मकथा-लेखक को ऊब से बचाने और अनुपात का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। उसे अपने गुणों के उद्घाटन में आत्मश्लाघा या अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने की दूषित प्रवृत्ति से बचना चाहिए। जीवनी लिखने वाले को दूसरे के दोष और आत्मकथा लिखने वाले को अपने गुण कहने में सचेत रहने की आवश्यकता है। (इसी कारण इन पंक्तियों के लेखक ने अपने आत्मकथा-सम्बन्धी निबन्धों में अपनी असफलताओं का ही उद्घाटन किया है। उस पुस्तक का नाम भी 'मेरी असफलताएँ' है।) आत्मकथाओं के सम्बन्ध में अब्राहम काउली के निम्नोल्लिखित शब्द बड़े तथ्यपूर्ण हैं—

"किसी आदमी को अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है और अगर हम अपनी तारीफ करें तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

—जवाहरलाल नेहरू लिखित 'मेरी कहानी' के अनुवाद से उद्धृत।

आत्म-कथाएँ कई रूप में हो सकती हैं—सम्बद्ध रूप में, जैसे महात्मा गांधी की

आत्मकथा या डा० श्यामसुन्दर जी की आत्म-कहानी अथवा स्फुट निबन्धों के रूप में जैसे सियारामशरण जी के 'बाल्य-स्मृति' आदि 'झूठ-सच' के कुछ लेख । निराला जी ने 'कुल्ली भाट' की जीवनी के सहारे अपनी आत्मकथा का भी कुछ अंश अव्यक्त रूप से दे दिया है किन्तु वह कहानी की कोटि में ही रहेगी । आधुनिक साम्यवादी प्रवृत्ति के अनुकूल 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेश्वर बकरिहा' भी जीवनी के विषय बन जाते हैं किन्तु इनमें कल्पना का पुट अधिक है । वास्तविक जीवन की घटनाएँ कथा के आवरण में ढक जाती हैं । महादेवी जी के 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नाम की कृतियों के लेख वास्तव में आत्मकथा और निबन्ध के बीच की विधाएँ हैं । इनमें घटना का अंश थोड़ा और उससे सम्बन्धित भाव और विचार कुछ अधिक मात्रा में हैं । इनमें आत्मकथा का भी अंश केवल इतना ही है कि जो घटनाएँ वर्णित हैं वे महादेवी जी के करुणार्द्र नेत्रों द्वारा देखी हुई हैं । डा० श्यामसुन्दरदास जी की जीवनी बड़ी समृद्ध और सुगठित है । उनकी शैली बड़ी साहित्यिक है किन्तु वे कहीं-कहीं अपने हृदय की कुण्ठाओं और कटुताओं के व्यक्त करने में कुछ व्यक्तियों (जैसे आचार्य शुक्ल जी) के प्रति अनुदार-से हो गये हैं । यात्राएँ भी आत्मकथाओं का ही रूप हैं ।

जीवनी-साहित्य

पाश्चात्य देशों में जीवनी-साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई है । यूनान में तो 'प्लूटार्क' की जीवनियाँ ईसा की पहली शताब्दी पूर्व की लिखी हुई हैं । 'प्लूटार्क' जीवनीकारों का राजा कहलाता है । पाश्चात्य देशों में जीवनी के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग भी हुए हैं, जैसे—लुडविग ने नाइल नदी की जीवनी लिखी है । हमारे यहाँ भी गंगा जी की जीवनी लिखी जाने की बातचीत थी । वह शायद अभी चरितार्थ नहीं हो सकी है । हिन्दी-जीवनी-साहित्य का आरम्भ तो 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'भक्तमाल' तथा प्रियदास जी द्वारा की हुई उसकी टीका से होता है । प्राचीनकाल में भी चरित-काव्य लिखे गए थे, जैसे—अश्वघोष का 'बुद्ध-चरित' किन्तु इनमें कवित्व कुछ अधिक था । वार्ताओं में साम्प्रदायिक महत्ता का पुट आ गया है । तुलसीदास जी के दो पद्यमय जीवन भी निकले थे किन्तु वे अब प्रामाणिक नहीं माने जाते । अकबर के समय के आगरा-निवासी जैन कवि बनारसीदास जी ने भी अपनी आत्म-कथा 'अर्द्ध कथानक' नाम से लिखी है जिसमें उन्होंने अपनी बुराइयों और कमजोरियों का निस्संकोच भाव से उद्घाटन किया है—

"भयौ बनारसिदास तन, कुष्टरूप सरबंग ।
हाड़-हाड़ उपजी व्यथा, केस रोम भुव-भंग ।।
बिस्फोटिक अगणित भये, हस्त चरन चौरंग ।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करइ न संग ।।

ऐसी असुभ दशा भई, निकट न आवै कोइ।
सासू और विवाहिता, करहिं सेव तिय दोइ ॥
जल भोजन को लेहिं सुख, देहिं आनि मुख माहिं।
ओखद ल्यावहिं अंग में, नाक मूँदि उठि जाहिं ॥"

उन्होंने आगरा में उधार तेल की कचौड़ी खाने की बात लिखी है। हरिश्चन्द्र युग में भी आत्म-कथात्मक साहित्य-सृजन का प्रयत्न हुआ था। श्री प्रतापनारायण मिश्र की आत्मकथा अधूरी ही रही किन्तु गोस्वामी जी का प्रयत्न अधिक सफल हुआ। उनकी जीवनी से मालूम होता है कि उनको अपने स्वतन्त्र विचारों के लिए कितना कष्ट उठाना पड़ा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मिलने की उनको मनाई थी क्योंकि उनके पिता जी भारतेन्दु जी को नास्तिक समझते थे। भारतेन्दु जी से मिलने के लिए वे छिपकर आधी रात को गये थे। इसके लिए उन्हें अपने दरबान को घूँस देनी पड़ी।

अब धीरे-धीरे हिन्दी का जीवनी-साहित्य बढ़ता जा रहा है। जीवनियों में हम बनारसीदास जी चतुर्वेदी द्वारा लिखी हुई पं० सत्यनारायण की जीवनी और डा० श्याम-सुन्दरदास जी की 'मेरी आत्मकहानी' का उल्लेख कर चुके हैं। श्री ब्रजरत्नदास जी का लिखा हुआ 'भारतेन्दु' जीवन-चरित ही नहीं है वरन् उसमें उनके साहित्य का विवेचन भी है। मौलिक आत्मकथाओं में श्री श्रद्धानन्द जी लिखित 'कल्याण मार्ग के पथिक' का विशेष मान है। भाई परमानन्द जी की लिखी हुई 'आप बीती' एक साहसपूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों की कहानी है। श्री वियोगी हरि की आत्म-कथा 'मेरा जीवन-प्रवाह' के नाम से निकल चुकी है और देशरत्न श्री राजेन्द्रप्रसाद जी की विस्तृत आत्मकथा सच्चे साधक की आत्मोन्नति के कण्टकाकीर्ण पथ की श्रमशील यात्रा का वर्णन है। इनके अतिरिक्त जीवनी और संस्मरण-साहित्य में श्री घनश्यामदास बिड़ला का 'बापू', श्री श्याम-नारायण कपूर का 'भारतीय वैज्ञानिक', श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'सेगाँव का सन्त' श्री गौरीशंकर चटर्जी का 'हर्षवर्द्धन', श्री रूपनारायण पाण्डेय का 'सम्राट् अशोक' आदि पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विदेशी विभूतियों में कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, मेजनी, प्रिन्स बिस्मार्क, हिटलर आदि की जीवनियाँ निकल चुकी हैं। आजकल जीवनी-साहित्य में राजनीतिक नेताओं की जीवन-कथाओं को विशेष महत्त्व मिल रहा है। श्री सुभाषचन्द्र बोस के जीवन से सम्बन्धित बहुत-सा साहित्य निकला है। मौलाना अबुल कलाम आजाद की जीवनी का भी हिन्दी अनुवाद हो चुका है। यात्रा की पुस्तकों में राहुल सांकृत्यायन के 'तिब्बत में तीन वर्ष' और 'सोवियट भूमि' तथा मौलवी महेशप्रसाद कृत 'मेरी ईरान यात्रा' आदि पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आजकल पं० बनारसीदास चतुर्वेदी संस्मरण और रेखाचित्रों की अच्छी सृष्टि कर रहे हैं। चतुर्वेदी जी के रेखाचित्र भी संस्मरण ही अधिक हैं।

पत्र-साहित्य

पत्र-साहित्य की उपयोगिता—पत्रों का स्थान एक प्रकार से आत्मकथा में ही आता है। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मकथा में व्यक्ति का इतिहास सम्बन्द्ध होता है, पत्रों में कुछ असम्बद्ध-सा रहता है। पत्र-साहित्य का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि उनके द्वारा हमको लेखक के सहज व्यक्तित्व का पता चल जाता है। उसमें हमको बने-ठने 'सजे-सजाये' मनुष्य का चित्र नहीं वरन एक चलते-फिरते मनुष्य का स्नेप-शाट (Snap-Shot) मिल जाता है. लेखक के वैयक्तिक सम्बन्ध उसके मानसिक और वाह्य संघर्ष तथा उसकी रुचि और उस पर पड़ने वाले प्रभावों का हमको पता चल जाता है। पत्रों में कभी-कभी तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक वा साहित्यिक इतिहास की झलक भी मिल जाती है। आत्मकथा की भाँति कुछ पत्रों का महत्त्व उनके विषय पर निर्भर रहता है, कुछ का शैली पर। जिन पत्रों के विषय और शैली दोनों ही महत्त्वपूर्ण हों वे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाते हैं।

पत्र व्यक्ति द्वारा लिखे जाते हैं और वे व्यक्ति के लिए ही होते हैं किन्तु वे जन-साधारण के लाभ या मनोरञ्जन की भी वस्तु हो सकते हैं। उनमें साहित्य की सब विधाओं की अपेक्षा व्यक्तित्व की झलक अधिक रहती है। पत्रों की यह विशेषता होती है कि पत्रकार उनको यह सोचकर नहीं लिखता कि वे जिन व्यक्तियों के लिए लिखे गये हैं उनके अतिरिक्त भी और कोई पढ़ेगा। उनमें प्रायः सचेतन कला का अभाव होता है (ऐसे पत्रों की दूसरी बात है जो खास तौर से छपने के लिए लिखे गए हों—जैसे सुमन जी के 'भाई के पत्र' तथा नेहरू जी के 'अपनी पुत्री के प्रति लिखे हुए पत्र') किन्तु कुछ लोग ऐसे अभ्यस्त कलाकार होते हैं कि उनके द्वारा जरा-सा प्रयत्न न होने पर भी उनके लेख कला से इस प्रकार जगमगा उठते हैं जिस प्रकार बहुत से लोग अपने घर की पोशाक में भी बहुत-सों की टाट-बाट की पोशाक से भी अधिक सुहावने लगते हैं।

पत्रों की विशेषताएँ

पत्र में भी वही बात है जो प्रत्येक साहित्य में होती है। लेखक के हृदय में कुछ कहने के लिए उत्साह होता है और वह उस उत्साह या मन के रस को अपनी वाणी द्वारा दूसरों तक संक्रमित कर देता है। एक मनुष्य अपने मित्र को अपने व्यवहार की सफाई देता है। यदि वह ईमानदार है, यदि उसकी लेखनी में कुछ बल है और वह अपनी सफाई में सफल हो जाता है तो उसके पत्र-साहित्य का रूप धारण कर लेंगे।

साधारण साहित्य और पत्र-साहित्य में केवल इस बात का अन्तर है कि साधारण साहित्य में भाव-ग्राहक के व्यक्तित्व का ध्यान नहीं रखा जाता है और न उससे कोई निज़ी सम्बन्ध होता है। साधारण साहित्य तो परिप्रेषित कर दिया जाता है, जहाँ कहीं ग्राहक

यन्त्र होगा वहाँ ग्रहण कर लिया जायगा। पत्र-लेखक को अपने भाव-ग्राहक के व्यक्तित्व और उसकी संवेदनशीलता का ध्यान रहता है, वह उसी के अनुकूल अपने पत्र को बनाता है। वहाँ एक व्यक्तित्व से टकराता है, कभी संघर्ष के लिए और कभी प्रेमपूर्ण प्रतिदान द्वारा पारस्परिक जीवन को अधिक-से-अधिक सम्पन्न बनाने के लिए। ऐसे ही पत्र साहित्य की कोटि में आ सकते हैं। सब साहित्यिकों के सभी पत्र साहित्यिक नहीं होते, लेकिन कुछ कुशल साहित्यिकों में यह विशेषता होती है कि वे जो बात कहना चाहते हैं उसको वे थोड़े-से-थोड़े शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देते हैं। उनके घरेलू या व्यावहारिक पत्रों में भी साहित्य का आनन्द आ जाता है।

वार्तालाप कुछ अनर्गल और उत्तर-प्रत्युत्तरपूर्ण बहुत लम्बा भी हो सकता है किन्तु पत्र में असीमित लम्बाई की गुञ्जाइश नहीं रहती। प्रत्युत्तर यदि होता भी है तो वह काल्पनिक रहता है। वार्तालाप में कल्पना के लिए अपेक्षाकृत कम गुञ्जाइश रहती है और बहुत-कुछ आकार-इंगित से भी स्पष्ट हो जाता है किन्तु पत्र में पाठक को बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है। पत्रों की स्थिति भी निबन्ध की भाँति मुक्तक-काव्य-की-सी होती है। वे स्वतःपूर्ण होते हैं।

यद्यपि पत्र सभी लिखते हैं तथापि उनमें थोड़ा शिल्प-विधान रहता है, चाहे उनका सचेतन प्रयोग न हो। पत्र का सबसे बड़ा टेकनीक यही है कि अपने पाठक पर दूर बैठे हुए भी उसके द्वारा उतना ही प्रभाव पड़ सके जितना कि सामने वार्तालाप करने पर पड़ता है। बात को थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक स्पष्टता देना पत्र की सबसे बड़ी माँग है। पत्रों में कुछ लोग तो अपना सारा व्यक्तित्व उँड़ेल देना चाहते हैं और कुछ उनको निर्वैयक्तिक तथा रंगीनी से खाली रखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में भी मध्यम मार्ग का अनुसरण श्रेयस्कर है।

वास्तव में पत्रों में विषयानुकूल वैयक्तिकता की श्रेणियाँ रहती हैं। जो पत्र केवल ज्ञान देने के लिए लिखे जाते हैं उनमें केवल उतना ही व्यक्तित्व रहता है जितना कि निबन्धों में किन्तु जिन पत्रों में लोग आपबीती का वर्णन करते हैं उनमें व्यक्ति की मानसिक प्रतिक्रिया की मात्रा कुछ अधिक होती है। जहाँ लेखक आत्म-निवेदन करता है अथवा अपनी सफाई देता है वहाँ व्यक्तित्व की मात्रा पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

पत्र-साहित्य के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या बिलकुल निजी पत्र जिनसे वैयक्तिक रहस्यों का, चाहे वे लेखक के हों और चाहे दूसरों के, प्रकाशित किये जायँ या नहीं। लेखक के अतिरिक्त जिन पत्रों में दूसरे के रहस्यों का उद्घाटन हो और जिनके कारण उनको समाज में लज्जित होना पड़े, छापना उचित नहीं है। लेखक के रहस्यों के उद्घाटन करने वाले पत्रों को उसके जीवन-काल में न छाप

कर उसकी मृत्यु के पश्चात् छाप सकते हैं; विशेषकर जब कि लेखक के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता हो या उनमें साहित्यिकता हो। बहुत से पत्र गद्य-काव्य की कोटि में आ जाते हैं। जब लेखक के वैयक्तिक भावनाओं से पूर्ण गीतों को प्रकाशित कर दिया जाता है तो ऐसे पत्रों के प्रकाशन में भी विशेष हानि नहीं किन्तु उसमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—पहली बात तो यह कि उन पत्रों से जिन व्यक्तियों के नाम हों उनके नाम न दिए जायँ; दूसरी बात यह है कि वे पत्र कुरुचि के प्रचारक न हों। अंग्रेजी कवि कीट्स (Keats) के निजी पत्रों के सम्बन्ध में जो उसने फेनी ब्राउने (Fanny Brawne) को लिखे थे, बड़ा विवाद रहा। उनके सम्बन्ध में आर्नोल्ड (Arnold) महोदय ने लिखा है कि उसमें इन्द्रियलोलुप पुरुष बोलता हुआ सुनाई पड़ता है और वह इन्द्रियलोलुपता बिना शिक्षा-दीक्षा की है। एक दूसरे महाशय कहते हैं कि ऐसे पत्रों में दूसरे के निजी और छोटे-छोटे मामलों में कनसुइया लेने (Eaves Droping) की बात आ जाती है। इसके प्रतिपक्ष में एक तीसरे महोदय लिखते हैं कि जो कीट्स के प्रेम को नहीं समझ सकता वह उसके काव्य को नहीं समझ सकता। वास्तव में पत्रों के चुनाव में हमको पत्रों का उतना ही अंश देना चाहिए जिससे कि व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़े, कुरुचि का प्रचार न हो और दूसरों को किसी प्रकार लज्जित न होना पड़े।

हिन्दी में साहित्य की इस विद्या की बहुत न्यूनता है। यह बात नहीं है कि हिन्दी लिखने वाले हृदयहीन होते हैं अथवा दुनिया में उनका किसी से सम्बन्ध नहीं होता है।

हिन्दी में पत्र-साहित्य

वे पत्र लिखना भी जानते हैं किन्तु हमारे यहाँ के प्रकाशकों और संग्रहकर्ताओं ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। कुछ लोगों के यहाँ, जैसे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के पास पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का, पं० माखनलाल चतुर्वेदी के पास स्वयं अपने पत्रों का अच्छा संग्रह है किन्तु आलस्यवश वे उन्हें संसार के आलोक से वञ्चित रखते हैं (हर्ष की बात है कि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी तथा पं० हरिशंकर शर्मा के सम्पादकत्व में पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र प्रकाशित हो गये हैं)। उर्दू और अँग्रेजी में एक-एक लेखक के पत्रों के कई-कई ग्रन्थ मौजूद हैं।

अभी जो थोड़ा-बहुत पत्र-साहित्य मिलता है वह प्रायः नगण्य है, फिर भी उसका उल्लेख आवश्यक है। एक-दो उपन्यास, जैसे उग्रजी के 'चन्द हसीनों के खतूत' पत्रों में लिखे गए हैं। अभी तक के प्रकाशित साहित्य में महात्मा गान्धी के पत्र, पं० जवाहरलाल नेहरू के पत्रों का अनुवाद, डा० धीरेन्द्र वर्मा के पत्र, भदन्त आनन्द कौशल्यायन जी लिखित 'भिक्षु के पत्र' तथा सुमन जी के 'भाई के पत्र' आदि दो-चार इनी-गिनी पुस्तकें उल्लेखयोग्य हैं। सुमन जी के पत्रों में भारत की नारी-समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला गया है किन्तु वे वास्तव में निबन्ध हैं, उनका ऊपरी आकार पत्रों का है।

श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर के लिखे हुए 'पत्नी के पत्र' यद्यपि नारी-जीवन की समस्याओं से ओत-प्रोत हैं तथापि उनमें पत्रों का निजीपन है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के पत्र भी प्रकाशित हो गए हैं किन्तु उनमें हृदय के स्पन्दन की अपेक्षा व्यवहार की स्पष्टता अधिक है। प्रभाकर माचवे द्वारा सम्पादित 'जैनेन्द्र जी के विचार' नाम की पुस्तक में जैनेन्द्र जी के कुछ साहित्यिक पत्र आंशिक रूप में प्रकाशित हुए हैं।

गद्य-काव्य

यद्यपि काव्य के विस्तृत अर्थ में गद्य और पद्य दोनों का ही स्थान है और उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध आदि भी उसके अन्तर्गत माने जाते हैं तथापि जिसको आजकल पारिभाषिक रूप में गद्य-काव्य कहते हैं वह एक प्रकार की विशिष्ट रचना है। गद्य-काव्य साधारणतया भावात्मक निबन्धों के अन्तर्गत माने जाते हैं किन्तु साहित्य की इन दोनों विधाओं में कुछ अंतर है। दोनों में भावनाओं का प्राधान्य तो अवश्य है किन्तु भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्रधान्य होने के कारण वह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृंखला के सहारे इधर-उधर भटक भी सकता है किन्तु गद्य-काव्य एक निश्चित ध्येय की ओर जाता है, उसमें इधर-उधर विचरण की गुञ्जाइश कम रहती है।

गद्य-काव्य की भाषा गद्य की होती है किन्तु भाव प्रगीत काव्यों-के-से। गद्य के शरीर में पद्य-की-सी आत्मा बोलती हुई दिखाई देती है। भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरस और सङ्गीतमय होता है। गद्य-काव्य में रूपकों और अन्योक्तियों का प्राधान्य रहता है। इसमें कहानी की भाँति एक ही संवेदना रहती है किन्तु जहाँ वह प्रलाप-शैली का अनुकरण करता है वहाँ अन्विति का अभाव भी भावातिरेक का द्योतक होता है।

गद्य-काव्य के अतिरिक्त कुछ गद्य-गीत भी लिखे गए हैं। उनमें साधारण गद्य-काव्य की अपेक्षा गति और लय कुछ अधिक होती है और पंक्तियों का विन्यास भी कुछ-कुछ गीतों-का-सा होता है, अपेक्षाकृत आकार भी छोटा होता है।

गद्य-काव्य की परम्परा प्रायः वेदों से चलती है। उपनिषदों में भी रहस्यवादात्मक कवित्वपूर्ण गद्य के दर्शन होते हैं, देखिए **'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तोन वाह्यं किञ्चन वेदनान्तरं एवमेवायं पुरुषः अज्ञानेनात्मना परिष्वक्तोन न वाह्यं किञ्चन वेदनान्तरं तद्वा अस्य एतदात्मकामं अकामं रूपम्'** अर्थात् जिस प्रिया स्त्री के आलिङ्गन में पुरुष न वाह्य का और न अन्तर का ज्ञान रखता है उसी प्रकार यह पुरुष अज्ञान-रूप आत्मा से संपरिष्वक्त (आलिङ्गित) होकर न बाहर का अनुभव करता है और न भीतर का

क्योंकि उसको उससे एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है जिसको प्राप्त कर उसे कोई और लक्ष्य प्राप्त करना नहीं रह जाता है, वह आप्त काम हो जाता है।

—(बृहदारण्यक ४, ३, २१)

अँग्रेजी में वाल्ट विटमैन की कविता गद्य-गीतों के ही रूप में हैं। रवीन्द्र बाबू की गीताञ्जलि के अँग्रेजी गद्य-गीत भी इसी प्रकार के हैं और उन्होंने सफलतापूर्वक यह प्रमाणित कर दिया है कि गद्य में भी पद्य-का-सा प्रवाह और गति लाई जा सकती है। गद्य के सुन्दर और सरस बनाने की इच्छा लेखकों के हृदय में बहुत काल से थी। इस काल में जब कि पद्य छन्द के बन्धनों से मुक्त होने लगा, काव्य का आत्मा के अनुकूल गद्य के शरीर को सुरम्य बनाने की रुचि और भी बढ़ गई। वैसे तो संस्कृत के गद्य में भी कविता-की-सी अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ था किन्तु गीताञ्जलि के प्रकाशित हो जाने और नोबिल पुरस्कार से पुरस्कृत होने से साहित्यिकों को इस दिशा में प्रयास करने की विशेष उत्तेजना मिली। गीताञ्जलि के बहुत से छायानुवाद निकले और बहुत से मौलिक गद्य-काव्य भी लिखे गए। इनके विषय अधिकतर रहस्यमय भाव रहे हैं। अन्य विषय भी (स्वदेश-प्रेम) जो गद्य-काव्य में लिखे गए उनमें विचार की अपेक्षा भावों का प्राधान्य रहा किन्तु उसमें चिन्तन का प्रभाव नहीं रहा है। वह चिंतन शुष्क दार्शनिक-का-सा नहीं है, वह भावना के रस से स्निग्ध बन गया है। गद्य-काव्यों में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। लौकिक प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष पुष्ट हुए हैं। स्वदेश-प्रेम से सम्बन्धित गद्य-काव्य में वीर रस के भी दर्शन मिलते हैं।

हिन्दी में स्फुट से तो बहुत गद्य-काव्य निकले (अब उनका चलन अपेक्षाकृत कम हो गया है) किन्तु फिर भी उसके विस्तार की कमी नहीं है। किन्तु इस क्षेत्र में विशेष ख्याति राय कृष्णदास, श्री वियोगी हरि, श्री चतुरसेन शास्त्री और श्री दिनेशनन्दिनी डालमिया ने प्राप्त की है। रायकृष्णदास की 'साधना', 'छाया पथ', 'प्रवाल', आदि पुस्तकों ने साहित्य की इस विधा की विशेष श्रीवृद्धि की है। श्री वियोगी हरि ने 'अन्तर्नाद' और 'भावना' नाम के दो गद्य-काव्य ग्रन्थ लिखे। इन दोनों गद्य-काव्यकारों की शैली में अन्तर है। वियोगी जी की भावावेशमयी भाषा जहाँ निर्झर-गति से चलती है वहीं राय कृष्णदास जी की भाषा शान्त, स्निग्ध और प्रवाहमय है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के भाव-प्रधान लेख 'अंतरतल' में संग्रहीत हैं। इनकी भाषा अधिक व्यावहारिक और गतिशील है। 'अंतस्तल' के गद्य-काव्यों में कुछ वैयक्तिकता अधिक है और रहस्य के अतिरिक्त उनमें सामयिक विषय भी हैं।

दिनेशनन्दिनी डालमिया के गद्य-काव्यों में राय कृष्णदास-की-सी ही शान्त उपासना है किन्तु उसमें स्त्रियोचित आत्म-समर्पण की भावना कुछ अधिक है। उन्होंने भी

साधारण घरेलू रूपकों द्वारा विश्व के अंतस्तल में निवास करने वाले अव्यक्त आलम्बन के प्रति रहस्यमयी प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति की है। 'शबनम' और 'मौलिक माल' इनके गद्य-गीत संग्रह हैं।

श्री अज्ञेय जी ने अपने 'अग्रदूत' और 'चिंता' नाम के संग्रहों में कुछ भाव-प्रधान और कुछ चिंतन-प्रधान गीत लिखे हैं। उन्होंने नारी और पुरुष के सम्बन्धों का अच्छा विवेचन किया है किन्तु उसमें पुरुषों के दृष्टिकोण को प्रधानता मिली है। जब तूलिका पुरुष के ही हाथ थी तब ऐसा होना स्वाभाविक था।

महाराज कुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के भावात्मक निबन्ध भी गद्य-काव्य की कोटि में आते हैं। उन्होंने इतिहास की खूँटियों पर भावों की मालाएँ सँजोई हैं।

रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' के गद्य काव्यात्मक लेख 'शुभ्रा' और 'पूजा' में निकले हैं। उनमें धार्मिक और नैतिकता का पुट अधिक है। उनकी भावनाओं में भी काव्यत्व का समावेश है।

रेखाचित्र भी गद्य-काव्य में मिलती-जुलती एक विधा है। इसमें वर्णन का प्राधान्य रहता है किन्तु ये वर्णन प्रायः संस्मरणों से सम्बद्ध रहते हैं। इनमें सजीव पात्रों के बाहरी

रेखाचित्र और संस्मरण

आपे के साथ चरित्र का भी चित्रण रहता है किन्तु चरित्र-प्रधान कहानियों की अपेक्षा ये अधिक वास्तविकता पर निर्भर रहते हैं। इनके रचने में कल्पना का अवश्य काम पड़ता है किन्तु इनके विषय काल्पनिक नहीं होते हैं। ये सजीव और निर्जीव दोनों ही तरह के व्यक्तियों और वस्तुओं के होते हैं। इन रेखाचित्रों में लेखक के दृष्टिकोण को कुछ अधिक मुख्यता मिलती है। (यद्यपि वह उस वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में दूसरों का भी दृष्टिकोण व्यक्त कर देता है) जो काम चित्रकार अपनी तूलिका से करता है वह रेखा-चित्रकार शब्दों से करता है। वह व्यक्ति या वस्तु को दूसरों के लिए आकर्षक बना देता है। हिन्दी में इस का बाहुल्य नहीं तो अभाव भी नहीं है। पं० पद्मसिंह शर्मा के कुछ रेखाचित्र 'पद्मपराग' में संग्रहीत हैं। पं० श्रीराम शर्मा ने भी कुछ अच्छे रेखाचित्र अंकित किये हैं जो 'बोलती प्रतिमा' में संग्रहीत हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी की 'मिट्टी की मूरतें' उनकी कला के जादू से बड़ी सजीव हो गई हैं। उन्होंने प्रायः उपेक्षित लोगों के ही चित्र अंकित किए हैं। बुधिया, बलदेवसिंह, बैजू मामा, रूपा की आजी, सुभानखाँ आदि इनके चरित्रनायक हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने भी अपने नाई का 'मेरे नापिताचार्य' शीर्षक से एक रेखाचित्र लिखा है। जब निर्जीव पदार्थों में एक व्यक्तित्व आ जाता है तब सजीव पदार्थों का कहना ही क्या? पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने अधिकांश में ख्यातिप्राप्त लोगों के रेखाचित्र खींचे हैं। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त जी के 'पीपल' 'खंडहर', 'मिट्टी के पुतले' आदि रेखाचित्र बड़े कलापूर्ण हैं। इनके

रेखाचित्र दो पुस्तकों में 'रेखाचित्र और पुरानी स्मृतियाँ' और 'नये स्कैच' में संग्रहीत हैं। चतुर्वेदी जी के रेखाचित्र अधिकांश में संस्मरण मिश्रित हैं।

संस्मरण भी रेखाचित्र की भाँति व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं। जहाँ रेखाचित्र वर्णनात्मक अधिक होते हैं संस्मरण विवरणात्मक अधिक होते हैं। संस्मरण जीवनी-साहित्य के अंतर्गत आते हैं। वे प्रायः घटनात्मक होते हैं किन्तु वे घटनाएँ सत्य होती हैं और साथ ही चरित्र की परिचायक भी। उनके थोड़ा चटपटेपन का भी आकर्षण रहता है। संस्मरण चरित्र के किसी एक पहलू की झाँकी देते हैं किन्तु रेखाचित्र व्यक्ति के व्यापक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। उनमें व्यक्ति का भीतरी और बाहरी आपा या स्वरूपता कुछ स्पष्ट रेखाओं में व्यक्त हो जाती है। उसमें कुछ-कुछ व्यंग्य चित्रकार की-सी प्रवृत्ति रहती है। उसमें व्यक्ति की प्रवृत्तिगत विशेषताएँ कुछ बढ़ा-चढ़ाकर दिखाई जाती हैं जिससे वे सहज में आकर्षण का विषय बन सकें। रेखाचित्र जितना सत्य के निकट हो उतना ही अच्छा है। उसमें थोड़ी अतिरञ्जना विनोद की सामग्री अवश्य उपस्थित कर देती है किन्तु विनोद चुटीला न होना चाहिए। रेखाचित्र में भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श पालन करना पडता है।

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज गद्य की एक साहित्यिक विधा है जो धीरे-धीरे पाश्चात्य प्रभाव से यहाँ प्रचार में आ रही है या जिसकी चर्चा होने लगी है। यह शब्द फ्रांसीसी भाषा से आया है। इसका सम्बन्ध अँग्रेजी शब्द रिपोर्ट से है किन्तु यह सरकारी या अखबारी रिपोर्टों से सर्वथा भिन्न है। रिपोर्ट की भाँति वह घटना या घटनाओं का वर्णन तो अवश्य होता है किन्तु इसमें लेखक के हृदय का निजी उत्साह रहता है, जो वस्तुगत सत्य पर बिना किसी प्रकार का आवरण डाले उसको प्रभावमय बना देता है। इसमें लेखक छोटी-छोटी घटनाओं को देकर पाठक के मन पर एक सामूहिक प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। इनका सम्बन्ध वर्तमान से होता है। ये घटनाएँ कल्पनाप्रसूत नहीं होती हैं। इन घटनाओं के वर्णन द्वारा वह चरित्र को भी प्रकाश में ले आता है। इसका लेखक घटनास्थल पर उपस्थित होता है और वह प्रायः आँखों देखी बातें ही लिखता है। वह कलम का शूर तो होता ही है साथ ही चन्दबरदाई की भाँति साहसी तथा वीर भी होता है।

समालोचना

जिस प्रकार कवि संसार से उत्पन्न अपनी भावात्मक और रिपोर्ताज ऐसे विषयों पर जो जन-हृदय को सहज में प्रभावित करते हैं, लिखे जाते हैं। 'बंगाल का अकाल', भारत के विभाजन के पश्चात् यातायात में जो यातनाएँ हुई, काश्मीर का हमला आदि इस विधा

के विषय हैं। रिपोर्ताज का साहित्य सोवियत प्रभाव में अधिक रचा गया है, इसीलिए प्रगतिशील लेखकों में जैसे, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे यह विधा अधिक लोकप्रिय हुई है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि और लोग इस विधा को अपनावें। रेडियो रिपोर्ट से जन्माष्टमी महोत्सव का, राष्ट्रपति की सवारी आदि का वर्णन प्रायः इसी रूप में होता है।

यहाँ पर श्री मलखानसिंह द्वारा लिखित 'अन्तिम मोर्चा' शीर्षक रिपोर्ताज से एक उद्धरण उदाहरणार्थ 'हंस' से दिया जाता है। इससे स्वतन्त्रता से ग्राम में हिन्दू-मुसलमानों की फूट और फलस्वरूप विभाजन का वर्णन साथ ही राष्ट्रीय सरकार द्वारा की हुई सर्वहारा वर्ग की उपेक्षा और पूँजीपतियों के पोषण की भी कुछ अतिरंजित कथा है। किन्तु इसका प्रवाह और इसकी शैली इस विधा की विशेषता की परिचायक है।

"किन्तु साम्राज्यवाद के चतुर सचिव ने राष्ट्रीयता की इसी कमजोरी का फायदा उठाया और रातों-रात उसने आकर उसकी सेनाओं को एक दूसरे के विरुद्ध भड़का दिया।

"जब कि शत्रु का अन्तिम मोर्चा भर ही तोड़ने को शेष रहा था, राष्ट्रीयता की सेनाएँ एक दूसरे की तरफ मुड़ पड़ीं। एक भाई दूसरे भाई के ख़ून से अपनी शक्ति को तोलना चाहता था। दुश्मन के शीश पर बिजली की तरह कौंधकर लपकने वाली शमशीर एक दूसरे की गर्दन पर चलना चाहती थी। असहाय बन्दिनी माता के सामने ही उसके दो समर्थ पुत्र आपस में भिड़कर मिटना चाहते थे। आह! उस दासी माँ ने अपनी ग़ुलामी के कितने वर्ष, मास और दिन बेटों के जवान होने तक गिन-गिनकर काटे थे; लेकिन ......

"वह अभागिनी अधिक न देख सकी; एक दर्दनाक चीख के साथ वह बेहोश हो गयी। हिमालय के सिर पर जैसे वज्र टूट पड़ा। वह दोनों हाथों से उसे पकड़े कराहकर झुक गया। विंध्य और नीलगिरि उठती हुई हिचकियों को रोकने का भीम प्रयत्न करने लगे। गंगा का कलनाद करुण-क्रन्दन में परिवर्तित हो गया।

"एक क्षण के लिए राष्ट्रीयता स्तम्भित हो गयी। वह इस आत्मसंहार को रोकने में असमर्थ एवं किंकर्तव्य-विमूढ़ थी। देश का दुर्भाग्य अट्टहास कर उठा।

"अब साम्राज्यवाद की चढ़ बनी थी। वह अपनी शर्तों पर राष्ट्रीयता की सन्धि करने को मजबूर करने जा रहा था। आहत अभिमान से उसकी निगाह नीची हो गयी। वह अस्सी करोड़ भुजाओं का अपमान था; ऐसा अपमान जिससे शहीदों की आत्माएँ भी तड़पकर बोल उठी थीं, अभागे भारत! विवश होकर कितनी बार तूने अपमान का कड़वा घूँट नहीं पिया और अब इतने बलिदानों के बाद भी कब तक पिये जायेगा। बोल, सदियों के बन्दी, बोल!

"इसके उत्तर में ही जैसे आसमान में बादलों के दल गरज उठे हों, इन्क़लाब ज़िन्दाबाद ! हिन्दुस्तान हो आज़ाद !!

"साम्राज्यवाद के पैरों-तले की धरती खिसक गयी । राष्ट्रीयता ने चिहुँककर देखा जैसे बेगवान् मारुत के हाथों में तीन झंडे एक साथ लहराते हुए इस अपमान को रोकने को आगे बढ़े चले आते हों । वे तीन झंडे थे, तिरंगा, हरा और लाल और उनके नीचे भूख और बेकारी के नेतृत्व में अपार शोषित मानवता बढ़ती चली आ रही थी ।"

आलोचक के अपेक्षित गुण :

जिस प्रकार कवि संसार से उत्पन्न अपनी भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया को प्रकाश में लाता है और अपने पाठकों को अपने हृदय के रस में मग्न करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार आलोचक कवि की कृति से जाग्रत अपनी प्रतिक्रियाओं को, चाहे उनका शास्त्रीय आधार हो और चाहे उनकी सूझ-बूझ, गहरी पैंठ और वैयक्तिक रुचि का, प्रकाश में लाकर दूसरों को अपने भावों और विचारों से अवगत करा देना चाहता है । वह वास्तव में ग्रन्थकर्ता और पाटक के बीच मध्यस्थ या दुभाषिया का काम करता है । उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व रहता है । एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वास-पात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है । कवि की भाँति वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही होता है । लोक-व्यवहार तथा शास्त्र (जिसमें काव्य-शास्त्र अथवा समालोचना-शास्त्र भी सम्मिलित है) का ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन जैसे कवि के लिए अपेक्षित हैं उसी प्रकार समालोचक के लिए भी । इन बातों के अतिरिक्त आलोचक के लिए कवि या लेखक के प्रति सहृदयतापूर्ण ईमानदारी और अपनी बात को सत्य का निर्वाह करते हुए सुरुचिपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक ढंग से दूसरों तक पहुँचाने की कला भी आवश्यक है । इस प्रकार कुशल आलोचक के हाथ में आलोचना भी रचनात्मक कला-कृति का रूप धारण कर लेती है ।

आलोचना का मूल्य

समालोचना केवल आलोचकों की वाणी का विलास-मात्र नहीं है वरन् उसका मूल्य साहित्य और समाज दोनों के लिए है । आलोचक किसी कवि की कृति के गुण-दोषों के विवेचन तथा उसकी व्याख्या के अतिरिक्त उसका सामाजिक मूल्य देखता है । आलोचक के लिए यह प्रश्न बड़े महत्त्व का हो जाता है कि कवि या लेखक की रचना से सामाजिक आदर्शों में कहाँ तक उथल-पुथल होगी और वह समाज को उन्नति के मार्ग में ले जाने में कहाँ तक और किस रूप में सहायक होगी । आलोचक मूल्य-सम्बन्धी आलोचना कर साहित्य और समाज के सम्बन्ध में साहित्य स्रष्टा पर अपना प्रभाव डाले

बिना नहीं रहता। आलोचक पाठकों का ही प्रतिनिधि नहीं होता वरन् लेखकों और पाठकों दोनों का पथ-प्रदर्शक भी होता है। अच्छी आलोचनाओं द्वारा लेखक और कवि सामाजिक आदर्शों से अवगत होते रहते हैं। वे अपने आदर्शों को समाज के आदर्शों से मिलाकर जो नई दिशा प्राप्त करते हैं, उसी के अनुकूल वे अपनी कृतियों को ढालने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि कविगण निरंकुश कहे गये हैं तथापि आलोचक उन निरंकुशों के भी अंकुश बन जाते हैं। स्वस्थ और सुष्ठ आलोचनाएँ नवीन साहित्य-सृजन में भी प्रेरक होती रहती हैं। आलोचक की अनुकूल प्रतिक्रिया से कवि का उत्साह बढ़ता है और उसकी वाणी का ओज बढ़ता है।

अच्छी आलोचनाएँ केवल लेखकों के लिए ही अंकुश का काम नहीं करतीं वरन् वे सीधी तौर से भी सामाजिक आदर्शों को प्रभावित करती रहती हैं। पाठक आलोचकों के चश्मे से कृतियों का अध्ययन करने लगते हैं और उनके दिये हुए आदर्शों के अनुकूल साहित्य की माँग भी होने लगती है। इस प्रकार समालोचक भी समाज-सुधारकों के साथ एक प्रबल शक्ति का रूप धारण कर लेते हैं और सत्साहित्य की सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार शासन के आलोचक शासन को शिथिलता से बचाये रखते हैं उसी प्रकार साहित्य के आलोचक साहित्य में शिथिलता और कुत्सितता नहीं आने देते और उसकी गतिविधि निर्धारित करने में सहायक होते हैं।

हम आलोचना के प्रकारों पर इस पुस्तक के पहले भाग में (अटारहवें अध्याय में) यथोचित प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ पर उनका साक्षात् परिचय देकर उदाहरण दिये जाते हैं।

प्रकार और उदाहरण

निर्णयात्मक आलोचना—इस प्रकार की आलोचना में शास्त्रीय आधार पर काव्य के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता है और उनको उन्हीं के अनुकूल श्रेणीबद्ध भी किया जाता है।

उदाहरण—

"बसत तरंगिनी में तीर ही तरल आय
ग्रस्यो ग्राह पाय, खैंचि पानी बीच तरज्यो।
करनी कलभ करें कलपना कूल ठाढ़े
कहा भयो कहा, करुना के संग लरज्यो॥
कठिन समय विचारि साहुब सों गयो हारि
हठि पग ध्यान, रघुनाथ ज्यों ही सरज्यो।
असरन-सरन विरद की परज देख्यो
पहले गरज भई, पीछे गज गरज्यो॥"

अलंकार—कुल छन्द में मुख्य अलंकार चंचलातिशयोक्ति ही है। जिस प्रकार

से सत्कवि के काव्य में बिना उद्योग के भी और बहुत से अलंकार आजाते हैं वही बात मतिराम के इस छंद में हुई है।

गुण—प्रसाद-गुण मुख्य है। परन्तु कहीं-कहीं (जैसे द्वितीय पद में) ओज-गुण के भी सूचक पद हैं।

वृत्ति—उपर्युक्त पद्य में मधुरा और परुषा वृत्ति का मिश्रण है। इस कारण यह प्रौढ़ा वृत्ति है। इसी का नाम सात्वती वृत्ति भी है।

रस—इस छन्द में पराये दुख को दूर करने का जो उत्साह है वह स्थायी भाव है। इसका आलम्बन विभाव दुखार्त्त गजराज है। गजराज की दीनताभरी पुकार (गरज्यो) उद्दीपन विभाव है.........स्थायी भाव उत्साह है इसलिए यह वीर रस का दया वीर रस नामक रूपान्तर है ?

काव्य—कुल छन्द में वाच्य के तट से जो अर्थ लिया गया है वही प्रधान होने से यह लक्षणामूलक मध्यम काव्य है।

चिन्त्य प्रयोग—हमारी राय में 'इलाज विरचौ' प्रयोग चिन्त्य है। 'इलाज' शब्द अरबी भाषा का है। हिन्दी शब्द सागर में यह शब्द पुल्लिग माना गया है।

"दीनबन्धु निज नाम की सुलाज की" प्रयोग में 'सु' शब्द वृथा है।"

—पंडित कृष्णबिहारी मिश्र लिखित मतिराम ग्रंथावली की भूमिका से (पृष्ठ १२८, १२९)

व्याख्यात्मक आलोचना—इस प्रकार की आलोचना में आलोचक सहृदयतापूर्वक कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश कर उसके भावों को समझाने के लिए आवश्यक पृष्ठ-भूमि तैयार कर उनके हृदयङ्गम कराने में सहायक होता है। वह व्याख्याता ही नहीं वरन् स्रष्टा भी बन जाता है।

उदाहरण—प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर से स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी है—राम का अयोध्यात्याग और पथिक के रूप में बनगमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है। इसका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।

—आचार्य शुक्लकृत 'तुलसीदास' (पृष्ट ७९)

आगे चलकर शुक्लजी उपयुक्त दृश्यों में से एक-एक की सहृदयतापूर्ण व्याख्या करते हैं जिससे कि तुलसीदास जी का काव्य-कौशल पाठक पर अपने आप प्रकट हो जाता है—चित्रकूट में राम और भरत के मिलन का दृश्य लीजिए—

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है। 'भायप भगति' से भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं।

'राम-वास थल विटप विलोके, उर अनुराग रहत नहिं रोके।'

मार्ग में लोगों से पूछते जाते हैं कि राम किस बन में हैं? जो कहता है कि हम उन्हें सकुशल देख आये हैं, वह उन्हें राम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रिय-सम्बन्धी आनन्द के अनुभव की आशा देने वाला एक प्रकार से उस आनन्द का जगाने वाला है—उद्दीपन है।

—आचार्य शुक्लजी कृत 'तुलसीदास' (पृष्ठ ८०)

ऐतिहासिक आलोचना—इस प्रकार की आलोचना में कवि का मूल स्रोत ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों में खोजा जाता है। आलोचक उन वाह्य प्रभावों को व्यक्त करता है जो कवि या लेखक पर पड़ते हैं। ये प्रभाव प्रायः समय की गतिविधि का होता है।

उदाहरण—हिन्दू और मुसलमान यद्यपि अलग-अलग बने रहे, परन्तु उनमें भावों और विचारों की एकता अवश्य स्थापित हुई। दोनों ही जातियों ने अपने धार्मिक आदि विभेदों को वहीं तक बना रहने दिया जहाँ तक उनके स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए उनकी आवश्यकता थी। इसके आगे दोनों धीरे-धीरे मिलने लगे यद्यपि विजयी मुसलमान शासक अपने विजयोन्माद में धार्मिक नृशंसता के पक्के उदाहरण बन रहे थे, पर साधारण जनता उनकी-सी कठोर मनोवृत्ति धारण न कर मेल की ओर बढ़ रही थी। कबीर ने मेल की बड़ी प्रबल प्रेरणा की थी। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को यह समझाने का प्रयत्न किया था कि हमको उत्पन्न करने वाला परमेश्वर एक है, केवल नाम-भेद से अज्ञानवश हम उसे भिन्न-भिन्न समझा करते हैं। धार्मिक विवाद व्यर्थ है, सब मार्ग एक ही स्थान को जाते हैं। इस प्रकार कबीर ने परोक्ष सत्ता की एकता स्थापित की। थोड़े समय पीछे कवियों का ऐसा सम्प्रदाय भी उदय हुआ जिसने व्यावहारिक जीवन की एकता की ओर अधिक ध्यान दिया।

यह सम्प्रदाय सूफी कवियों का था जो प्रेमपन्थ को लेकर आगे चला था।

—डाक्टर श्यामसुन्दर दास जी के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' से (पृष्ठ १६५)

मनोवैज्ञानिक आलोचना—इस प्रकार की आलोचना में कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभाव से कृति का आधार देखा जाता है। ऐतिहासिक में देश की परिस्थिति के प्रभाव को महत्त्व दिया जाता है और मनोवैज्ञानिक में व्यक्ति की

आन्तरिक और उसके निजी जीवन से सम्बन्ध रखने वाली वाह्य परिस्थितियों को।

उदाहरण—हिन्दी का छायावाद अनेक प्रकार की सामाजिक कुण्ठाओं की सृष्टि है जिसमें मुख्यतम है कुण्ठित शृंगार-भावना। नगेन्द्र की रसाभिव्यक्तियों में इसी कुण्ठा का नग्नतम रूप मिलता है। इस कुण्ठा के लिए उनका अपना संकोची स्वभाव और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं।

यह कुण्ठा जितनी विवशताजन्य यानी व्यक्ति के प्रतिकूल होगी उतनी ही अधिक मन में घुमड़न पैदा करेगी और फिर वह घुमड़न उतनी ही अधिक दिवास्वप्नों की सृष्टि करेगी। 'शूल-फूल' और 'प्रवासी के गीत' दोनों में स्पष्टतः स्वीकृत रूप से छायावादी प्रेरणा है।

× × ×

'आज नरेन्द्र का दृष्टिकोण बदल गया है······परन्तु स्वभाव की मूलवृत्तियाँ सरलता से नहीं बदल सकतीं। जितना ही नरेन्द्र अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को क्षय-ग्रस्त मनोविकार समझ उसे सामाजिक हित में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न करते हैं उतना ही शायद उनका न्यूरोसिस बढ़ता जाता है।'

—विचार और अनुभूति (पृष्ठ ७६, ७७)

जिन्होंने नरेन्द्र जी को निकट से देखा है वे नगेन्द्र जी की उपर्युक्त बात की सार्थकता समझ सकेंगे।

तुलनात्मक आलोचना—इस प्रकार की आलोचनाओं में एक ही विषय के दो कवियों की व्यापक रूप से तुलना कर दोनों की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है अथवा कभी-कभी एक कवि की विभिन्न कृतियों की तुलना की जाती है। दो कवियों की व्यापक विशेषताओं की तुलना का उदाहरण श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की सामयिकी से दिया जाता है—

"प्रगतिवाद में यशपाल द्वारा भाव-सत्य का समावेश होते हुए भी लक्ष्य स्थूल है। पन्त ने स्थूल सत्य के साथ आत्मवाद (गांधीवाद) को प्रतिष्ठित कर लक्ष्य को सूक्ष्म बना दिया है। उद्वेगशील छायावादियों से जैसे महादेवी भिन्न हैं, वैसे ही उद्वेलित प्रगतिवादियों से पन्त। पन्त और महादेवी का लक्ष्य एक ही है, भिन्नता उनके वस्तु-आधार (सामाजिक चित्रपट) में है। महादेवी का चित्रपट धार्मिक है, पन्त का वैज्ञानिक। दोनों के काव्य-रस में विभेद है—महादेवी विषाद की ओर हैं, पन्त आह्लाद की ओर। वैष्णव काव्य की चिर अतृप्ति (निवृत्ति) महादेवी की अरूप चेतना है, मधुकाव्य की माधवी प्रवृत्ति में पन्त की रूप चेतना। वेदना के माध्यम

से जो असीम महादेवी के लिए करुणामय है, सौन्दर्य के माध्यम से वही पन्त के लिए सच्चिदानन्द।"

—सामयिकी (पृष्ठ २८४)

ऐसी व्यापक तुलना कभी-कभी खतरनाक भी होती है। एक ही विषय के छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन हमको पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी सतसई' तथा कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नाम की पुस्तकों में मिलता है।

प्रभावात्मक आलोचना—इसमें कवि अपने ही ऊपर पड़े हुए प्रभावों को महत्त्व देता है। वह शास्त्र का आधार नहीं लेता है वरन् अपनी रुचि को मुख्यता देता है।

उदाहरण—**'यदि सूर सूर तुलसी शशि, उडगन केशवदास' हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर उसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मन-मयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।**

—राधाचरण गोस्वामी

विकास—यद्यपि संस्कृत और हिन्दी में 'सूर सूर तुलसी शशि' जैसी सूक्तियों तथा गुण-दोष-विवेचन के सहारे स्फुट छन्दों की निर्णयात्मक आलोचना तथा टीका भाष्यों और दोहों पर कुण्डलियों आदि की व्याख्यात्मक आलोचना के उदाहरण मिलते हैं तथापि आजकल-की-सी पूरी पुस्तकों की आलोचना का श्रीगणेश पत्र-पत्रिकाओं में ही हुआ। पंडित बदरीनारायण चौधरी ने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' नाम की पत्रिका में कुछ आलोचनात्मक लेख लिखे। स्वनामधन्य आचार्य द्विवेदी जी ने अधिकांश में तो गुण-दोष-विवेचन ही किया किन्तु कुछ प्राचीन ग्रन्थों की परिचयात्मक आलोचना भी दी। मिश्रबन्धुओं ने गुण-दोष-विवेचन की पद्धति को तो जारी रखा किन्तु पाठकों का ध्यान कवियों की विषयगत और भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं की ओर भी आकर्षित किया। देव को बिहारी के ऊपर स्थान देकर एक विवाद उपस्थित कर दिया, उसी से हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना की नींव पड़ी। पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी सतसई' की भूमिका और कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नाम की पुस्तकें इसके अच्छा उदाहरण हैं।

आचार्य शुक्लजी ने जायसी, तुलसी और सूर की उत्कृष्ट व्याख्यात्मक आलोचनाएँ दीं। उन्होंने कवि का महत्त्व समझाने के लिए उससे सम्बन्धित काव्य-सिद्धान्तों को भी दिया। कवि के भावों को अपनी आलोचना के आलोक में चमका दिया। डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी तथा उनके शिष्य पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने निर्गुण का पक्ष अधिक लिया, शुक्लजी ने सगुण का लिया था। डाक्टर साहब का झुकाव ऐतिहासिक आलोचना की

और अधिक रहा।

आजकल अधिकांश अच्छी आलोचनाएँ व्याख्यात्मक, शास्त्रीय और मूल्य-सम्बन्धी समन्वयात्मक होती हैं, जिनमें भाव-पक्ष, कला-पक्ष एवं लोक-पक्ष को समान महत्त्व दिया जाता है किन्तु किन्हीं में भावुकता का पुट अधिक रहता है (जैसे शांतिप्रिय द्विवेदी में) और किन्हीं में बौद्धिकता का प्राधान्य अधिक रहता है (जैसे नन्ददुलारे वाजपेयी तथा नगेन्द्र आदि में) शास्त्रीयता का पुट व्यक्तियों में घटता-बढ़ता रहता है। शास्त्रीयता को महत्त्व देते हुए भावुकता और लोकपक्ष को यथोचित मान देने वालों में पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डाक्टर रामकुमार वर्मा, डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा, शिलीमुख, सत्येन्द्र, नगेन्द्र, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति मुख्य हैं। ये आलोचकगण प्राचीन रस-पद्धति के साथ वर्तमान शिल्प-विधान को मिलाकर कवि की कृतियों की व्याख्या करते हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बख्शी जी तथा डाक्टर रामकुमार वर्मा आदि ने सन्त-साहित्य की भावधारा का रहस्य समझने में सराहनीय कार्य किया। आजकल की आलोचना में विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। वर्तमान आलोचकों के मुख्य रूप से तीन वर्ग किए जा सकते हैं। एक वे जो भाव-सौन्दर्य के साथ कला को यथोचित मान देते हैं। ऊपर जिन आलोचकों का उल्लेख किया है वे इसी समुदाय के हैं। नगेन्द्र जी, इलाचन्द्र जोशी प्रभृति मनोवैज्ञानिकता की ओर भी गए हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने कला-पक्ष की उपेक्षा तो नहीं की किन्तु भाव-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। कुछ लोग प्रगतिवादी आधार पर भौतिक मूल्यों को अधिक महत्त्व देते हैं। प्रगतिवादी आलोचकों में श्री शिवदानसिंह, डाक्टर रामविलास शर्मा, अज्ञेय जी, भगवतशरण उपाध्याय, डाक्टर रांगेय राघव प्रभृति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा तथा उनके शिष्य-वर्ग आलोचना में खोज और इतिहास को अधिक महत्त्व देते हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने तुलसीदास पर एक खोजपूर्ण ग्रंथ लिखा है। अब तो प्रायः सभी कवियों के अध्ययन निकल गये हैं। इसी दिशा में श्रीरामरतन भटनागर ने अच्छा प्रयत्न किया है। अन्य लेखकों में सर्व श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, डाक्टर बल्देवप्रसाद मिश्र (तुलसी पर), मुन्शीराम शर्मा 'सोम' (सूर पर), पं० विनयमोहन शर्मा, प्रभाकर माचवे, शिवनाथ, डाक्टर सिद्धेश्वर वर्मा, डाक्टर हरवंशलाल शर्मा, श्री विश्म्भरनाथ उपाध्याय (निराला पन्त आदि पर) आदि प्रमुख हैं। श्री जयशङ्कर प्रसाद, सुश्री महादेवी वर्मा, डाक्टर नगेन्द्र और गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने छायावाद के सैद्धांतिक पक्ष का तथा श्री शिवदानसिंह चौहान और श्री अञ्चल प्रभृति ने प्रगतिवाद के पक्ष का उत्तम रीति से उद्घाटन किया है। डाक्टर श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' डाक्टर सूर्यकांत शास्त्री की 'साहित्य-मीमांसा', पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' तथा पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'वाङ्मयविमर्श' साहित्यालोचना के समग्र विषयों को लेकर लिखे गए हैं। सैद्धान्तिक

आलोचना को और भी स्पष्ट पुस्तकें जैसे सुधांशुजी की 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पुरुषोत्तम जी की 'आदर्श और यथार्थ' लिखी है अब डाक्टर नगेन्द्र और आचार्य विश्वेश्वर के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राचीन काव्य-शास्त्र की कुछ पुस्तकों ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति जीवित आदि के मूल्यवान् भूमिकाओं और टिप्पणियों के साथ हिन्दी अनुवाद भी निकल चुके हैं। पी. एच. डी., डी. लिट. उपाधियों के लिए कई प्रबन्ध प्रकाश में आ चुके हैं। उनसे भी आलोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। उपन्यासों पर (व्यास, श्रीवास्तव) और नाटकों पर जैसे डाक्टर सोमनाथ गुप्त की किताबें निकली हैं। आलोचना का 'साहित्य-सन्देश', 'आलोचना' जैसी मासिक पत्रिकाएँ भी इस साहित्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं।